नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

भाग

5

सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2



आगम - ४०

"आवश्यक" निर्युक्तिः एवं वृत्तिः [३]

मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

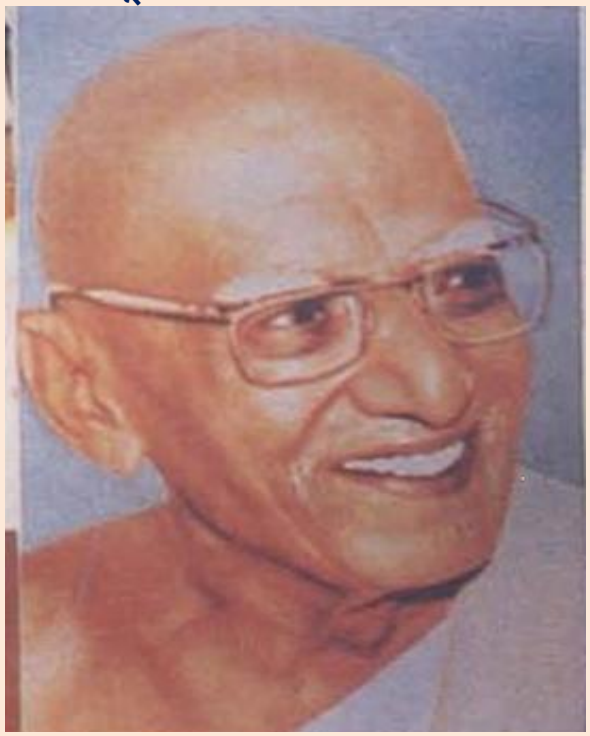
अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से

श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब



श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

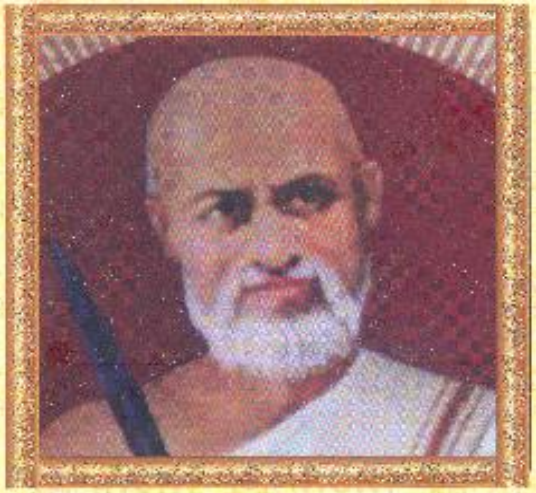
करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्वर्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू-भगवंत एवं साध्वी-महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

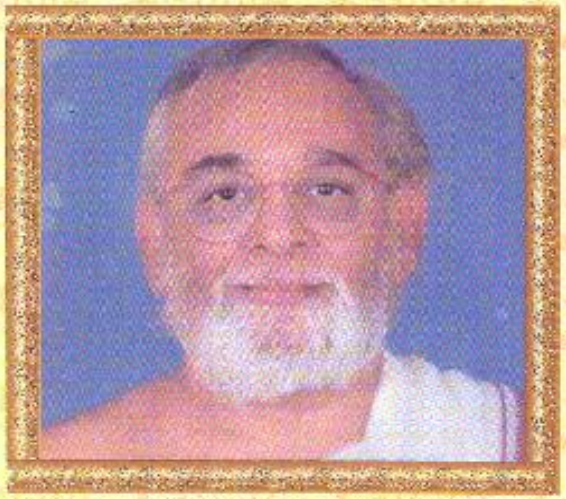
सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275



आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

सवृत्तिक
भाग-5

[४०/३] श्री आवश्यक [मूल]सूत्रम्

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरुभ्यो नमः

"आवश्यक" निर्युक्तिः एवं वृत्तिः

निर्युक्तिः ५४३ से ८२९

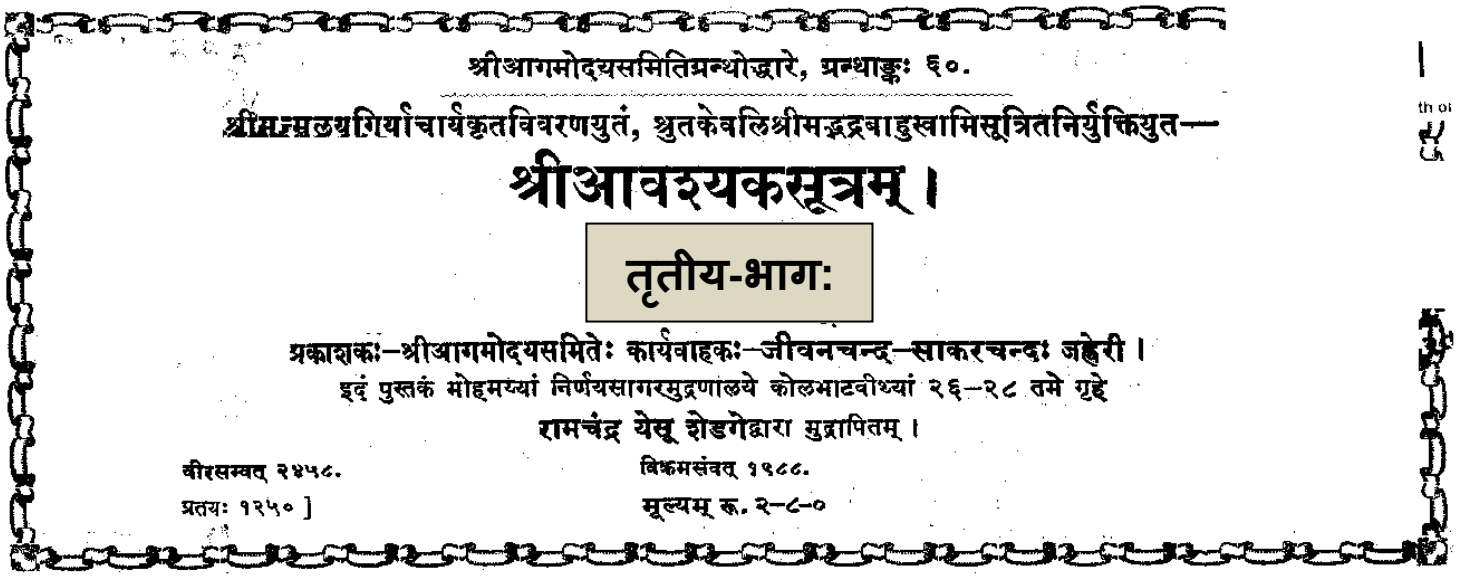
[भद्रबाहुसूरि सूत्रिता निर्युक्तिः एवं मलयगिरिसूरि रचिता वृत्तिः]

[आद्य संपादकः - पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰]

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुनः संकलनकर्ता→ **मुनि दीपरत्नसागर** (M.Com., M.Ed., Ph.D.)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि-२-श्रेणी भाग-5



श्रीआगमोदयसमितिग्रन्थोद्धारे, ग्रन्थाङ्कः ६०.

श्रीमन्मलयगिर्याचार्यकृतविवरणयुतं, श्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुस्वामिसूत्रितनिर्युक्तियुत—

श्रीआवश्यकसूत्रम् ।

तृतीय-भाग:

प्रकाशकः—श्रीआगमोदयसमितेः कार्यवाहकः—जीवनचन्द—साकरचन्दः जव्हेरी ।
इदं पुस्तकं मोहमय्यां निर्णयसागरमुद्रणालये कोलभाटवीथ्यां २६—२८ तमे गृहे
रामचंद्र येसू शेडगेद्वारा मुद्रापितम् ।
वीरसम्वत् २४५८. विक्रमसंवत् १९८८.
प्रतयः १२५०] मूल्यम् रू. २–८–०

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अव चूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ७०० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... ***.....मुनि दीपरत्नसागर...***

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण* " इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

अनुदान दाता संस्था:- "श्री परम-आनंद श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ"

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठककर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब ५० साल पहेले <u>परम पूज्य स्व. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब</u> द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेंद्रसागरसूरीजी म०सा० ही है | इस संघमें पूज्य साधू भगवंत एवं साध्वीजीओ का उपाश्रय भी है जहा हर-साल चातुर्मास करवाके श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |

**** मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" श्रेणि भाग १ से ८ के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये " सवृत्तिक-आगम-सुत्राणि-2" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई , उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे | समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रेज]पूना, शंखेश्वर, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

[आवश्यक- निर्युक्तिः एवं वृत्तिः] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

श्री भद्रभाहुस्वामिजी की निर्युक्ति पर मलयगिरिसूरिजी रचिता वृत्ति की प्रत सबसे पहले "श्री आवश्यकसूत्र" के नामसे सन १९२८ (विक्रम संवत १९८४) में आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित हुई , इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब | पूज्यपाद श्री हरिभद्रसूरिजीने भी आवश्यक-सूत्र पर एक विशाल वृत्ति की रचना कि है , जो हमारी "आगम सुत्ताणि सटीकं" एवं "सवृत्तिक आगम सूत्राणि" मे मुद्रित हुइ है |

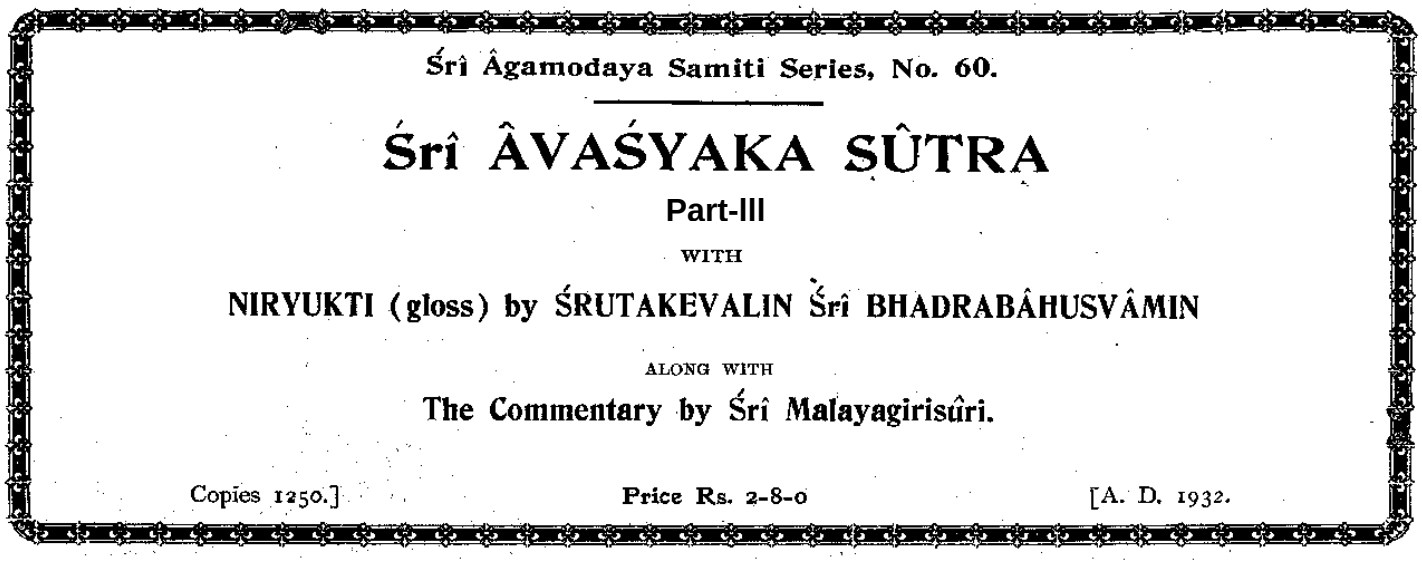
✣ हमारा ये प्रयास क्यों? ✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई , उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया , जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी , ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम , फिर अध्ययन-निर्युक्ति-भाष्य-मूलसूत्र- आदि के नंबर लिख दिए , ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, निर्युक्ति, भाष्य, सूत्र-आदि चल रहे है उसका सरलता से ज्ञान हो शके, बार्यी तरफ आगम का क्रम दिया है, उसके साथ इसी प्रत का सूत्रक्रम और 'दीप अनुक्रम' देने की हमारी पद्धत्ति है मगर यहां तो मुख्य-तौर पे निर्युक्ति और भाष्य पर हि मलयगिरिजी रचिता वृत्ति है क्यों की ये वृत्ति सिर्फ़ १- अध्ययन तक ही प्राप्त हो रही है इसिलिए बायी तरफ़ सूत्रांक और दीप-अनुक्रमवाले विभाग कि कोइ उपयोगिता नहि रही|

यहां मूल संपादक कि बनायी हुइ एक अनुक्रमणिका भी पायी गई है , जो की तिनो [चारो] विभागो की एक साथ हि है , जिसमे निर्युक्ति, भाष्य आदि के क्रम , (प्रत के) पृष्ठांक सहित लिख दिये है , जिससे अभ्यासक व्यक्ति अपने चहिते निर्युक्ति एवं भाष्य तक आसानी से पहुँच शकता है | अनेक पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट भी लिखी है , जिसमे उस पृष्ठ पर चल रहे ख़ास विषयवस्तु की , मूल प्रतमें रही हुई कोई-कोई मुद्रण-भूल की या क्रमांकन सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणासे और श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, पालडी, अमदावाद की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये "सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि_2" भाग-५ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.... मुनि दीपरत्नसागर.

मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र-[४०], मूलसूत्र-[१] "आवश्यक" निर्युक्तिः एवं मलयगिरिसूरि-रचिता वृत्तिः



Śrî Âgamodaya Samiti Series, No. 60.

Śrî ÂVAŚYAKA SÛTRA

Part-III

WITH

NIRYUKTI (gloss) by ŚRUTAKEVALIN Śrî BHADRABÂHUSVÂMIN

ALONG WITH

The Commentary by Śrî Malayagirisûri.

Copies 1250.] Price Rs. 2-8-0 [A. D. 1932.

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आवश्यकस्य मलयगिरीयाया वृत्तेर्भागत्रयस्य विषयानुक्रमः ।

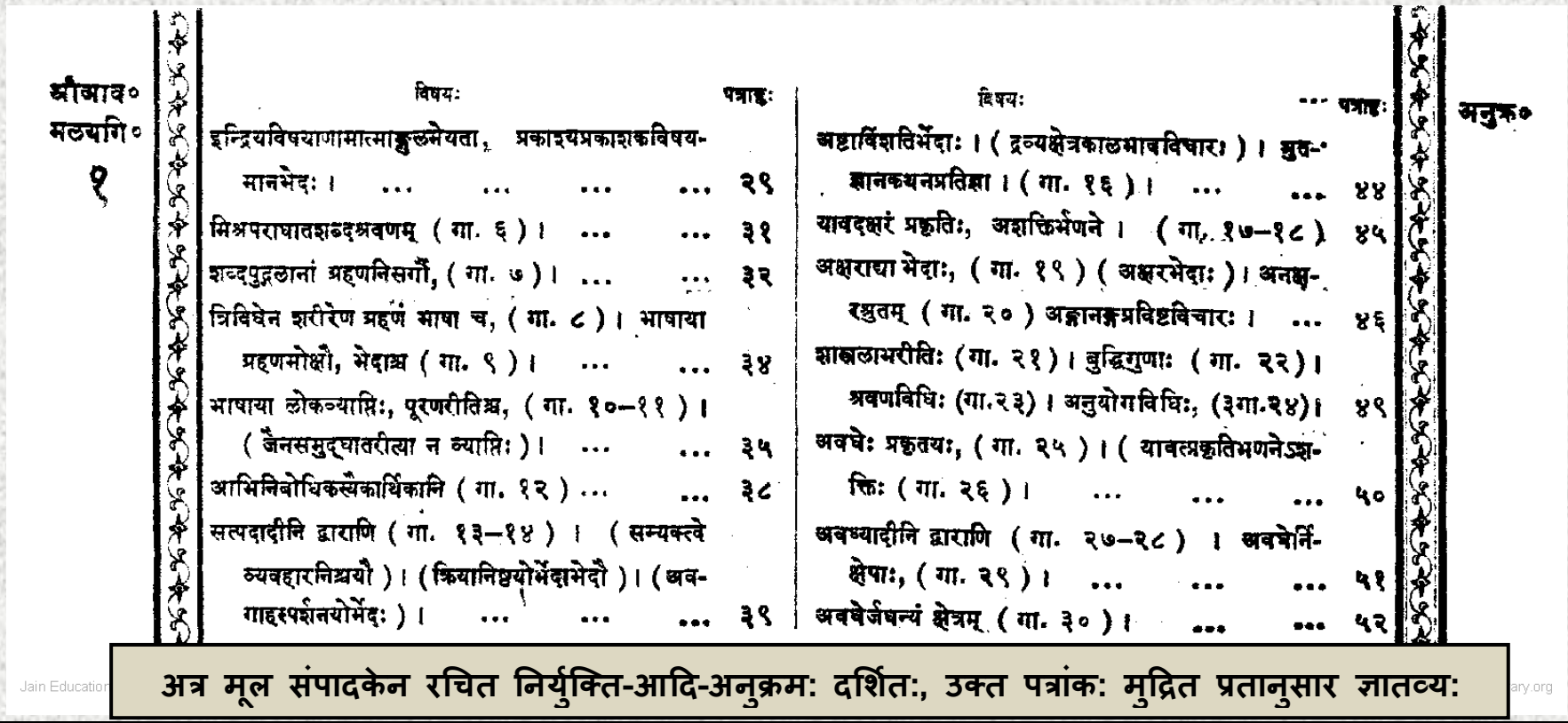
विषयः	पत्राङ्कः
प्रयोजनाद्युपन्याससाफल्यम्–(वचनप्रामाण्यम्) ...	१
मङ्गलचर्चा, नामादिलक्षणानि, द्रव्यमङ्गले नयचर्चा, मङ्गलोपयोगे मङ्गलता, नामादीनां भिन्नता, नामादेकान्तनिरासः ।	२
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकविचारः । (मल्लवादिसिद्धसेनमते) ।	१२
नन्दिनिक्षेपाः ।	१२
ज्ञानपञ्चकस्वरूपं (गा. १) प्रत्यक्षपरोक्षविभागः, आत्मनो ज्ञातृत्वं, इन्द्रियाणां करणत्वेऽपि व्यवधायकता, केवले शेषज्ञानाभावसिद्धिः ।	१३
ज्ञानपञ्चकपार्यक्यसिद्धिः ।	१७
ज्ञानपञ्चकक्रमसिद्धिः, एकेन्द्रिये श्रुतसिद्धिः, लक्षणादिभेदैर्मतिश्रुतयोर्भेदः ।	२०
अवग्रहादयो मतिभेदाः (गा. २) । (संशयादीहाया भेदः)	२२
अवग्रहादीनां स्वरूपम् । (गा. ३) व्यञ्जनावग्रहे ज्ञानं, चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारिता ।	२३
अवग्रहादीनां कालमानम् । (गा. ४) ।	२५
शब्दादीनां प्राप्ताप्राप्तबद्धस्पृष्टत्वादि (गा. ५) । (शब्दस्याप्राप्यकारितानिरासः)	२७
शब्दस्याकाशगुणत्वमपास्तम् ।	२८

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]



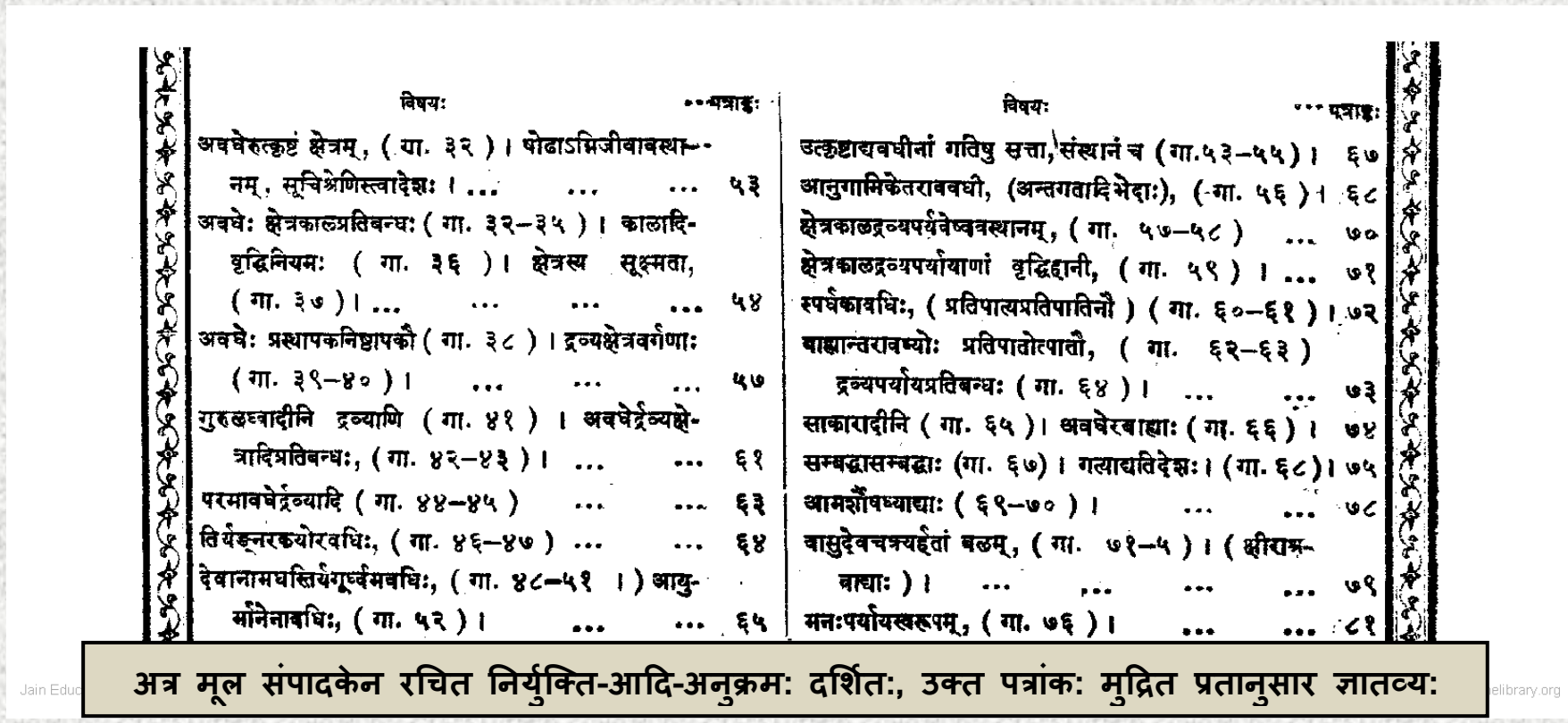
श्रीआव० मलयगि० १

विषयः	पत्राङ्कः
इन्द्रियविषयाणामात्माङ्गुलमेयता, प्रकाश्यप्रकाशकविषय-मानभेदः ।	२९
मिश्रपराघातशब्दश्रवणम् (गा. ६) ।	३१
शब्दपुद्गलानां ग्रहणनिसर्गौ, (गा. ७) ।	३२
त्रिविधेन शरीरेण ग्रहणं भाषा च, (गा. ८) । भाषाया ग्रहणमोक्षौ, भेदाश्च (गा. ९) ।	३४
भाषाया लोकव्याप्तिः, पूरणरीतिश्च, (गा. १०–११) । (जैनसमुद्घातरीत्या न व्याप्तिः) ।	३५
आभिनिबोधिकस्यैकार्थिकानि (गा. १२)	३८
सत्पदादीनि द्वाराणि (गा. १३–१४) । (सम्यक्त्वे व्यवहारनिश्चयौ) । (क्रियानिष्ठयोर्भेदाभेदौ) । (अवगाहस्पर्शनयोर्भेदः) ।	३९

विषयः	पत्राङ्कः
अष्टाविंशतिर्भेदाः । (द्रव्यक्षेत्रकालभावविचारः) । श्रुतज्ञानकथनप्रतिज्ञा । (गा. १६) ।	४४
यावदक्षरं प्रकृतिः, अशक्तिर्भणने । (गा. १७–१८)	४५
अक्षराद्या भेदाः, (गा. १९) (अक्षरभेदाः) । अनक्षरश्रुतम् (गा. २०) अङ्गानङ्गप्रविष्टविचारः । ...	४६
शास्त्रलाभरीतिः (गा. २१) । बुद्धिगुणाः (गा. २२) । श्रवणविधिः (गा.२३) । अनुयोगविधिः, (३गा.२४) ।	४९
अवधेः प्रकृतयः, (गा. २५) । (यावत्प्रकृतिभणनेऽशक्तिः (गा. २६) ।	५०
अवध्यादीनि द्वाराणि (गा. २७–२८) । अवधेर्निक्षेपाः, (गा. २९) ।	५१
अवधेर्जघन्यं क्षेत्रम् (गा. ३०) ।	५२

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

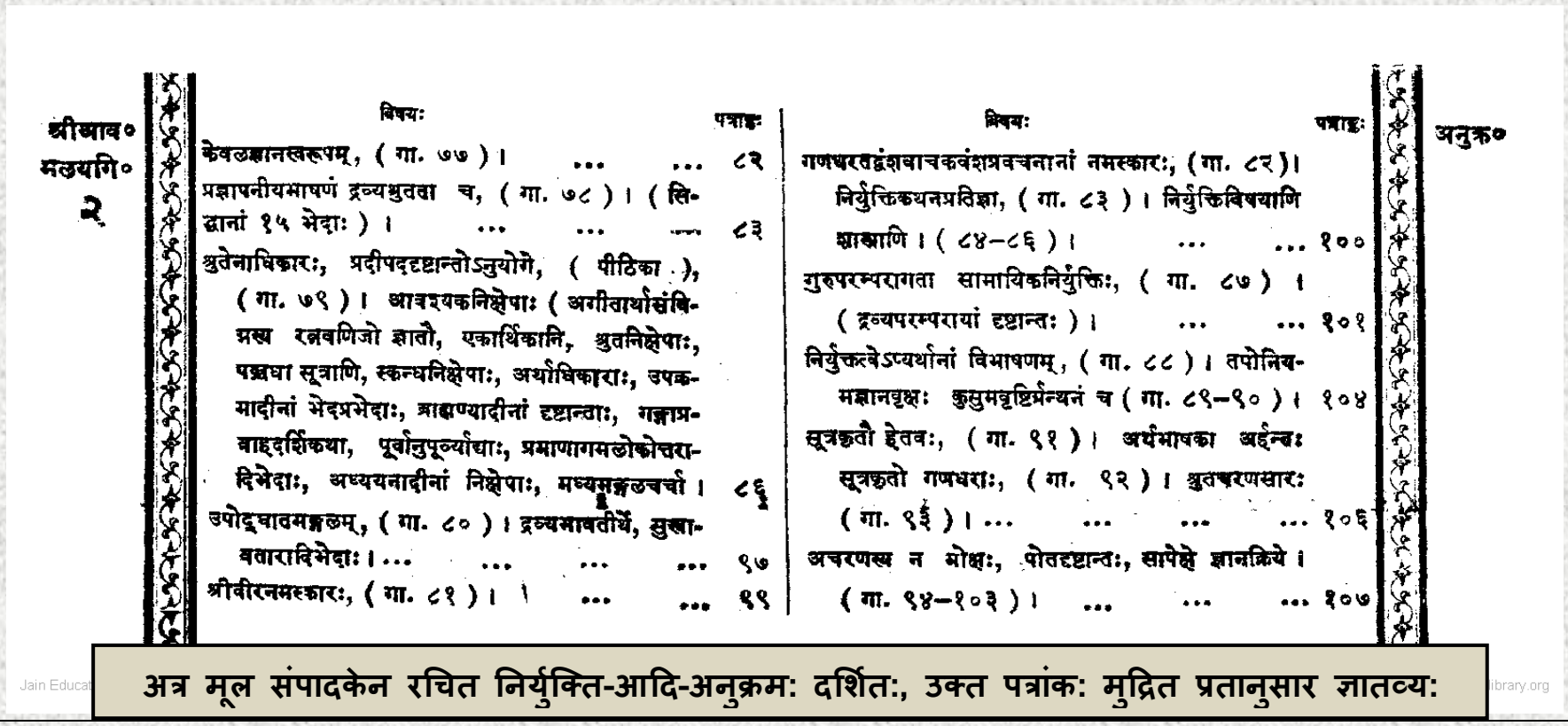


विषयः	पत्राङ्कः
अवधेरुत्कृष्टं क्षेत्रम्, (गा. ३२) । षोढाऽग्निजीवावस्था-नम्, सूचिश्रेणिस्त्वादेशः ।	५३
अवधेः क्षेत्रकालप्रतिबन्धः (गा. ३२–३५) । कालादि-वृद्धिनियमः (गा. ३६) । क्षेत्रस्य सूक्ष्मता, (गा. ३७) ।	५४
अवधेः प्रस्थापकनिष्ठापकौ (गा. ३८) । द्रव्यक्षेत्रवर्गणाः (गा. ३९–४०) ।	५७
गुरुलघ्वादीनि द्रव्याणि (गा. ४१) । अवधेर्द्रव्यक्षेत्रादिप्रतिबन्धः, (गा. ४२–४३) ।	६१
परमावधेर्द्रव्यादि (गा. ४४–४५)	६३
तिर्यङ्नरकयोरवधिः, (गा. ४६–४७)	६४
देवानामधस्तिर्यगूर्ध्वमवधिः, (गा. ४८–५१ ।) आयुर्मानेनावधिः, (गा. ५२) ।	६५

विषयः	पत्राङ्कः
उत्कृष्टाद्यवधीनां गतिषु सत्ता, संस्थानं च (गा.५३–५५) ।	६७
आनुगामिकेतरावधी, (अन्तगतादिभेदाः), (गा. ५६) ।	६८
क्षेत्रकालद्रव्यपर्यवेष्ववस्थानम्, (गा. ५७–५८) ...	७०
क्षेत्रकालद्रव्यपर्यायाणां वृद्धिहानी, (गा. ५९) । ...	७१
स्पर्धकावधिः, (प्रतिपात्यप्रतिपातिनौ) (गा. ६०–६१) ।	७२
बाह्यान्तरावधयोः प्रतिपातोत्पातौ, (गा. ६२–६३) द्रव्यपर्यायप्रतिबन्धः (गा. ६४) ।	७३
साकारादीनि (गा. ६५) । अवधेरबाह्याः (गा. ६६) ।	७४
सम्बद्धासम्बद्धाः (गा. ६७) । गत्याद्यतिदेशः । (गा. ६८) ।	७५
आमर्शौषध्याद्याः (६९–७०) ।	७८
वासुदेवचक्रार्हतां बलम्, (गा. ७१–५) । (क्षीराश्रवाद्याः) ।	७९
मनःपर्यायस्वरूपम्, (गा. ७६) ।	८१

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

Jain Edu ... elibrary.org



श्रीआव० मलयगि० २

विषयः	पत्राङ्कः
केवलज्ञानस्वरूपम्, (गा. ७७) ।	८२
प्रज्ञापनीयभाषणं द्रव्यश्रुतवा च, (गा. ७८) । (सिद्धानां १५ भेदाः) ।	८३
श्रुतेनाधिकारः, प्रदीपदृष्टान्तोऽनुयोगे, (पीठिका), (गा. ७९) । आवश्यकनिक्षेपाः (अगीतार्थसंविग्नस्य रत्नवणिजो ज्ञातौ, एकार्थिकानि, श्रुतनिक्षेपाः, पञ्चधा सूत्राणि, स्कन्धनिक्षेपाः, अर्थाधिकाराः, उपक्रमादीनां भेदप्रभेदाः, ब्राह्मण्यादीनां दृष्टान्ताः, गङ्गाप्रवाहदर्शिकथा, पूर्वानुपूर्व्यादयः, प्रमाणागमलोकोत्तरादिभेदाः, अध्ययनादीनां निक्षेपाः, मध्यमङ्गलचर्चा ।	८६
उपोद्घातमङ्गलम्, (गा. ८०) । द्रव्यभावतीर्थे, सुखावतारादिभेदाः ।	९७
श्रीवीरनमस्कारः, (गा. ८१) ।	९९

विषयः	पत्राङ्कः
गणधरतद्वंशवाचकवंशप्रवचनानां नमस्कारः, (गा. ८२) । निर्युक्तिकथनप्रतिज्ञा, (गा. ८३) । निर्युक्तिविषयाणि द्वाराणि । (८४–८६) ।	१००
गुरुपरम्परागता सामायिकनिर्युक्तिः, (गा. ८७) । (द्रव्यपरम्परायां दृष्टान्तः) ।	१०१
निर्युक्तेरप्यर्थानां विभाषणम्, (गा. ८८) । तपोनियमज्ञानवृक्षः कुसुमवृष्टिर्मन्थनं च (गा. ८९–९०) ।	१०४
सूत्रकृतौ हेतवः, (गा. ९१) । अर्थभाषका अर्हन्तः सूत्रकृतो गणधराः, (गा. ९२) । श्रुतचरणसारः (गा. ९३) ।	१०६
अचरणस्य न मोक्षः, पोतदृष्टान्तः, सापेक्षे ज्ञानक्रिये । (गा. ९४–१०३) ।	१०७

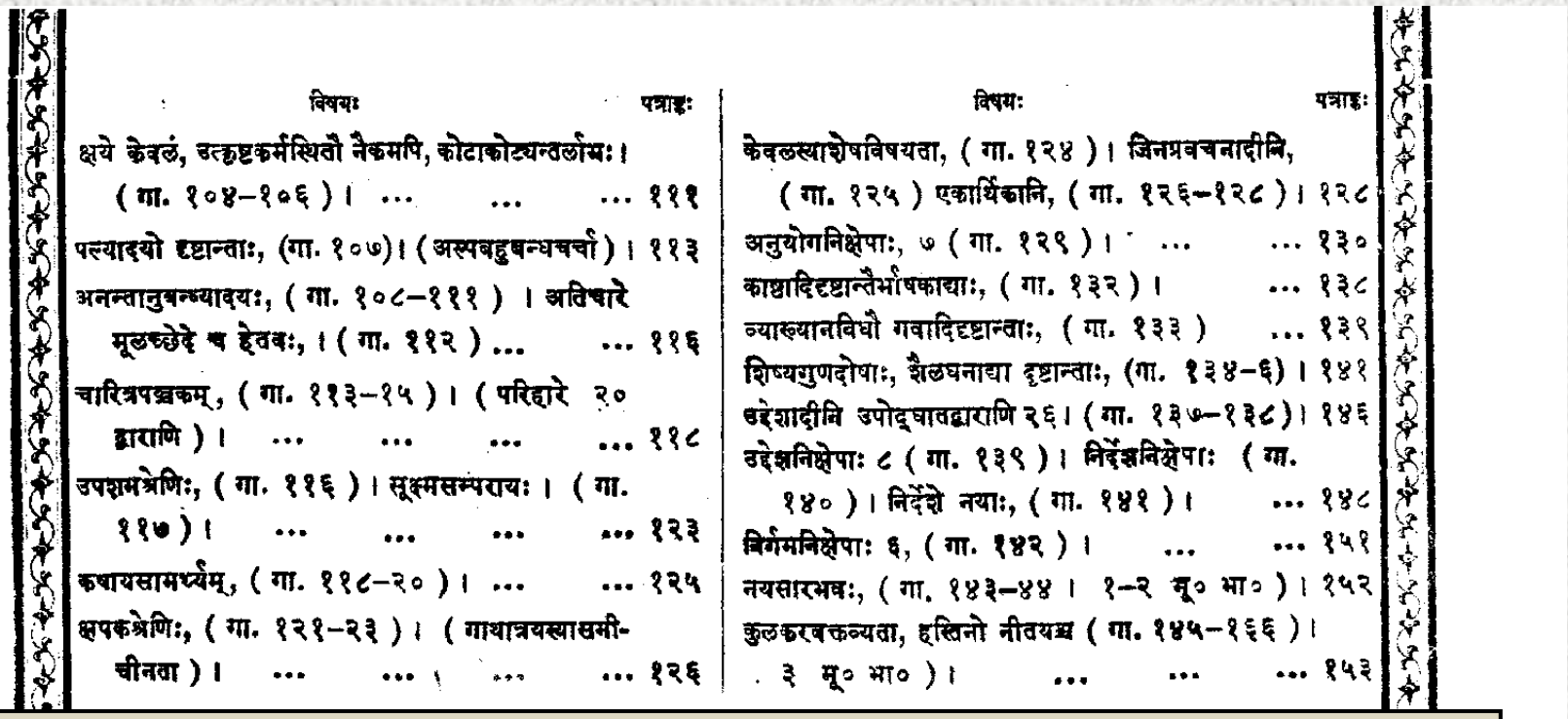
अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]



विषयः पत्राङ्कः

क्षये केवलं, उत्कृष्टकर्मस्थितौ नैकमपि, कोटाकोट्यन्तर्लाभः। (गा. १०४–१०६)। १११

पल्यादयो दृष्टान्ताः, (गा. १०७)। (अल्पबहुबन्धचर्चा)। ११३

अनन्तानुबन्ध्यादयः, (गा. १०८–१११)। अतिचारे मूलच्छेदे च हेतवः, । (गा. ११२) ११६

चारित्रपञ्चकम्, (गा. ११३–१५)। (परिहारे २० द्वाराणि)। ११८

उपशमश्रेणिः, (गा. ११६)। सूक्ष्मसम्परायः। (गा. ११७)। १२३

कषायसामर्थ्यम्, (गा. ११८–२०)। १२५

क्षपकश्रेणिः, (गा. १२१–२३)। (गाथात्रयस्यासमीचीनता)। १२६

विषयः पत्राङ्कः

केवलस्याशेषविषयता, (गा. १२४)। जिनप्रवचनादीनि, (गा. १२५) एकार्थिकानि, (गा. १२६–१२८)। १२८

अनुयोगनिक्षेपाः, ७ (गा. १२९)। १३०

काष्ठादिदृष्टान्तैर्भाषकाद्याः, (गा. १३२)। ... १३८

व्याख्यानविधौ गवादिदृष्टान्ताः, (गा. १३३) ... १३९

शिष्यगुणदोषाः, शैलघनाद्या दृष्टान्ताः, (गा. १३४–६)। १४१

उद्देशादीनि उपोद्घातद्वाराणि २६। (गा. १३७–१३८)। १४६

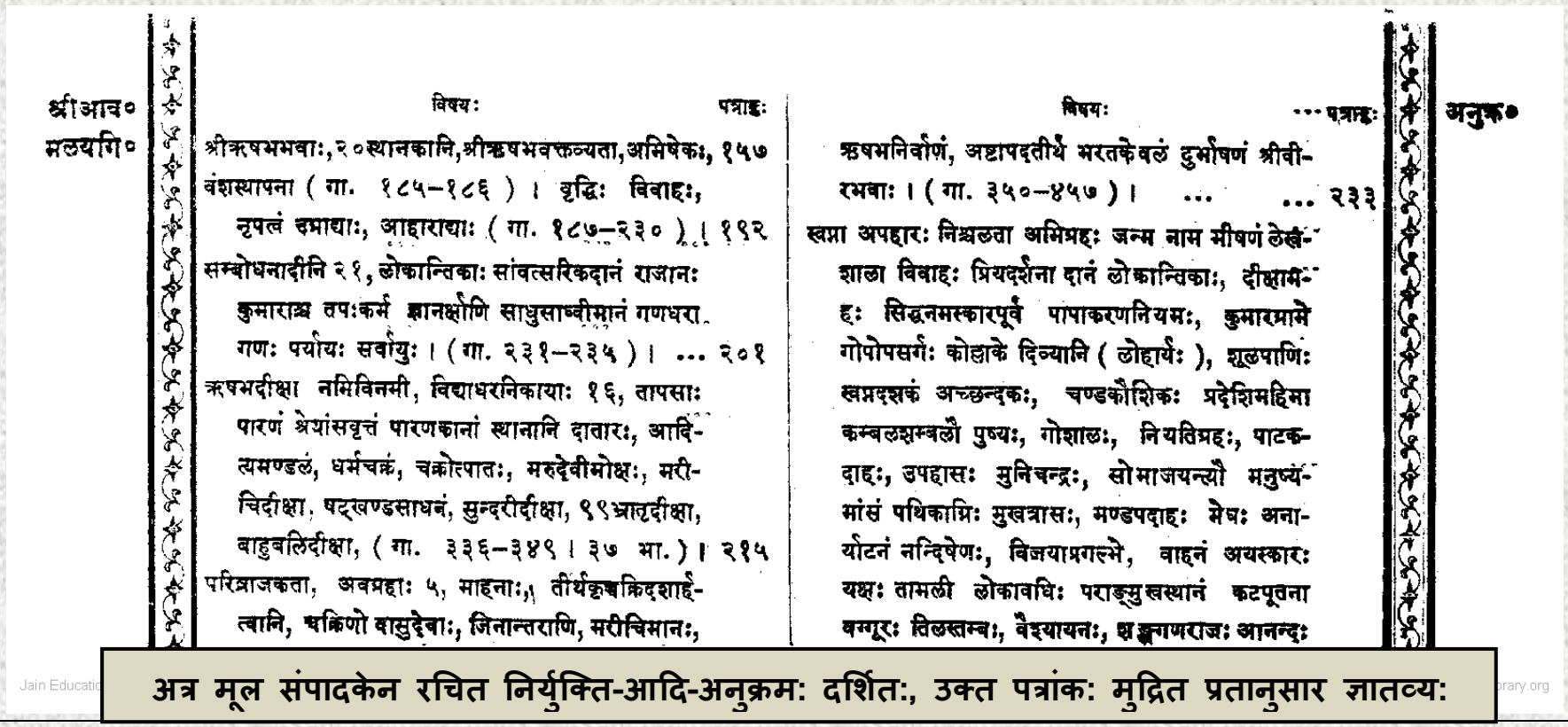
उद्देशनिक्षेपाः ८ (गा. १३९)। निर्देशनिक्षेपाः (गा. १४०)। निर्देशे नयाः, (गा. १४१)। ... १४८

निर्गमनिक्षेपाः ६, (गा. १४२)। १५१

नयसारभवः, (गा. १४३–४४। १–२ मू० भा०)। १५२

कुलकरवक्तव्यता, हस्तिनो नीतयश्च (गा. १४५–१६६)। ३ मू० भा०)। १५३

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:



श्रीआव० मलयगि०

विषयः — पत्राङ्कः

श्रीऋषभभवाः, २० स्थानकानि, श्रीऋषभवक्तव्यता, अभिषेकः, १५७
वंशस्थापना (गा. १८५–१८६) । वृद्धिः विवाहः,
नृपत्वं दण्डाद्याः, आहाराद्याः (गा. १८७–२३०) । १९२
सम्बोधनादीनि २१, लोकान्तिकाः सांवत्सरिकदानं राजानः
कुमाराश्च तपःकर्म ज्ञानक्षीणि साधुसाध्वीमानं गणधरा
गणः पर्यायः सर्वायुः । (गा. २३१–२३५) । ... २०१
ऋषभदीक्षा नमिविनमी, विद्याधरनिकायाः १६, तापसाः
पारणं श्रेयांसवृत्तं पारणकानां स्थानानि दातारः, आदि-
त्यमण्डलं, धर्मचक्रं, चक्रोत्पातः, मरुदेवीमोक्षः, मरी-
चिदीक्षा, षट्खण्डसाधनं, सुन्दरीदीक्षा, ९९भ्रातृदीक्षा,
बाहुबलिदीक्षा, (गा. ३३६–३४९ । ३७ भा.) । २१५
परिव्राजकता, अवग्रहाः ५, माहनाः, तीर्थकृच्चक्रिदशार्ह-
त्वानि, चक्रिणो वासुदेवाः, जिनान्तराणि, मरीचिभवः,

विषयः — पत्राङ्कः

ऋषभनिर्वाणं, अष्टापदतीर्थं भरतकेवलं दुर्भाषणं श्रीवी-
रभवाः । (गा. ३५०–४५७) । २३३
स्वप्ना अपहारः निश्चलता अभिग्रहः जन्म नाम भीषणं लेख-
शाला विवाहः प्रियदर्शना दानं लोकान्तिकाः, दीक्षाग्र-
हः सिद्धनमस्कारपूर्वं पापाकरणनियमः, कुमारग्रामे
गोपोपसर्गः कोल्लाके दिव्यानि (लोहार्यः), शूलपाणिः
स्वप्नदृशकं अच्छन्दकः, चण्डकौशिकः प्रदेशिमहिमा
कम्बलशम्बलौ पुष्यः, गोशालः, नियतिग्रहः, पाटक-
दाहः, उपहासः मुनिचन्द्रः, सोमाजयन्त्यौ मनुष्य-
मांसं पथिकाग्निः मुखत्रासः, मण्डपदाहः मेघः अना-
र्योटनं नन्दिषेणः, विजयाप्रगल्भे, वाहनं अयस्कारः
यक्षः तामली लोकावधिः पराङ्मुखस्थानं कटपूतना
वग्गूरः तिलस्तम्बः, वैश्यायनः, शङ्खगणराजः आनन्दः

अनुक्र०

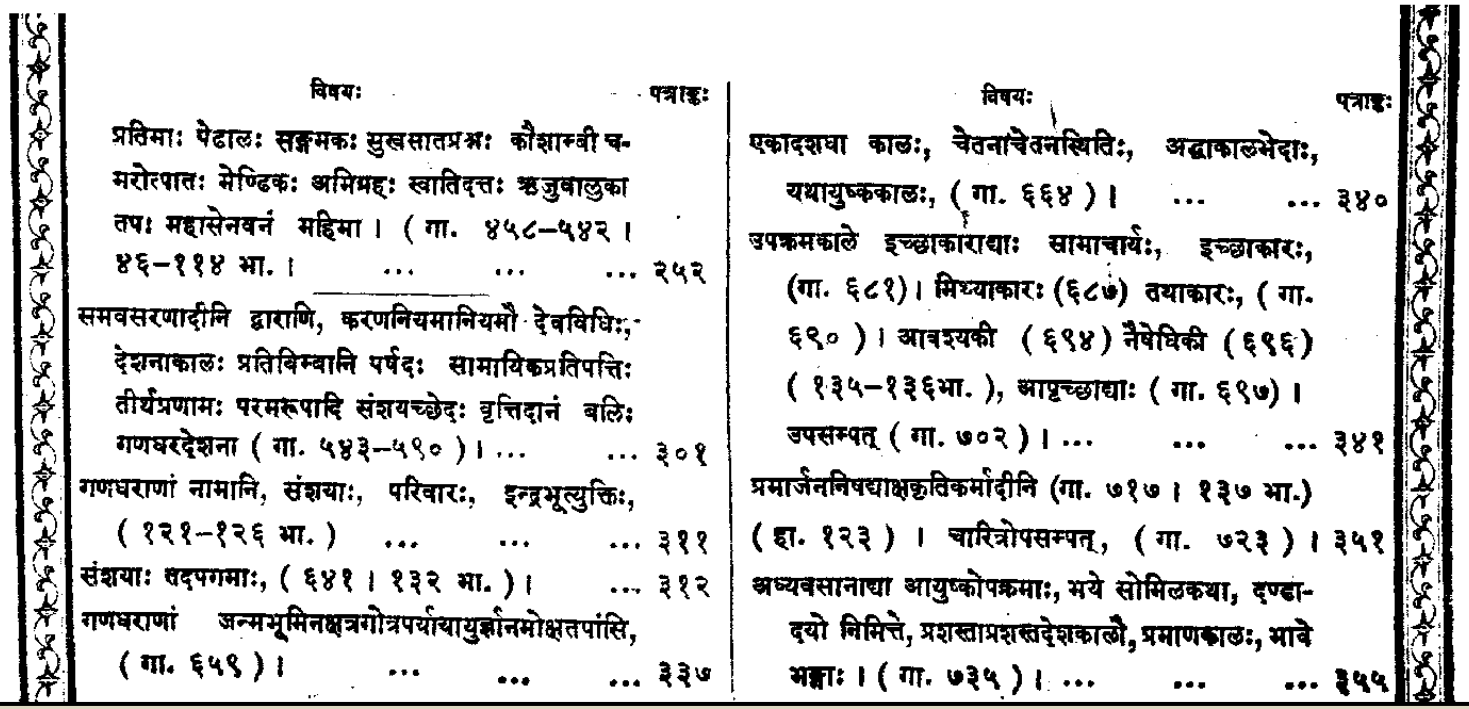
अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

Jain Educatio ... orary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



विषयः पत्राङ्कः

प्रतिमाः पेढालः सङ्गमकः सुखसातप्रश्नः कौशाम्बी च-मरोत्पातः मेण्ढिकः अभिग्रहः स्वातिदत्तः ऋजुवालुका तपः महासेनवनं महिमा । (गा. ४५८–५४२ । ४६–११४ भा. । २५२

समवसरणादीनि द्वाराणि, करणनियमानियमौ देवविधिः, देशनाकालः प्रतिविम्बानि पर्षदः सामायिकप्रतिपत्तिः तीर्थप्रणामः परमरूपादि संशयच्छेदः वृत्तिदानं बलिः गणधरदेशना (गा. ५४३–५९०) । ३०१

गणधराणां नामानि, संशयाः, परिवारः, इन्द्रभूत्युक्तिः, (१२१–१२६ भा.) ३११

संशयाः तदपगमाः, (६४१ । १३२ भा.) । ... ३१२

गणधराणां जन्मभूमिनक्षत्रगोत्रपर्यायायुर्ज्ञानमोक्षतपांसि, (गा. ६५९) । ३३७

विषयः पत्राङ्कः

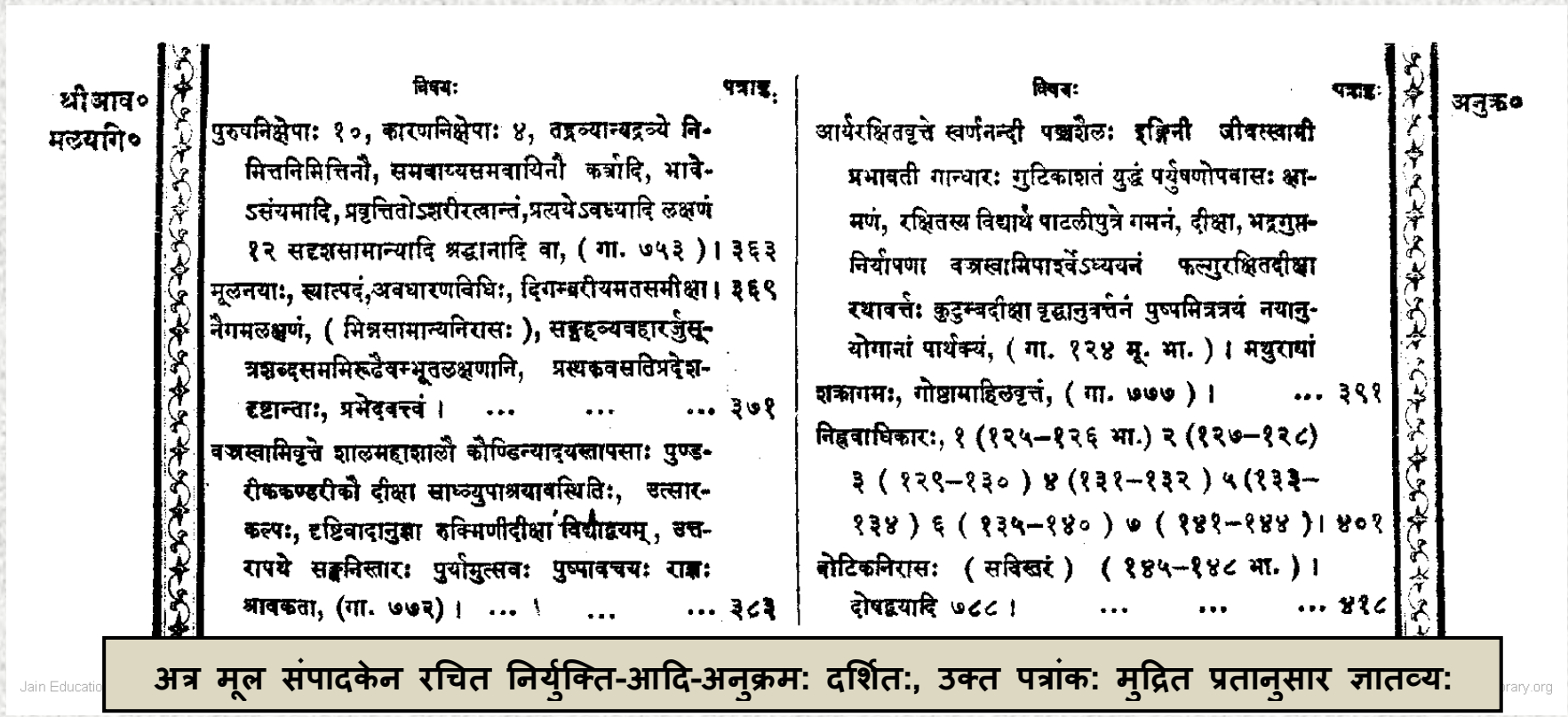
एकादशधा कालः, चेतनाचेतनस्थितिः, अद्धाकालभेदाः, यथायुष्ककालः, (गा. ६६४) । ३४०

उपक्रमकाले इच्छाकाराद्याः सामाचार्यः, इच्छाकारः, (गा. ६८१) । मिथ्याकारः (६८७) तथाकारः, (गा. ६९०) । आवश्यकी (६९४) नैषेधिकी (६९६) (१३५–१३६भा.), आपृच्छाद्याः (गा. ६९७) । उपसम्पत् (गा. ७०२) । ३४१

प्रमार्जननिषद्याक्षकृतिकर्मादीनि (गा. ७१७ । १३७ भा.) (हा. १२३) । चारित्रोपसम्पत्, (गा. ७२३) । ३५१

अध्यवसानाद्या आयुष्कोपक्रमाः, भये सोमिलकथा, दण्डादयो निमित्ते, प्रशस्ताप्रशस्तदेशकालौ, प्रमाणकालः, भावे भङ्गाः । (गा. ७३५) । ३५५

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:



श्रीआव० मलयगि०

विषयः पत्राङ्कः

पुरुषनिक्षेपाः १०, कारणनिक्षेपाः ४, तद्द्रव्यान्यद्रव्ये निमित्तनिमित्तिनौ, समवाय्यसमवायिनौ कर्त्रादि, भावेऽसंयमादि, प्रवृत्तितोऽशरीरत्वान्तं, प्रत्ययेऽवध्यादि लक्षणं १२ सदृशसामान्यादि श्रद्धानादि वा, (गा. ७५३)। ३६३
मूलनयाः, स्यात्पदं, अवधारणविधिः, दिगम्बरीयमतसमीक्षा। ३६९
नैगमलक्षणं, (भिन्नसामान्यनिरासः), सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसममिरूढैवम्भूतलक्षणानि, प्रस्थकवसतिप्रदेशदृष्टान्ताः, प्रभेदवत्त्वं । ३७१
वज्रस्वामिवृत्ते शालमहाशालौ कौण्डिन्यादयस्तापसाः पुण्डरीककण्डरीकौ दीक्षा साध्व्युपाश्रयावस्थितिः, उत्सारकल्पः, दृष्टिवादानुज्ञा रुक्मिणीदीक्षा विद्याद्वयम्, उत्तरापथे सङ्घनिस्तारः पुर्यामुत्सवः पुष्पावचयः राज्ञः श्रावकता, (गा. ७७२)। ३८३

विषयः पत्राङ्कः

आर्यरक्षितवृत्ते स्वर्णनन्दी पञ्चशैलः इङ्गिनी जीवस्वामी प्रभावती गान्धारः गुटिकाशतं युद्धं पर्युषणोपवासः श्रामणं, रक्षितस्य विद्यार्थं पाटलीपुत्रे गमनं, दीक्षा, भद्रगुप्तनिर्यापणा वज्रस्वामिपार्श्वेऽध्ययनं फल्गुरक्षितदीक्षा रथावर्त्तः कुटुम्बदीक्षा वृद्धानुवर्त्तनं पुष्पमित्रत्रयं नयानुयोगानां पार्थक्यं, (गा. १२४ मू. भा.)। मथुरायां शक्रागमः, गोष्ठामाहिलवृत्तं, (गा. ७७७)। ... ३९१
निह्नवाधिकारः, १ (१२५–१२६ भा.) २ (१२७–१२८) ३ (१२९–१३०) ४ (१३१–१३२) ५ (१३३–१३४) ६ (१३५–१४०) ७ (१४१–१४४)। ४०१
बोटिकनिरासः (सविस्तरं) (१४५–१४८ भा.)। दोषद्वयादि ७८८। ४१८

अनुक्र०

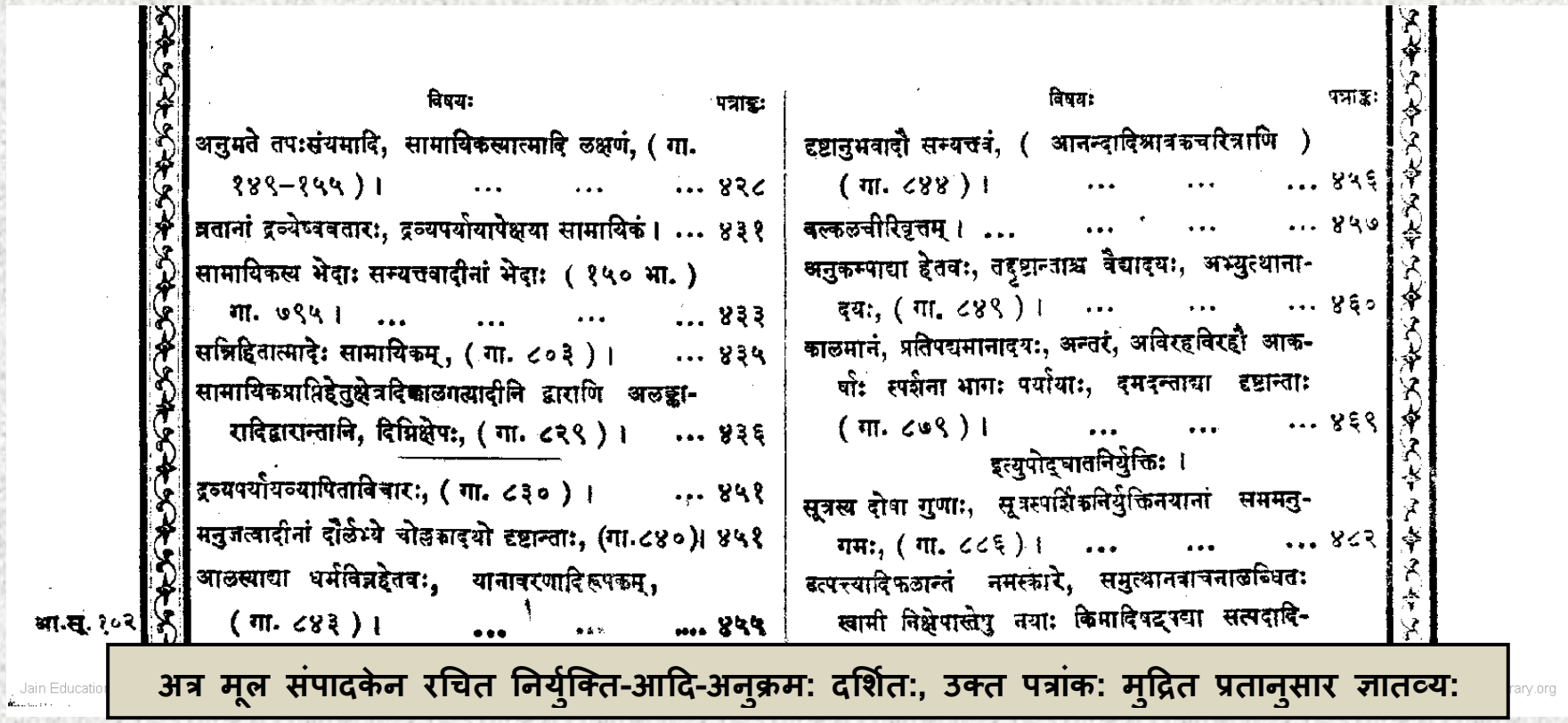
अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

Jain Educatio ... rary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



विषयः पत्राङ्कः

अनुमते तपःसंयमादि, सामायिकस्यात्मादि लक्षणं, (गा. १४९–१५५)। ४२८
व्रतानां द्रव्येष्ववतारः, द्रव्यपर्यायापेक्षया सामायिकं। ... ४३१
सामायिकस्य भेदाः सम्यक्त्ववादीनां भेदाः (१५० भा.) गा. ७९५। ४३३
सन्निहितात्मादेः सामायिकम्, (गा. ८०३)। ... ४३५
सामायिकप्राप्तिहेतुक्षेत्रदिक्कालगत्यादीनि द्वाराणि अलङ्कारादिद्वारान्तानि, दिग्निक्षेपः, (गा. ८२९)। ... ४३६
द्रव्यपर्यायव्यापितावि चारः, (गा. ८३०)। ... ४५१
मनुजत्वादीनां दौर्लभ्ये चोल्लकादयो दृष्टान्ताः, (गा.८४०)। ४५१
आलस्याद्या धर्मविघ्नहेतवः, यानावरणादिरूपकम्, (गा. ८४३)। ४५५

विषयः पत्राङ्कः

दृष्टानुभवादौ सम्यक्त्वं, (आनन्दादिश्रावकचरित्राणि) (गा. ८४४)। ४५६
वल्कलचीरिवृत्तम्। ४५७
अनुकम्पाद्या हेतवः, तद्दृष्टान्ताश्च वैद्यादयः, अभ्युत्थानादयः, (गा. ८४९)। ४६०
कालमानं, प्रतिपद्यमानादयः, अन्तरं, अविरहविरहौ आकर्षाः स्पर्शना भागः पर्यायाः, दमदन्ताद्या दृष्टान्ताः (गा. ८७९)। ४६९
इत्युपोद्घातनिर्युक्तिः।
सूत्रस्य दोषा गुणाः, सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिनयानां सममनुगमः, (गा. ८८६)। ४८२
ह्रत्परत्यादिफलान्तं नमस्कारे, समुत्थानवाचनालङ्घितः स्वामी निक्षेपास्तेषु नयाः किमादिषट्द्वया सत्पदादि-

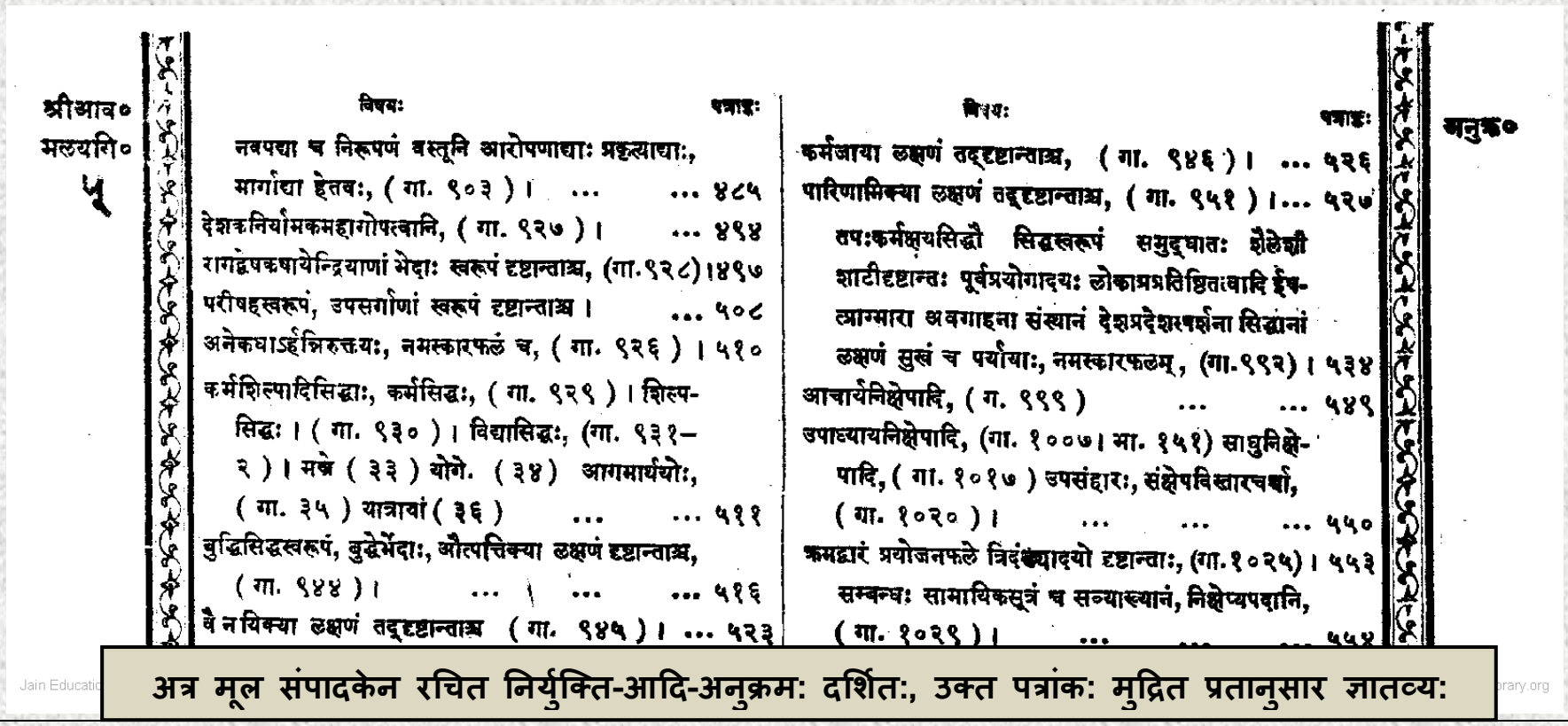
आ.सू. १०२

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]



श्रीआव० मलयगि० ५

विषयः पत्राङ्कः

नवपद्या च निरूपणं वस्तूनि आरोपणाद्याः प्रकृत्याद्याः, मार्गाद्या हेतवः, (गा. ९०३) । ४८५
देशकनिर्यामकमहागोपत्वानि, (गा. ९२७) । ... ४९४
रागद्वेषकषायेन्द्रियाणां भेदाः स्वरूपं दृष्टान्ताश्च, (गा.९२८)।४९७
परीषहस्वरूपं, उपसर्गाणां स्वरूपं दृष्टान्ताश्च । ... ५०८
अनेकधाऽर्हन्निरुक्तयः, नमस्कारफलं च, (गा. ९२६) । ५१०
कर्मशिल्पादिसिद्धाः, कर्मसिद्धः, (गा. ९२९) । शिल्पसिद्धः । (गा. ९३०) । विद्यासिद्धः, (गा. ९३१–२) । मन्त्रे (३३) योगे. (३४) आगमार्थयोः, (गा. ३५) यात्रायां (३६) ५११
बुद्धिसिद्धस्वरूपं, बुद्धेर्भेदाः, औत्पत्तिक्या लक्षणं दृष्टान्ताश्च, (गा. ९४४) । ५१६
वैनयिक्या लक्षणं तद्दृष्टान्ताश्च (गा. ९४५) । ... ५२३

विषयः पत्राङ्कः

कर्मजाया लक्षणं तद्दृष्टान्ताश्च, (गा. ९४६) । ... ५२६
पारिणामिक्या लक्षणं तद्दृष्टान्ताश्च, (गा. ९५१) ।... ५२७
तपःकर्मक्षयसिद्धौ सिद्धस्वरूपं समुद्घातः शैलेशी शाटीदृष्टान्तः पूर्वप्रयोगादयः लोकाग्रप्रतिष्ठितत्वादि ईषत्प्राग्भारा अवगाहना संस्थानं देशप्रदेशस्पर्शना सिद्धानां लक्षणं सुखं च पर्यायाः, नमस्कारफलम्, (गा.९९२) । ५३४
आचार्यनिक्षेपादि, (ग. ९९९) ५४९
उपाध्यायनिक्षेपादि, (गा. १००७। भा. १५१) साधुनिक्षेपादि, (गा. १०१७) उपसंहारः, संक्षेपविस्तारचर्चा, (गा. १०२०) । ५५०
क्रमद्वारं प्रयोजनफले त्रिदंडीत्यादयो दृष्टान्ताः, (गा.१०२५) । ५५३
सम्बन्धः सामायिकसूत्रं च सव्याख्यानं, निक्षेप्यपदानि, (गा. १०२९) । ५५४

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

विषयः	पत्राङ्कः
नामादिकरणानि, (भा. १५२–१७४) । क्षेत्रकालकरणानि, भावेऽत्र श्रुतवद्वानिशीथाख्यानि,(गा. १०३६)। नोश्रुतकरणम्, (गा. १०३१) । ५५८	
कृताकृतादिद्वारसप्तकम्, (उद्दिष्टोपदेशादिषु) । आलोचनाद्या नयाः, (गा. १०४० । १७५–१८३ भा.) ।	५६५
देशसर्वघातिघाते सामायिकं, (गा. १०४१) । ...	५७२
भयनिक्षेपाः, अन्तं षोढा, (१८४–१८५ भा.) । ...	५७२
सामायिकसूत्रस्यार्थः, सामायिकैकार्थाः निक्षेपा एषाम्, (गा. १०४५)	५७४
सामायिकस्य पर्यायाः, कर्तृकर्मकरणविचारः, आत्मा कारकः, (गा. १०४९)	५७५
सर्वस्य निक्षेपाः, (गा. १०५०) । देशसर्वादि, (गा. १८६–१८९ भा.) ।	५७६

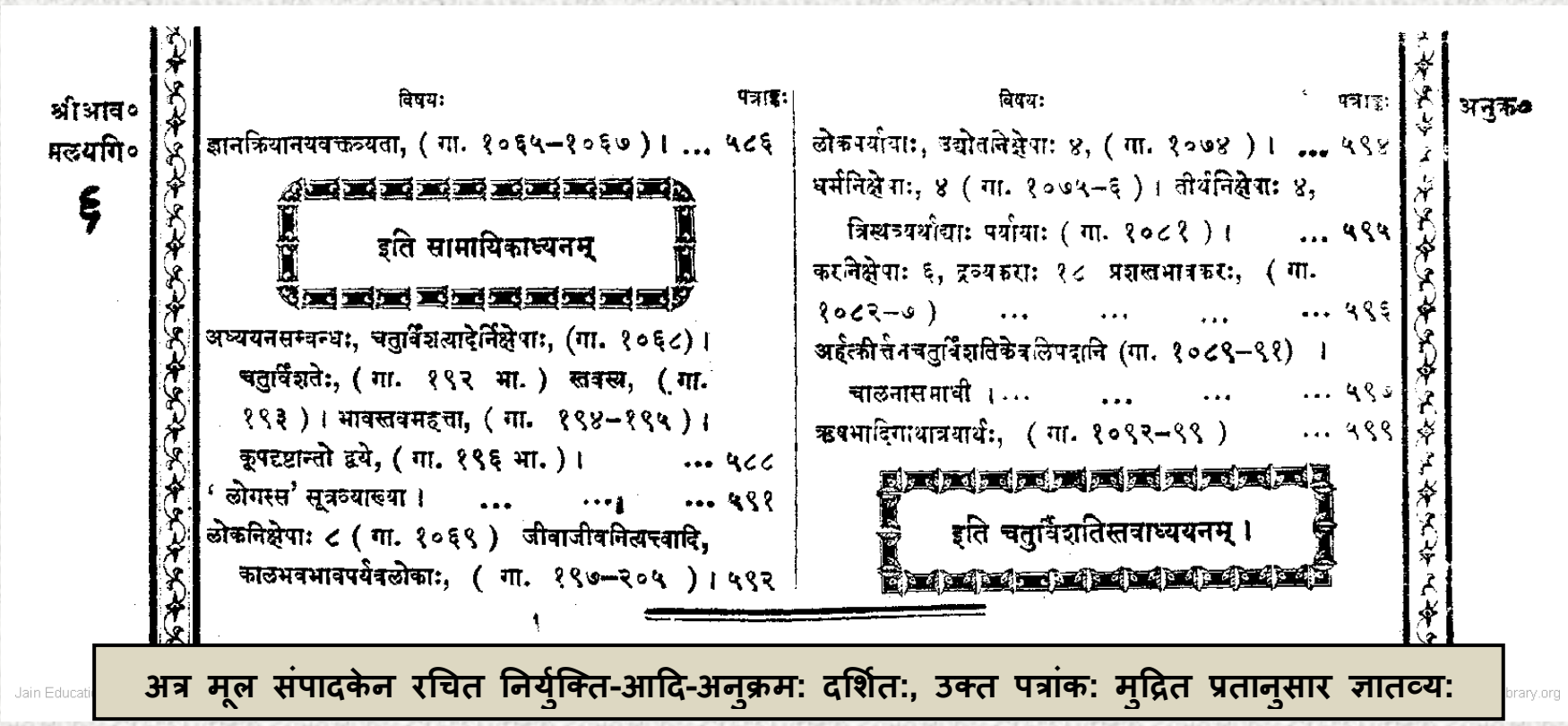
विषयः	पत्राङ्कः
सावद्यार्थः, (गा. १०५१) । द्रव्यभावयोगाः (गा. १०५३) ।	५७८
प्रत्याख्याने द्रव्यादिभेदाः, (गा. १०५४) । यावच्छब्दार्थः, (गा. १०५५) ।	५७९
जीवितनिक्षेपाः, (गा. १०५६ । १८९–१९० भा.) ।	५८०
प्रत्याख्याने १४७ भङ्गाः (गा. १०५७) । त्रिकालग्रहणम्, (गा. १०५८) ।	५८१
त्रिविधादेरपुनरुक्तता, (गा. १०५९) ।	५८३
द्रव्यभावप्रतिक्रमणोदाहरणे, (गा. १०६०) । निन्दागर्हयोः, (१०६१–१०६२) ।	५८४

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]



श्रीआव० मलयगि० ६

विषयः पत्राङ्कः

ज्ञानक्रियानयवक्तव्यता, (गा. १०६५–१०६७)। ... ५८६

इति सामायिकाध्ययनम्

अध्ययनसम्बन्धः, चतुर्विंशत्यादेर्निक्षेपाः, (गा. १०६८)। चतुर्विंशतेः, (गा. १९२ भा.) स्तवस्य, (गा. १९३)। भावस्तवमहत्ता, (गा. १९४–१९५)। कूपदृष्टान्तो द्वये, (गा. १९६ भा.)। ... ५८८

'लोगस्स' सूत्रव्याख्या। ५९१

लोकनिक्षेपाः ८ (गा. १०६९) जीवाजीवनित्यत्वादि, कालभवभावपर्यवलोकाः, (गा. १९७–२०५)। ५९२

विषयः पत्राङ्कः

लोकपर्यायाः, उद्योतनिक्षेपाः ४, (गा. १०७४)। ... ५९४

धर्मनिक्षेपाः, ४ (गा. १०७५–६)। तीर्थनिक्षेपाः ४, त्रिस्थत्र्यर्थाद्याः पर्यायाः (गा. १०८१)। ... ५९५

करनिक्षेपाः ६, द्रव्यकराः १८ प्रशस्तभावकरः, (गा. १०८२–७) ५९६

अर्हत्कीर्त्तनचतुर्विंशतिकेवलिपदानि (गा. १०८९–९१)। चालनासमाधी ।... ... ... ५९७

ऋषभादिगाथात्रयार्थः, (गा. १०९२–९९) ... ५९९

इति चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनम्।

अनुक्र०

अत्र मूल संपादकेन रचित निर्युक्ति-आदि-अनुक्रम: दर्शित:, उक्त पत्रांक: मुद्रित प्रतानुसार ज्ञातव्य:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

तृतीय भाग: (निर्युक्ति: ५४३-८२९)

साम्प्रतं समवसरणवक्तव्यतां प्रस्तुतः प्रतिपिपादयिषुरिमां द्वारगाथामाह—

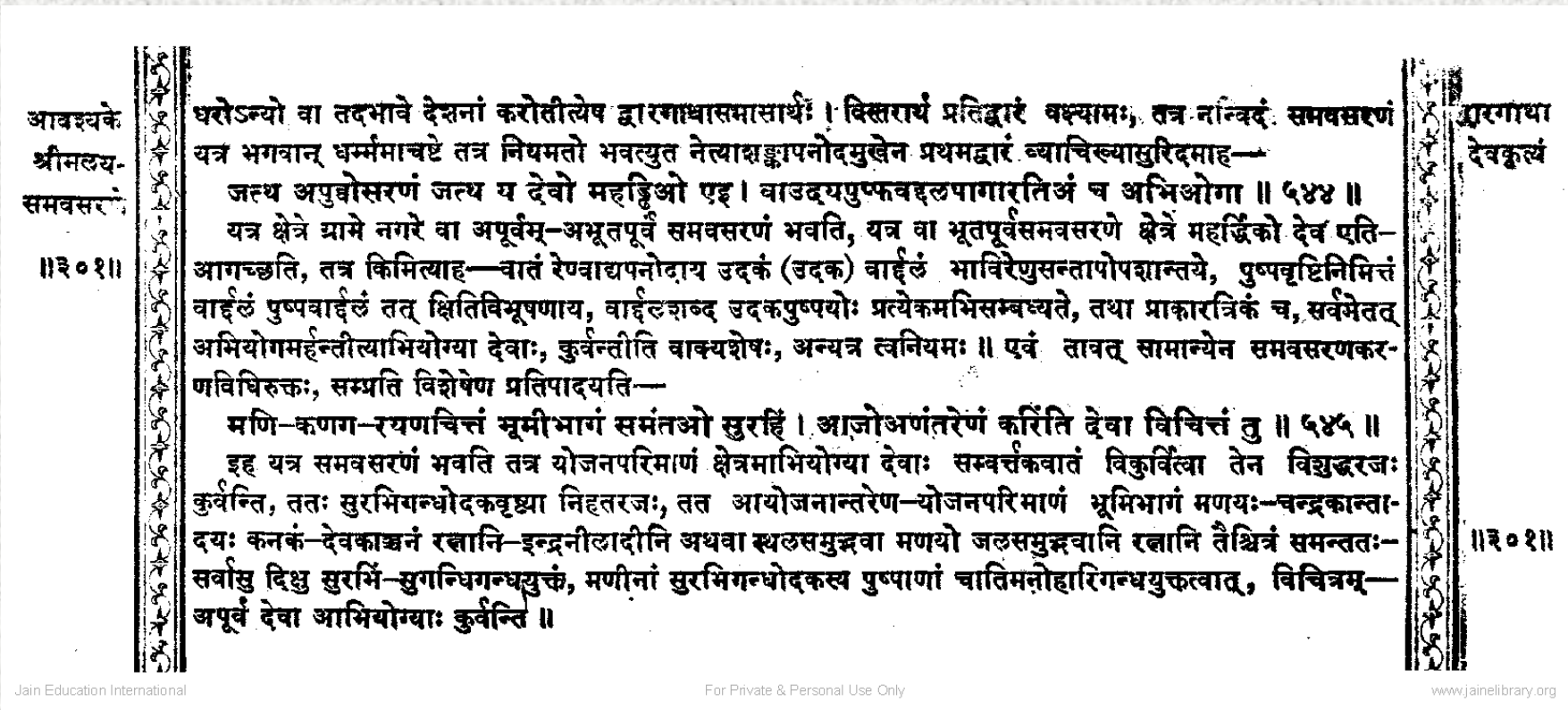
समुसरणे केवइआ रूव पुच्छ वागरण सोअपरिणामे । दाणं च देवमल्ले मल्लाऽऽणयणे उवरि तित्थं ॥ ५४३ ॥

प्रथमं समवसरणविषयो विधिर्वक्तव्यः, ये देवा यत्प्राकारादि यद्विधं यथा कुर्वन्ति तथा वक्तव्यमिति भावः, 'केवइय'त्ति कियन्ति सामायिकानि भगवति कथयति मनुष्यादयः प्रतिपद्यन्ते, कियतो वा भूभागादपूर्वे समवसरणेऽदृष्टपूर्वे वा साधुना आगन्तव्यम्, 'रूव'त्ति भगवतो रूपं व्यावर्णनीयं, 'पुच्छ'त्ति किमुत्कृष्टरूपतया भगवतः प्रयोजनमिति पृच्छा कार्या उत्तरं च वक्तव्यं, कियन्तो वा हृद्गतं संशयं पृच्छन्तीति, 'वागरणं'ति व्याकरणं भगवतो वक्तव्यं यथा युगपदेव सङ्ख्यातीतानामपि पृच्छतां व्याकरोतीति, 'पुच्छवागरणं'ति एकं वा द्वारं, पृच्छायां व्याकरणं तद्वक्तव्यं, 'सोयपरिणामो'त्ति श्रोतुश्च परिणामः श्रोतृपरिणामः स वक्तव्यो, यथा सर्वश्रोतृणां भागवती वाक् स्वभाषया परिणमते, 'दानं चे'ति वृत्तिदानं प्रीतिदानं च कियत्प्रयच्छन्ति चक्रवर्त्यादयस्तीर्थकरप्रवृत्तिकथकेभ्य इति वक्तव्यं, 'देवमल्ले'त्ति गन्धप्रक्षेपादेवानां सम्बन्धि माल्यं देवमाल्यं—वल्यादि कः करोति, कियत्परिमाणं चेत्यादि, 'मल्लाणयणे'त्ति माल्यानयने यो विधिरसौ वक्तव्यः, 'उवरि तित्थं'ति उपरि पौरुष्याः, किमुक्तं भवति ?—पौरुष्यामतिक्रान्तायां तीर्थमिति—प्रथमगण-

आ.सू.५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ समवसरण वक्तव्यता प्रस्तूयते



आवश्यके श्रीमलय-समवसर॰ ॥३०१॥

धरोऽन्यो वा तदभावे देशनां करोतीत्येष द्वारगाथासमासार्थः । विस्तरार्थं प्रतिद्वारं वक्ष्यामः, तत्र नन्विदं समवसरणं यत्र भगवान् धर्म्ममाचष्टे तत्र नियमतो भवत्युत नेत्याशङ्कापनोदमुखेन प्रथमद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

जत्थ अपुव्वोसरणं जत्थ य देवो महड्ढिओ एइ। वाउदयपुप्फवद्दलपागारतिअं च अभिओगा ॥ ५४४ ॥

यत्र क्षेत्रे ग्रामे नगरे वा अपूर्वम्–अभूतपूर्वं समवसरणं भवति, यत्र वा भूतपूर्वसमवसरणे क्षेत्रे महर्द्धिको देव एति–आगच्छति, तत्र किमित्याह—वातं रेण्वाद्यपनोदाय उदकं (उदक) वार्दलं भाविरेणुसन्तापोपशान्तये, पुष्पवृष्टिनिमित्तं वार्दलं पुष्पवार्दलं तत् क्षितिविभूषणाय, वार्दलशब्द उदकपुष्पयोः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथा प्राकारत्रिकं च, सर्वमेतत् अभियोगमर्हन्तीत्याभियोग्या देवाः, कुर्वन्तीति वाक्यशेषः, अन्यत्र त्वनियमः ॥ एवं तावत् सामान्येन समवसरणकरणविधिरुक्तः, सम्प्रति विशेषेण प्रतिपादयति—

मणि–कणग–रयणचित्तं भूमीभागं समंतओ सुरहिं । आजोअणंतरेणं करिंति देवा विचित्तं तु ॥ ५४५ ॥

इह यत्र समवसरणं भवति तत्र योजनपरिमाणं क्षेत्रमाभियोग्या देवाः सम्वर्त्तकवातं विकुर्वित्वा तेन विशुद्धरजः कुर्वन्ति, ततः सुरभिगन्धोदकवृष्ट्या निहतरजः, तत आयोजनान्तरेण–योजनपरिमाणं भूमिभागं मणयः–चन्द्रकान्तादयः कनकं–देवकाञ्चनं रत्नानि–इन्द्रनीलादीनि अथवा स्थलसमुद्भवा मणयो जलसमुद्भवानि रत्नानि तैश्चित्रं समन्ततः–सर्वासु दिक्षु सुरभिं–सुगन्धिगन्धयुक्तं, मणीनां सुरभिगन्धोदकस्य पुष्पाणां चातिमनोहारिगन्धयुक्तत्वात्, विचित्रम्—अपूर्वं देवा आभियोग्याः कुर्वन्ति ॥

द्वारगाथा देवकृत्यं ॥३०१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

विंटट्ठाइं सुरहिं जलथलयं दिवकुसुमनीहारिं । पयरिंति समंतेणं दसद्धवन्नं कुसुमवासं ॥ ५४६ ॥

आभियोग्या देवाः प्रकिरन्ति समन्ततः–सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दशार्द्धवर्णं–पञ्चवर्णं कुसुमवर्षं, किंविशिष्टमित्याह– 'वृन्तस्थायि' वृन्तमधोभागे पत्राण्युपरीत्येवंस्थानशीलं सुरभिगन्धोपेतत्वात् 'दिव्यकुसुमनिर्हारि' दिव्यः–प्रधानः कुसुमानां निर्हारी– प्रबलो गन्धप्रसरो यस्मात् तत् दिव्यकुसुमनिर्हारि ॥

मणि–कणग–रयणचित्ते, चउद्दिसिं तोरणे विउव्विंति । सच्छत्तसालिभंजिअमयरद्धयचिंधसंठाणे ॥ ५४७ ॥

चतसृष्वपि दिक्षु मणिकनकरत्नविचित्राणि तोरणानि व्यन्तरा देवा विकुर्वन्ति, किंविशिष्टानीत्याह—छत्रं–प्रतीतं, शालभञ्जिकाः—स्तम्भपुत्रिका मकरेति–मकरमुखोपलक्षणं ध्वजाः—प्रतीताः चिह्नानि—स्वस्तिकादीनि संस्थानम्—अत्यद्भुतो रचनाविशेषः सन्ति–शोभनानि छत्रशालभञ्जिकामकरध्वजचिह्नसंस्थानानि येषु तानि तथोच्यन्ते ।

तिन्नि य पायारवरे रयणविचित्ते तहिं सुरगणिंदा । मणिकंचणकविसीसयविभूसिए ते विउव्वंति ॥५४८॥

तत्र समवसरणे ते वक्ष्यमाणाः सुरगणेन्द्रास्त्रीन् प्राकारवरान् रत्नविचित्रान्–मणिकाञ्चनकपिशीर्षकविभूषितान् विकुर्वन्ति, भावार्थं उत्तरगाथायां व्याख्यास्यते । सा चेयम्—

अब्भिंतर मज्झ बहिं विमाणजोइसभवणाहिवकया उ । पायारा तिन्नि भवे रयणे कणगे य रयए य ॥ ५४९ ॥

अभ्यन्तरे मध्ये बहिः विमानज्योतिर्भवनाधिपकृताः प्राकारास्त्रयो भवन्ति, रत्ने कनके रजते च–यथाक्रमं रत्नमयः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

कनकमयो रजतमय इत्यर्थः । एष भावार्थः–अभ्यन्तरः प्राकारो रत्नमयं विमानाधिपतयः कुर्वन्ति, मध्यमः कनके भवः कानकः तं ज्योतिर्वासिनः कुर्वन्ति, बाह्यो राजतस्तं भवनपतयः कुर्वन्ति ।

मणिरयणहेमयाऽविय कविसीसा सवरयणिया दारा । सवरयणामयचिय पडागझयतोरणविचित्ता ॥ ५५० ॥

यथाक्रमं मणिरत्नहेममयानि कपिशीर्षकाणि, तद्यथा—प्रथमप्राकारे पञ्चवर्णमणिमयानि कपिशीर्षकाणि, तानि वैमानिकाः कुर्वन्ति, द्वितीये रत्नमयानि तानि ज्योतिष्का विदधते, तृतीये हेममयानि तानि भवनपतयः कुर्वन्ति, तथा सर्वरत्नमयानि द्वाराणि, तानि भुवनपतयः कुर्वन्ति, तथा सर्वरत्नमयान्येव मूलदलापेक्षया पताकाध्वजप्रधानानि तोरणानि विचित्राणि–कनकस्वस्तिकादिभिश्चित्ररूपाणि तानि व्यन्तरदेवाः कुर्वन्ति ॥

तत्तो अ समंतेणं कालाऽगुरुकुंदुरुक्कमीसेणं । गंधेण मणहरेणं धूवघडीओ विउव्वंति ॥ ५५१ ॥

ततः समन्ततः–सर्वासु दिक्षु कृष्णागुरुकुन्दुरुक्कमिश्रेण गन्धेन मनोहारिणा युक्ताः, किं ?–धूपघटिका विकुर्वन्ति व्यन्तरा देवाः ॥

उक्किट्ठिसीहनायं कलयलसद्देण सवओ सवं । तित्थयरपायमूले करिंति देवा निवयमाणा ॥ ५५२ ॥

तीर्थकरपादमूले निपतन्तो देवा उत्कृष्टिसिंहनादं कुर्वन्ति, उत्कृष्टिः–हर्षविशेषप्रेरितो ध्वनिविशेषस्तत्प्रधानः सिंहनाद उत्कृष्टिसिंहनादस्तं, तथा कलकलशब्देन समन्ततः–सर्वासु दिक्षु युक्तं सर्वमशेषं कुर्वन्ति ॥

चेइदुम पीढछंदय आसण छत्तं च चामराओ अ । जं चऽन्नं करणिज्जं करिंति तं वाणमंतरिआ ॥ ५५३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

अभ्यन्तरप्राकारस्य रत्नमयस्य बहुमध्यदेशभागे अशोकवरपादपो भवति, स च भगवत्प्रमाणात् द्वादशगुणः, तस्याधस्तात्सर्वरत्नमयं पीठं, तस्य पीठस्योपरि चैत्यवृक्षस्याधो देवच्छन्दकः, तस्याभ्यन्तरे सिंहासनं सपादपीठं स्फटिकमयं, तस्योपरि छत्रातिच्छत्रं, चशब्दः समुच्चये, चामरे च उभयोः पार्श्वयोः यक्षहस्तगते, चशब्दात् धर्मचक्रं पद्मप्रतिष्ठितं, यच्चान्यद्वातोदकादि करणीयं तद् व्यन्तरा देवाः कुर्वन्ति, एष सर्वतीर्थकृतां सर्वसमवसरणन्यायः, अस्मिंस्तु भगवतः समवसरणेऽशोकपादपं शक्रः छत्रातिच्छत्रमीशानो विकुर्वितवान्, चामरे चामरधारौ बलिचमराविति सम्प्रदायः । आह–यत् यत्समवसरणं भवति तत्र सर्वत्रापि पूर्वोक्त एव नियोग उत नेत्यत आह—

साहारण ओसरणे एवं जत्थिड्ढिमं तु ओसरइ । इक्कु चिय तं सव्वं करेइ भयणा उ इयरेसिं ॥ ५५४ ॥

साधारणं–सामान्यं यत्र सर्वे देवेन्द्रा आगच्छन्ति तस्मिन् साधारणसमवसरणे एवम्–उक्तप्रकारेण नियोगः, यत्र पुनर्ऋद्धिमान्–इन्द्रसामानिकादिः समवतरति तत्र एक एव तत्प्राकारादि सर्वं करोति, 'भयणा उ इयरेसिं'ति यदि इंद्रा इन्द्रसामानिका वा केचिन्महर्द्धिका नायान्ति ततो भवनवास्यादय इतरे समवसरणं कुर्वन्ति वा नवेत्येवं भजना इतरेषां॥

सूरुदयपच्छिमाए ओगाहंतीइ पुव्वओ एइ । दोहिं पउमेहिं पाया मग्गेण य हुंति सत्तन्ने ॥ ५५५ ॥

एवं देवैर्निष्पादिते समवसरणे, सूर्योदये–प्रथमायां पौरुष्यां अन्यदा पश्चिमायां 'ओगाहंतीए'त्ति अवगाहमानायां— आगच्छन्त्यामिति भावः, पूर्वद्वारेण 'एति' आगच्छति, प्रविशतीत्यर्थः, कथमित्याह—द्वयोः पद्मयोः–सहस्रपत्रयोर्देवप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ समवसरण मध्ये द्वादश-पर्षदाया: वर्णनं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

रिकल्पितयोः पादौ, स्थापयन्निति वाक्यशेषः, 'मग्गेण य होंति सत्तन्ने' मार्गतः–पृष्ठतो भगवतः सप्तान्यानि पद्मानि भवन्ति, तेषां च यत् यत् पश्चिमं तत्पादन्यासं कुर्वतो भगवतः पुरतस्तिष्ठती ति ।

आय हिण पुव्वमुहो तिदिसिं पडिरूवगा उ देवकया । जिट्ठगणी अन्नो वा दाहिणपुव्वे अदूरम्मि ॥ ५५६ ॥

स एवं भगवान् पूर्वद्वारेण प्रविश्य 'आयाहिण'त्ति चैत्यद्रुमप्रदक्षिणां कृत्वा पूर्वाभिमुख उपविशति, शेषासु तिसृषु दिक्षु प्रतिरूपकाणि तीर्थंकराकृतिमन्ति सिंहासनादियुक्तानि देवकृतानि भवन्ति, शेषदेवादीनामप्यस्माकं कथयतीति प्रतिपत्त्यर्थं, भगवतश्च पादमूलमेकेन गणधरेणाविरहितमेव भवति, स च ज्येष्ठोऽन्यो वा, प्रायो ज्येष्ठ इति भावः, स च ज्येष्ठगणी अन्यो वा दक्षिणपूर्वे दिग्भागे अदूरेऽप्रत्यासन्ने भगवतो भगवन्तं प्रणम्य निषीदतीति क्रियाध्याहारः, शेषगणधरा अप्येवमेव भगवन्तमभिवन्द्य तीर्थस्य मार्गतः पार्श्वतश्च निषीदन्ति ॥ भुवनगुरुरूपस्य त्रैलोक्यगतरूपेभ्यः सुन्दरत्वात् त्रिदशकृतप्रतिरूपकाणां किं साम्यमसाम्यं वेत्याशङ्कानिरासार्थमाह—

जे ते देवेहिं कया तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स । तेसिंपि तप्पभावा तयाणुरूवं हवइ रूवं ॥ ५५७ ॥

यानि तानि देवैः कृतानि जिनवरस्य तिसृषु दिक्षु प्रतिरूपकाणि तेषामपि तत्प्रभावात्—तीर्थंकरप्रभावात् तदनुरूपं—तीर्थंकररूपानुरूपं भवति रूपमिति ॥

तित्थातिसेससंजय देवी वेमाणियाण समणीओ । भवणवइवाणमंतरजोइसियाणं च देवीओ ॥ ५५८ ॥

तीर्थं–(प्रथमो) गणधरः, स पूर्वद्वारेण प्रविश्य तीर्थंकरं त्रिकृत्वो वन्दित्वा दक्षिणपूर्वे दिग्भागे निषीदति, एवं शेषगण-

॥३०३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धरा अपि, नवरं ते तीर्थस्य मार्गतः पार्श्वेषु च निषीदन्ति, तदनन्तरं अतिशेषसंयता—अतिशायिनः केवल्यादयः संयता एवं निषीदन्ति, किमुक्तं भवति ?—ये केवलिनस्ते पूर्वद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य नमस्तीर्थायेति भणित्वा तीर्थस्य-प्रथमगणधरस्य शेषगणधराणां च पृष्ठतो निषीदन्ति, येऽप्यवशेषा अतिशायिनो मनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वधराः त्रयोदशपूर्वधरा यावद्दशपूर्वधरा नवपूर्वधराः खेलौषधय आमर्षौषधयो जल्लौषध्यादयश्च तेऽपि पूर्वद्वारेण प्रविश्य त्रिकृत्वो भगवन्तं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय प्रथमगणधररूपाय नमः केवलिभ्य इत्युक्त्वा केवलिनां पृष्ठतो यथाक्रमं निषीदन्ति, ये चावशेषा अनतिशायिनः संयताः तेऽपि पूर्वद्वारेणैव प्रविश्य त्रिकृत्वो भगवन्तं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यः नमोऽतिशायिभ्य इत्युक्त्वा अतिशायिनां पृष्ठतो निषीदन्ति, वैमानिकानां देव्यः पूर्वद्वारेणैव प्रविश्य भगवन्तं त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यः नमोऽतिशायिभ्यः नमः साधुभ्य इति भणित्वा निरतिशयिसंयतानां पृष्ठतस्तिष्ठन्ति, नतु निषीदन्ति, श्रमण्यः पूर्वद्वारेण प्रविश्य तीर्थकरं त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यो नमोऽतिशायिभ्यो नमः शेषसाधुभ्य इत्युक्त्वा वैमानिकदेवीनां पृष्ठतस्तिष्ठन्ति, न तु निषीदन्ति, भवनपवासिन्यो व्यन्तर्यो ज्योतिष्क्यश्च दक्षिणद्वारेण प्रविश्य त्रिकृत्वस्तीर्थकरं प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा दक्षिणपश्चिमायां दिशि, नैर्ऋतकोणे इत्यर्थः, तिष्ठन्ति, न तु निषीदन्ति, भवनवासिनीनां पृष्ठतो ज्योतिष्कदेव्यस्तासां पृष्ठतो व्यन्तर्यः। एतदेव सविशेषं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

केवलिणो तिउण जिणं तित्थपणामं च मग्गओ तस्स। मणमाईवि नमंता वयंति सट्ठाण सट्ठाणं ॥ ५५९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

केवलिनस्त्रिगुणं–त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य जिनं–तीर्थकरं तीर्थप्रणामं च कृत्वा तस्य तीर्थस्य–गणधरस्य मार्गतः–पृष्ठतो, निषीदन्ति क्रियाध्याहारः, 'मणमाइवी'त्यादि, मनआदयोऽपि–मनःपर्यायज्ञान्यवधिज्ञनिचतुर्दशपूर्वधरा यावन्नवपूर्वधरखेलौषध्यादिनिरतिशयसंयतवैमानिकदेवीश्रमण्यस्तथा ज्योतिष्कभवनपतिव्यन्तरदेव्यः पूर्वक्रमेण तीर्थकरादीन् नमन्त्यः व्रजन्ति स्वस्थानं स्वस्थानं, स्वं स्वं स्थानमित्यर्थः, भावार्थः प्रागेवोक्तः ।

भवणवई–जोइसिया बोद्धवा वाणमंतरसुरा य । वेमाणिया य मणुआ पयाहिणं जं च निस्साए ॥ ५६० ॥

भवनपतयो ज्योतिष्का व्यन्तरसुरा एते पश्चिमद्वारेण प्रविश्य भगवन्तं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य वन्दित्वा नमस्तीर्थाय नमः केवलिभ्यः नमोऽतिशायिभ्यः नमः शेषसाधुभ्य इति भणित्वा यथोपन्यासमुत्तरपश्चिमे दिग्भागे निषीदन्ति, तद्यथा—भवनपतीनां पृष्ठतो ज्योतिष्कास्तेषामपि पृष्ठतो व्यन्तरा इति, तथा वैमानिका मनुष्याश्चशब्दात् स्त्रियश्च, अस्य चशब्दस्य व्यवहित उपन्यासः, किं?, 'पयाहिणं'ति उत्तरद्वारेण प्रविश्य प्रदक्षिणाः कृत्वा तीर्थकरादीनभिवन्द्य उत्तरपूर्वे दिग्भागे यथोपन्यासं निषीदन्ति, तद्यथा—वैमानिकानां पृष्ठतो मनुष्यास्तेषामपि पृष्ठतो मनुष्यस्त्रियः, इहैवं सम्प्रदायः–देव्यः सर्वा एव न निषीदन्ति, देवा मनुष्या मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति, तथा विवृतं, 'जं च निस्साए' यः परिवारो यं च निश्रां कृत्वा समायातः स तत्पार्श्व एव तिष्ठति, नान्यत्र ॥ साम्प्रतमभिहितमेवार्थं भाष्यकारः पूर्वद्वारादिप्रवेशविशिष्टं स्पष्टतरं प्रतिपादयति—

संजय वेमाणित्थी संजइ पुव्वेण पविसिउं वीरं । काउं पयाहिणं पुव्वदक्खिणे ठंति दिसिभाए ॥ ११६ ॥

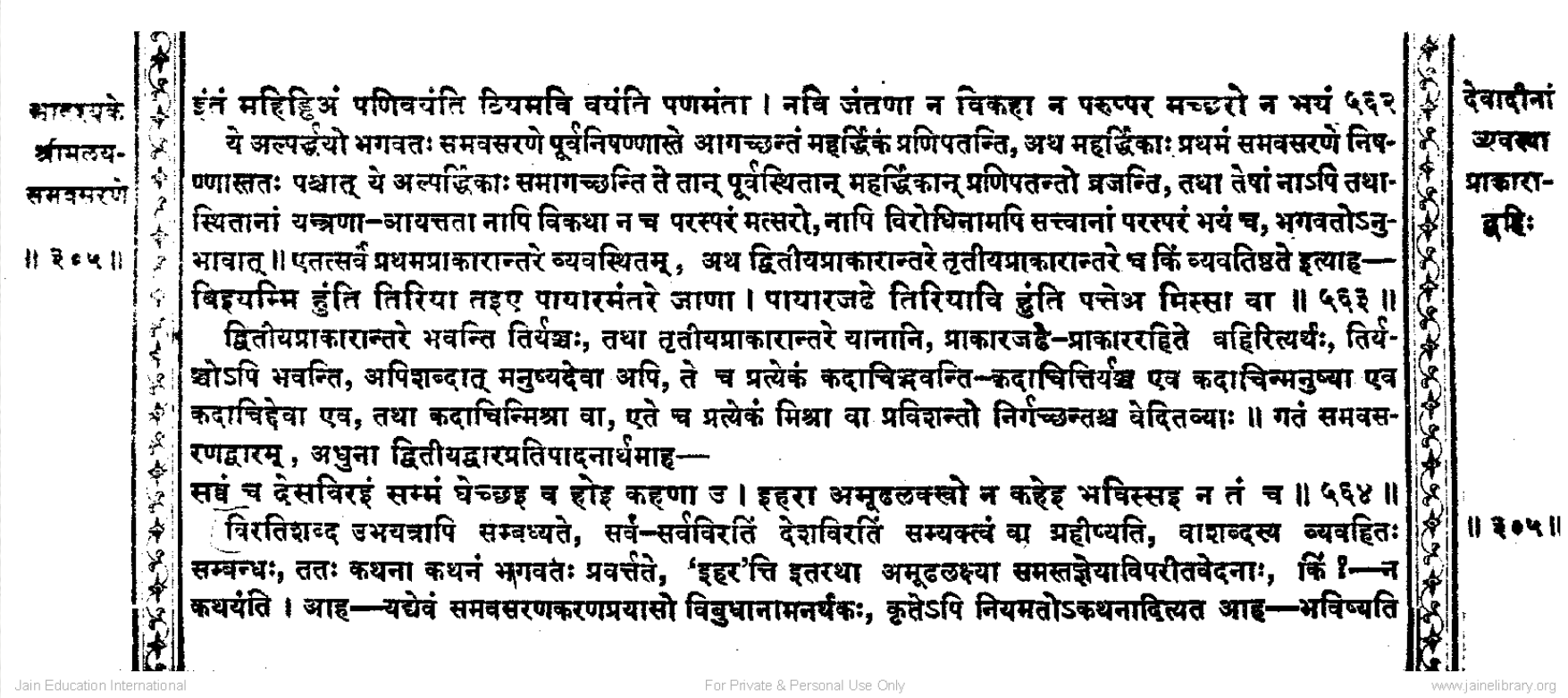
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** भाष्यक्रम-मुद्रणदोष: [*** यहा भाष्य का क्रम ११५ आता है, फ़िर भी मूल संपादकने ११६ लिखा है, क्यों की क्रम ११५ मे गलति से निर्युक्ति का नंबर दे दिया था | वैसे हारिभद्रिया वृत्ति मे इस का भाष्य-क्रम ११६ हि है |

जोइसियभवणवंतरदेवीओ दक्खिणेण पविसेउं । चिट्ठंति दक्खिणावरदिसिम्मि तिगुणं जिणं काउं ॥११७॥
अवरेण भवणवासीवंतरजोइससुरा य अतिगंतुं । अवरुत्तरदिसिभाए चिट्ठंति जिणं नमंसित्ता ॥ ११८ ॥
समहिंदा कप्पसुरा राया नरनारिओ उईणेणं । पविसित्ता पुव्वुत्तरदिसीइ चिट्ठंति पंजलिया ॥ ११९ ॥
इक्किक्काइ दिसाए तिगं तिगं होइ संनिविट्ठं तु । आइचरिमे विमिस्सा थीपुरिसा सेस पत्तेअं ॥ ५६१ ॥

संयता वैमानिकस्त्रियः संयत्यः पूर्वेण–पूर्वद्वारेण प्रविश्य वीरं प्रदक्षिणं कृत्वा पूर्वदक्षिणे दिग्भागे तिष्ठन्ति । ज्योतिष्कभवनव्यन्तरदेव्यो दक्षिणेन द्वारेण प्रविश्य त्रिगुणं प्रदक्षिणं जिनं कृत्वा दक्षिणापरदिग्भागे पूर्वक्रमेण तिष्ठन्ति । अपरेण–पश्चिमद्वारेण भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्कसुराश्च अतिगत्य–प्रविश्य जिनं नमस्कृत्यापरोत्तरदिग्भागे, वायव्यकोणे इत्यर्थः, पूर्वक्रमेण तिष्ठन्ति ॥ समहेन्द्रा–महर्द्धिभिरिन्द्रैः सहिताः कल्पसुराः–कल्पोपपन्नदेवाः राजानः नराः सामान्यपुरुषा नार्यश्च उदीच्येन–उत्तरेण द्वारेण प्रविश्य भगवन्तं प्रणम्य प्राञ्जलयः पूर्वोत्तरदिग्भागे तिष्ठन्ति । अभिहितार्थोपसङ्ग्रहमाह—एकैकस्यां पूर्वदक्षिणादिकायां दिशि त्रिकं त्रिकं भवति सन्निविष्टं, तद्यथा–पूर्वदक्षिणस्यां संयतवैमानिकदेवीश्रमणीरूपं, दक्षिणापरस्यां भवनवासिज्योतिष्कव्यन्तरदेवीरूपं, अपरोत्तरस्यां भवनपतिज्योतिष्कव्यन्तरदेवरूपं, उत्तरपूर्वस्यां वैमानिकमनुष्यमनुष्यस्त्रीरूपमिति, आदिमे च त्रिके–पूर्वदक्षिणदिग्गते चरमे च त्रिके–पूर्वोत्तरदिग्गते विमिश्रा भवन्ति, स्त्रियः पुरुषाश्च तिष्ठन्तीति भावः, शेषे–त्रिकद्वये प्रत्येकं भवति, अपरादक्षिणे दिग्भागे केवलाःस्त्रिय एव अपरोत्तरे च दिग्भागे केवलाः पुरुषा एवेति भावार्थः । तेषां चेत्थं स्थितानां देवनराणामियं मर्यादा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥ ३०५ ॥

इंतं महिड्ढिअं पणिवयंति ठियमवि वयंति पणमंता । नवि जंतणा न विकहा न परुप्पर मच्छरो न भयं ५६२

ये अल्पर्द्धयो भगवतः समवसरणे पूर्वनिषण्णास्ते आगच्छन्तं महर्द्धिकं प्रणिपतन्ति, अथ महर्द्धिकाः प्रथमं समवसरणे निषण्णास्ततः पश्चात् ये अल्पर्द्धिकाः समागच्छन्ति ते तान् पूर्वस्थितान् महर्द्धिकान् प्रणिपतन्तो व्रजन्ति, तथा तेषां नाऽपि तथास्थितानां यन्त्रणा–आयत्तता नापि विकथा न च परस्परं मत्सरो, नापि विरोधिनामपि सत्त्वानां परस्परं भयं च, भगवतोऽनुभावात् ॥ एतत्सर्वं प्रथमप्राकारान्तरे व्यवस्थितम्, अथ द्वितीयप्राकारान्तरे तृतीयप्राकारान्तरे च किं व्यवतिष्ठते इत्याह—

बिइयम्मि हुंति तिरिया तइए पायारमंतरे जाणा । पायारजढे तिरियावि हुंति पत्तेअ मिस्सा वा ॥ ५६३ ॥

द्वितीयप्राकारान्तरे भवन्ति तिर्यञ्चः, तथा तृतीयप्राकारान्तरे यानानि, प्राकारजढे–प्राकाररहिते बहिरित्यर्थः, तिर्यञ्चोऽपि भवन्ति, अपिशब्दात् मनुष्यदेवा अपि, ते च प्रत्येकं कदाचिन्भवन्ति–कदाचित्तिर्यञ्च एव कदाचिन्मनुष्या एव कदाचिद्देवा एव, तथा कदाचिन्मिश्रा वा, एते च प्रत्येकं मिश्रा वा प्रविशन्तो निर्गच्छन्तश्च वेदितव्याः ॥ गतं समवसरणद्वारम्, अधुना द्वितीयद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

सव्वं च देसविरइं सम्मं घेच्छइ च होइ कहणा उ । इहरा अमूढलक्खो न कहेइ भविस्सइ न तं च ॥ ५६४ ॥

विरतिशब्द उभयत्रापि सम्बध्यते, सर्वं–सर्वविरतिं देशविरतिं सम्यक्त्वं वा ग्रहीष्यति, वाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, ततः कथना कथनं भगवतः प्रवर्त्तते, 'इहर'त्ति इतरथा अमूढलक्ष्या समस्तज्ञेयाविपरीतवेदनाः, किं ?—न कथयंति । आह—यद्येवं समवसरणकरणप्रयासो विबुधानामनर्थकः, कृतेऽपि नियमतोऽकथनादित्यत आह—भविष्यति

देवादीनां अवस्था प्राकारादिः

॥ ३०५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

न तच्च यन्नगवति कथयति अन्यतमोऽप्यन्यत् सामायिकं न प्रतिपद्यत इति, भविष्यत्कालनिर्देशस्त्रिकालोपलक्षकः । अथ कियन्ति सामायिकानि मनुष्यादयः प्रतिपद्यन्त इत्येतदाह—

मणुए चउमन्नयरं तिरिए तिन्नि व दुवे व पडिवज्जे । जइ नत्थि नियमसुचिय सुरेसु संमत्तपडिवत्ती ॥ ५६५ ॥

मनुष्ये प्रतिपत्तरि चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत्—अन्यतरसामायिकप्रतिपत्तिर्भवति, पाठान्तरं 'मणुओ चउमन्नयरं' तत्र मनुष्यश्चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते इति व्याख्येयं, तिर्यक् त्रीणि वा सर्वविरतिवर्जानि द्वे वा सम्यक्त्वश्रुतसामायिके प्रतिपद्यते, यदि नास्ति मनुष्यतिरश्चां कश्चित् प्रतिपत्ता ततो नियमत एव सुरेषु सम्यक्त्वप्रतिपत्तिर्भवति । स च भगवानित्थं धर्म्ममाचष्टे—

तित्थपणामं काउं कहेइ साहारणेण सद्देण । सव्वेसिं संनीणं जोअणनीहारिणा भयवं ॥ ५६६ ॥

नमस्तीर्थाय प्रवचनरूपायेत्यभिधाय प्रणामं च कृत्वा कथयति, प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य साधारणेन शब्देन—अर्द्धमागधभाषात्मकेन, केषां साधारणेनेत्याह—सर्वेषाम्—अमरनरतिरश्चां संज्ञिनां, किंविशिष्टेन ?—योजननिर्हारिणा—योजनव्यापिना भगवान्, किमुक्तं भवति ?—भगवतो ध्वनिरद्योषसमवसरणस्थसंज्ञिजिज्ञासितार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं भवति, भगवतः सातिशयत्वादिति । ननु कृतकृत्यो भगवान् ततः किमिति तीर्थप्रणामं करोति ?, उच्यते—

तप्पुव्विआ अरिहया पूइअपूया य विणयकम्मं च । कयकिच्चोऽवि जह कहं कहेइ नमए तहा तित्थं ॥ ५६७ ॥

तत्पूर्विका—प्रवचनरूपतीर्थपूर्विका अर्हत्ता—तीर्थकरता, प्रवचनविषयाभ्यासवशतस्तीर्थकरत्वप्राप्तेः, यश्च यत उपजा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

यते स तं प्रणमतीति भगवान् तीर्थं प्रणमति, तथा पूजितेन पूजा पूजितपूजा सा चास्य कृता भवति, पूजितपूजको हि लोकः, भगवांश्च जगत्त्रयेऽपि पूज्यः, ततो यदि भगवता पूजितं भवति ततः सकलेऽपि जगति तत्पूजितं भवतीति प्रणमति, तथा विनयकर्म्म च वक्ष्यमाणवैनयिकधर्म्ममूलं कृतं भवति, किमुक्तं भवति ?–विनयमूलो धर्म्मो भगवता प्रज्ञापनीयः, तद् यदि प्रथमं स्वयमेव भगवान् विनयं प्रयुङ्क्ते ततो लोकः सम्यग्विनयं प्रज्ञाप्यमानं श्रद्धत्ते करोति च, अथवा यथा कृतकृत्योऽपि भगवान् कथां कथयति तथा तीर्थमपि नमति, आह–नन्विदमपि धर्म्मकथनं भगवतः कृतकृत्यस्यायुक्तमेव, न, तस्य तीर्थकरनामकर्म्मविपाकप्रभवत्वात्, उक्तं च प्राक् 'तं च कहं वेइज्जइ'इत्यादि । आह–क्व केन साधुना कियतो वा भूभागात् समवसरणे खल्वागन्तव्यम् ? अनागच्छतो वा किं प्रायश्चित्तमित्यत आह—

जत्थ अपुव्वोसरणं अदिट्ठपुव्वं च जेण समणेणं । बारसहिं जोअणेहिं सो एइ अणागए लहुआ ॥ ५६८ ॥

यत्र तत्तीर्थकरापेक्षया अपूर्वम्–अभूतपूर्वं समवसरणं न दृष्टपूर्वं वा येन श्रमणेन स द्वादशभ्यो योजनेभ्य आगच्छति, अथ नागच्छति अवज्ञया ततोऽनागते सति 'लहुय'त्ति चतुर्लघवः प्रायश्चित्तम् ॥ गतं केवइअत्ति द्वारम्, अधुना रूपपृच्छाद्वारप्रकटनार्थमाह–

सव्वसुरा जइ रूवं अंगुट्ठपमाणयं विउव्विज्जा । जिणपायंगुट्ठं पइ न सोहए तं जहिंगालो ॥ ५६९ ॥

अथ कीदृग्भगवतो रूपं ?, उच्यते– सर्वे सुरा अशेषसुन्दररूपनिर्मापणशक्त्या यदि अङ्गुष्ठप्रमाणकं रूपं विकुर्वीरन् तथापि तज्जिनपादाङ्गुष्ठं प्रति न शोभते यथाऽङ्गारः ॥ साम्प्रतं प्रसङ्गतो गणधरादीनां रूपसम्पदमभिधित्सुराह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** तीर्थंकर-आदीनां 'रूप' द्वारस्य वर्णनं क्रियते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

गणहर आहार अणुत्तरा य जाव वण-चक्कि-वासु-बला । मंडलिया जा हीणा छट्ठाणगया भवे सेसा ॥ ५७० ॥

तीर्थकररूपात् गणधराणां रूपमनन्तगुणहीनं भवति, तीर्थकरेभ्यो गणधरा रूपेणानन्तगुणहीना भवन्तीति भावः, गणधरेभ्यो रूपेण खलु आहारकदेहा अनन्तगुणहीनाः आहारकदेहेभ्यो रूपेणानन्तगुणहीना अनुत्तराः– अनुत्तरवैमानिकाः, एवं ग्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतसहस्रारमहाशुक्रलान्तकब्रह्मलोकमाहेन्द्रसनत्कुमारेशानसौधर्मभवनवासिज्योतिष्कव्यन्तरचक्रवर्त्तिवासुदेवबलदेवमहामाण्डलिकानामनन्तरानन्तरापेक्षया रूपेणानन्तगुणहानिरवगन्तव्या, तथा चाह— 'जाव वणचक्किवासुबला मंडलिया जा हीण'त्ति यावद् व्यन्तरचक्रवर्त्तिवासुदेवबलदेवमाण्डलिकाः तावदनन्तगुणहीनाः, 'छट्ठाणगया भवे सेस'त्ति शेषा–राजानो जनपदलोकाश्च षट्स्थानगता भवन्ति, अनन्तभागहीना वा असङ्खेयभागहीना वा सङ्खेयभागहीना वा सङ्खेयगुणहीना वा असङ्खेयगुणहीना वा अनन्तगुणहीना वा इति ॥ उत्कृष्टरूपतायां भगवतः प्रतिपादयितुं प्रक्रान्तायामिदं प्रासङ्गिकं रूपसौन्दर्यनिबन्धनं संहननादि प्रतिपादयन्नाह—

संघयण रूवं संठाण वन्नगइसत्तसारऊसासा । एमाइउत्तराइं हवंति नामोदया तस्स ॥ ५७१ ॥

संहननं–वज्रर्षभनाराचं रूपमुक्तलक्षणं संस्थानं–समचतुरस्रं वर्णो–देहच्छाया गतिः गमनं सत्त्वं–वीर्यान्तरायकर्म्मक्षयोपशमादिजन्य आत्मपरिणामः, सारो द्विधा–बाह्य आन्तरश्च, बाह्यो गुरुत्वं आन्तरो ज्ञानादि, उच्छ्वासः प्रतीतः, तत एतेषां पदानां द्वन्द्वः, एवमादीनि वस्तूनि, आदिशब्दात् रुधिरं गोक्षीराभमित्यादिपरिग्रहः, अनुत्तराणि तस्य भग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

वतो नामोदयात्–कर्मोदयाद्भवन्ति ॥ आह—अन्यासां प्रकृतीनां वेदना (तू) गोत्रादयो नाम्नो वा ये इन्द्रियादयः प्रशस्ता उदया भवन्ति ते किमनुत्तरा भगवतश्छद्मस्थकाले केवलिकाले वा भवन्ति ? किं वा नेति, उच्यते–

पगडीणं अन्नासुवि पसत्थ उदया अणुत्तरा हुंति । खयउवसमेवि अ तहा खयम्मि अविकप्पमाहंसु ॥५७२॥

'अन्नासुवि'त्ति षष्ठ्यर्थे सप्तमी, अन्यासामपि प्रकृतीनां अपिशब्दान्नाम्नोऽपि प्रशस्ता उदया–उच्चैर्गोत्रादयो भवन्ति, किमितरजनस्येव ?, नेत्याह—अनुत्तराः–अनन्यसदृशा इत्यर्थः, 'खओवसमेऽविय'त्ति क्षयोपशमे सति ये दानलाभादयः कार्यविशेषा अपिशब्दादुपशमेऽपि ये केचन तेऽप्यनुत्तरा भवन्तीति क्रियायोगः, तथा कर्म्मणः क्षये–आत्यन्तिकप्रक्षये सति क्षायिकज्ञानादिगुणसमुदयमविकल्पं—व्यावर्णनादिकल्पनातीतं सर्वोत्तममाख्यातवन्तस्तीर्थकरगणधराः ॥ आह—असातवेदनीयाद्याः प्रकृतयो नाम्नो वाऽप्रशस्ताः कथं तस्य दुःखदा न भवन्ति ?, उच्यते—

अस्सायमाइआओ जाविअ असुहा हवंति पयडीओ । निंबरसलवुव्व पए न हुंति ता असुहया तस्स ॥५७३॥

असाताद्या या अपिच प्रकृतयः अशुभा भवन्ति ता अपि 'निम्बरसलव' इव लवो–बिन्दुः पयसि–क्षीरे, न भवन्ति, असुखदास्तस्य–भगवतः तीर्थकृतः ॥ उक्तमानुषङ्गिकं, प्रकृतं द्वारमधिकृत्य प्रोच्यते–तत्र कश्चिदाह–उत्कृष्टरूपतया भगवतः किं प्रयोजनम् ?, अत आह—

धम्मोदएण रूवं करिंति रूवस्सिणोऽवि जइ धम्मं । गेज्झवओ अ सुरूवो पसंसिमो तेण रूवं तु ॥ ५७४ ॥

धर्मस्योदयो धर्म्मोदयस्तेन रूपं भवतीति श्रोतारोऽपि धर्म्मे प्रवर्त्तन्ते, तथा कुर्वन्ति रूपस्विनोऽपि–रूपवन्तोऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

यदि धर्म ततः स शेषैः सुतरां कर्त्तव्य इति श्रोतृबुद्धेः प्रवर्त्तनम्, तथा ग्राह्यवाक्यश्च–आदेयवाक्यश्च सुरूपो भवति, चशब्दात् श्रोतृणां रूपाद्यभिमानापहारी च, अत एतैः कारणैर्भगवतो रूपं प्रशंसामः, अथवा पृच्छेति भगवान् देवनरतिरश्चां प्रभूतसंशयिनां कथं व्याकरणं कुर्वन् संशयविच्छित्तिं करोति ?, उच्यते–युगपत्, किमित्याह—

कालेण असंखेणवि संखाईयाण संसईणं तु। मा संसयवुच्छित्ती न हुज्ज कमवागरणदोसा ॥ ५७५ ॥

यदि एकैकस्य परिपाट्या एकैकं संशयं परिच्छिन्द्यात् ततः सङ्ख्यातीतानां देवानां संशयिनामसङ्ख्येनापि कालेन संशयविच्छित्तिर्न स्यात्, कुत इत्याह—क्रमेण व्याकरणं क्रमव्याकरणं स एव दोषः क्रमव्याकरणदोषस्तस्मात्, ततो युगपद् व्याकरोति ॥ युगपद्व्याकरणे गुणमुपदर्शयति—

सव्वत्थवि अ समत्तं रिद्धिविसेसो अकालहरणं च। सव्वण्णुपच्चओऽवि अ अचिंतगुणभूइओ जुगवं ॥ ५७६ ॥

सर्वत्र–सर्वसत्त्वेषु समत्वम्–अविषमत्वं युगपत्कथनेन भगवतो रागद्वेषरहितस्य प्रथितं भवति, अन्यथा तुल्यकालसंशयिनां युगपज्जिज्ञासुतयोपस्थितानां कालभेदकथने रागेतरगोचरचित्तवृत्तिप्रसङ्गः, सामान्यकेवलिनां तत्प्रसङ्ग इति चेत्, न, तेषामित्थं देशनाकरणायोगात्, तथा ऋद्धिविशेष एवं भगवतः प्रथितो भवति, यत् युगपत् सर्वेषामेव संशयिनामशेषसंशयव्यवच्छित्तिं करोति, तथा अकालहरणं भवति, भगवता युगपत्संशयापनोदात्, क्रमेण कथने तु कस्यचित्संशयिनोऽनिवृत्तसंशयस्यैव मरणं स्यात्, न च भगवन्तमप्यवाप्य संशयनिवृत्त्यादिफलरहिताः प्राणिनो भवन्तीति युक्तं, सर्वज्ञप्रत्ययोऽपि तेषामेवमुपजायते, यथा सर्वज्ञोऽयं दृष्टताशेषसंशयापनोदात्, न खल्वसर्वज्ञ एककालमशेषसंशयापनो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

दायालमिति, क्रमव्याकरणे तु कस्यचिदनपेतसंशयस्य सर्वज्ञप्रतीत्यभावः स्यात्, तथा अचिन्त्यगुणभूतिः–अचिन्त्या गुणसम्पद्भगवतः स्वाभाविकी, ततो यस्मादेते गुणा अतो युगपत् कथयति ॥ गतं पृच्छाद्वारमधुना श्रोतृपरिणामः पर्यालोच्यते, तत्र यथा सर्वसंशयिनां सा पारमेश्वरी वाग् अशेषसंशयोन्मूलनेन स्वभाषया परिणमते तथा प्रतिपादयति—

वासोदगस्स व जहा वन्नाई हुंति भायणविसेसा । सव्वेसिंपि सभासं जिणभासा परिणमे एवं ॥ ५७७ ॥

वर्षोदकस्य–वृष्ट्युदकस्य वाशब्दादन्यस्य वा यथैकरूपस्य सतो भाजनविशेषात् वर्णादयो भवन्ति, कृष्णासुरभिमृत्तिकायां स्वच्छं सुगन्धि रसवच्च भवति, ऊषरे तु विपरीतम्, एवं सर्वेषामपि श्रोतृणां स्वभाषया जिनभाषा परिणमते ॥ तीर्थकरवाचः सौभाग्यगुणप्रतिपादनार्थमाह—

साहारणासवत्ते तदुवओगो उ गाहगगिराए । न य निविज्जइ सोआ किढिवाणियदासिओहरणा ॥ ५७८ ॥

साधारणा भगवतो वाणी अनेकप्राणिषु स्वभाषात्वेन परिणमनात्, नरकादिभयरक्षणपरत्वात् असपत्ना–असदृशी अद्वितीया, साधारणा चासौ असपत्ना च साधारणासपत्ना तस्यां साधारणासपत्नायां सत्यां, तस्यामुपयोगस्तदुपयोग एव भवति श्रोतुः, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, कस्यां ?–ग्राहयतीति ग्राहका सा चासौ गीश्च ग्राहकगीस्तस्यां ग्राहकगिरि, उपयोगे सत्यपि अन्यत्र निर्वेदो दृश्यते, तत आह—न च निर्विद्यते श्रोता, कथमर्थः खल्ववगन्तव्य इत्याह–किढिवणिग्दास्युदाहरणात्। तच्चेदम्— एगस्स वाणियस्स एगा किढी दासी, किढी नाम थेरी, सा गोसे कट्ठाणं गया, तण्हाछुहाकिलंता मज्झण्हे आगया, अतिथोवाणि कट्ठाणि आणियाणित्ति पिट्टित्ता भुक्खियतिसिया पुणो पट्ठविया, सा य वड्ढं कट्ठभारं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

गहाय ओगाहंतीए पोरसीए आगच्छति, कालो य जेट्ठमासो, अह ताए थेरीए कइमारातो एगं कडं पडियं, ततो ताए ओणमित्ता तं गहियं, तंसमयं च जोयणनीहारिणा सरेण भयवं तित्थयरो धम्मं कहेइ, सा थेरी तं सद्दं सुणंती तहेव ओणया सोउमाढत्ता, उण्हं खुहं पिवासं परिस्समं च न विंदइ, सूरत्थमणे तित्थयरो धम्मं कहित्ता उट्ठितो, थेरी गया। एवम्—सवाउअंपि सोआ झविज्ज जइ हु सययं जिणो कहए। सीउण्हखुप्पिवासापरिस्समभएऽवि अविगणंतो ॥ ५७९ ॥

भगवति कथयति भगवत्समीपवर्त्येव सन् सर्वायुष्कमपि श्रोता क्षपयेत् यदि हु सततम्–अनवरतं जिनः कथयेत्, किंविशिष्टः सन् इत्याह—शीतोष्णक्षुत्पिपासापरिश्रमभयान्यविगणयन् ॥ गतं श्रोतृपरिणामद्वारम्, सम्प्रति दानद्वारं भाव्यते–तत्र भगवान् येषु ग्रामनगरादिषु विहरति तेभ्यो वार्त्तां ये खल्वानयन्ति तेभ्यो यत् प्रयच्छन्ति वृत्तिदानं प्रीतिदानं च चक्रवर्त्यादयस्तदुपदर्शयन्नाह—

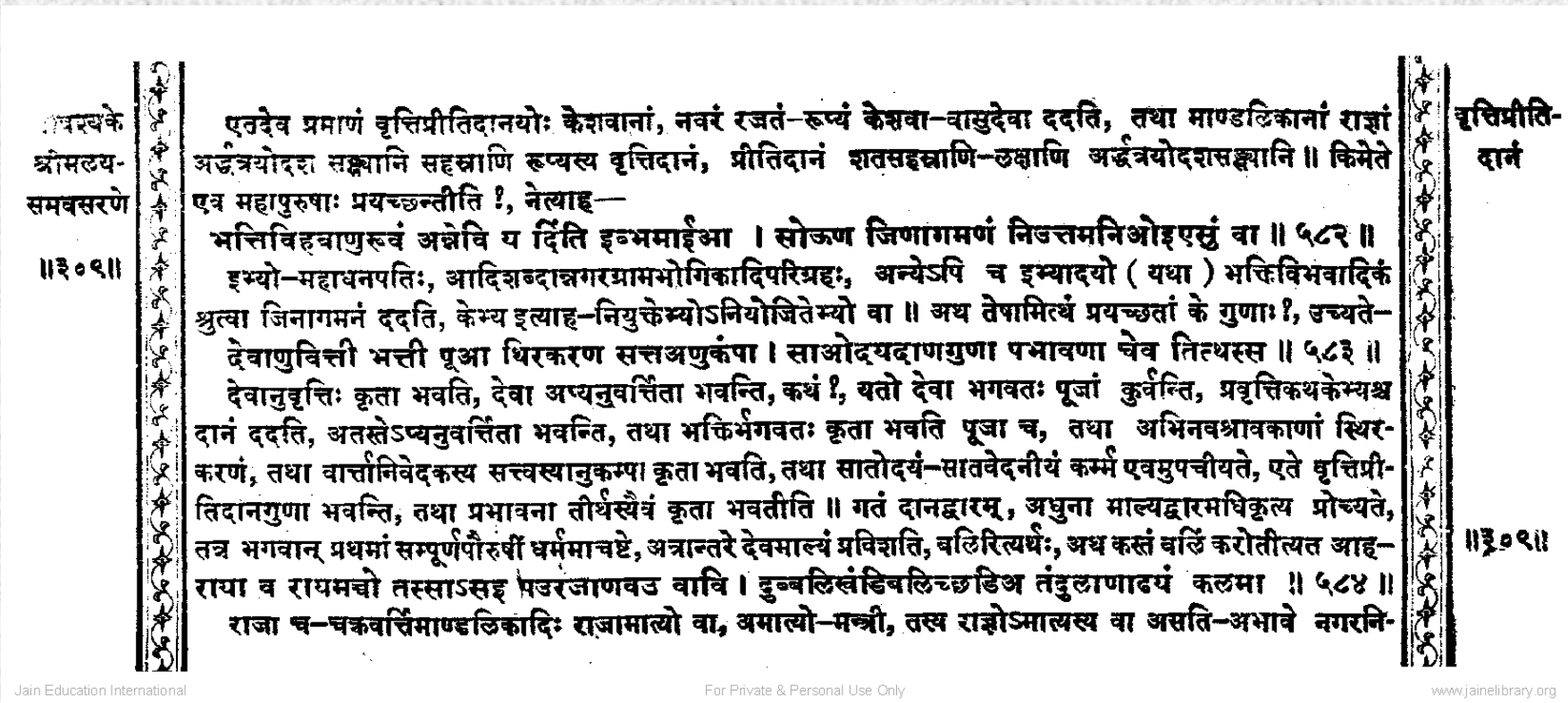
वित्ती उ सुवन्नस्सा बारस अद्धं च सयसहस्साइं। तावइयं चिय कोडी पीईदाणं तु चक्कीणं ॥ ५८० ॥

वृत्तिस्तु–वृत्तिरेव नियुक्तपुरुषेभ्यः सुवर्णस्य द्वादश शतसहस्राणि अर्द्धं च, अर्द्धत्रयोदश सुवर्णलक्षा इत्यर्थः, चक्रवर्त्तिना दीयते, तथा एतावत्य एव कोट्यः प्रीतिदानं चक्रवर्तिनः, तत्र वृत्तिर्या कालमानेन परिभाषिता नियुक्तपुरुषेभ्यो दीयते, प्रीतिदानं यद्भगवदागमने निवेदिते परमहर्षान्नियुक्तेतरेभ्यो दीयते, तथा वृत्तिः संवत्सरनियता, प्रीतिदानमनियतमिति ॥

एयं चेव पमाणं नवरं रययं तु केसवा दिंति। मंडलियाण सहस्सा वित्ती पीई सयसहस्सा ॥ ५८१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ वृत्ति एवं प्रीति-दानस्य वर्णनं आरभ्यते



...श्यके श्रीमलय- समवसरणे ॥३०९॥

एतदेव प्रमाणं वृत्तिप्रीतिदानयोः केशवानां, नवरं रजतं–रूप्यं केशवा–वासुदेवा ददति, तथा माण्डलिकानां राज्ञां अर्द्धत्रयोदश सङ्ख्यानि सहस्राणि रूप्यस्य वृत्तिदानं, प्रीतिदानं शतसहस्राणि–लक्षाणि अर्द्धत्रयोदशसङ्ख्यानि ॥ किमेते एव महापुरुषाः प्रयच्छन्तीति ?, नेत्याह—

भत्तिविहवाणुरूवं अन्नेवि य दिंति इब्भमाईआ । सोऊण जिणागमणं निउत्तमनिओइएसुं वा ॥ ५८२ ॥

इभ्यो–महाधनपतिः, आदिशब्दान्नगरग्रामभोगिकादिपरिग्रहः, अन्येऽपि च इभ्यादयो (यथा) भक्तिविभवादिकं श्रुत्वा जिनागमनं ददति, केभ्य इत्याह–नियुक्तेभ्योऽनियोजितेभ्यो वा ॥ अथ तेषामित्थं प्रयच्छतां के गुणाः ?, उच्यते–

देवाणुवित्ती भत्ती पूआ थिरकरण सत्तअणुकंपा । साओदयदाणगुणा पभावणा चेव तित्थस्स ॥ ५८३ ॥

देवानुवृत्तिः कृता भवति, देवा अप्यनुवर्त्तिता भवन्ति, कथं ?, यतो देवा भगवतः पूजां कुर्वन्ति, प्रवृत्तिकथकेभ्यश्च दानं ददति, अतस्तेऽप्यनुवर्त्तिता भवन्ति, तथा भक्तिर्भगवतः कृता भवति पूजा च, तथा अभिनवश्रावकाणां स्थिरकरणं, तथा वार्त्तानिवेदकस्य सत्त्वस्यानुकम्पा कृता भवति, तथा सातोदयं–सातवेदनीयं कर्म्म एवमुपचीयते, एते वृत्तिप्रीतिदानगुणा भवन्ति, तथा प्रभावना तीर्थस्यैवं कृता भवतीति ॥ गतं दानद्वारम्, अधुना माल्यद्वारमधिकृत्य प्रोच्यते, तत्र भगवान् प्रथमां सम्पूर्णपौरुषीं धर्ममाचष्टे, अन्तरे देवमाल्यं प्रविशति, बलिरित्यर्थः, अथ कस्तं बलिं करोतीत्यत आह–

राया व रायमच्चो तस्साऽसइ पउरजाणवउ वावि । दुब्बलिखंडिबलिच्छडिअ तंदुलाणाढयं कलमा ॥ ५८४ ॥

राजा च–चक्रवर्त्तिमाण्डलिकादिः राजामात्यो वा, अमात्यो–मन्त्री, तस्य राज्ञोऽमात्यस्य वा असति–अभावे नगरनि-

वृत्तिप्रीतिदानं

॥३०९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

वासिविशिष्टलोकसमुदायः पौरं तत् करोति ग्रामादिषु जनपदो वा, अत्र जनपदशब्देन तन्निवासी लोकः परिगृह्यते। स बलिः किंविशिष्टः किंपरिमाणो वा क्रियते ? इत्याह–'दुब्बले'त्यादि, दुर्बलिकया कण्डितानां बलीति बलिकया छटितानां तन्दुलानां कलमा इति प्राकृतशैल्या कलमानां आढकं–चतुःप्रस्थप्रमाणं करोति ॥ किंविशिष्टानामित्याह—

भाइयपुणाणिआणं अखंडफुडिआण फलगसरियाणं। कीरइ बली सुरावि य तत्थेव छुहंति गंधाइं ॥ ५८५ ॥

भाजिता–ईश्वरादिगृहेषु वीननार्थमर्पिताः प्रत्यानीतास्तेभ्यः पुनरानीताः, भाजिताश्च ते पुनरानीताश्च २ तेषां, किंविशिष्टानामित्याह–अखण्डाः–सम्पूर्णावयवा अस्फुटिताः–राजीरहिताः, अखण्डाश्च ते अस्फुटिताश्चेति विशेषणसमासः, तेषां, 'फलकसरिताणं'ति फलिकवीनितानां एवंभूतानामाढकः क्रियते, बलिः सिद्धः, सुरा अपि च तत्रैव–बलौ प्रक्षिपन्ति गन्धादीन् ॥ गतं देवमाल्यद्वारम्, अधुना माल्यानयनद्वारमभिधीयते—तमित्थं निष्पन्नं बलिं राजादयस्त्रिदशसहिता गृहीत्वा तूर्यनिनादेन दिग्मण्डलमापूरयन्तः खल्वागच्छन्ति, पूर्वद्वारेण च प्रवेशयन्ति, अत्रान्तरे भगवानपि धर्मकथामुपसंहरतीत्याह—

बलिपविसणसमकालं पुव्वदारेण ठाइ परिकहणा। तिगुणं पुरओ पाडण तस्सद्धं अवडियं देवा ॥ ५८६ ॥

पूर्वद्वारेणेति व्यवहित उपन्यासः, पूर्वद्वारेण बलेरभ्यन्तरप्राकाराभ्यन्तरे प्रवेशनं बलिप्रवेशनं तत्समकालं तिष्ठते–उपरमते धर्मकथना धर्मकथा, किमुक्तं भवति ?–अभ्यन्तरप्राकाराभ्यन्तरे यदा बलिः प्रविशति तदा भगवान् धर्मकथा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** समवसरण-मध्ये 'बलिं' विधि उपदर्शयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

मुपसंहृत्य तूष्णीकोऽवतिष्ठते, ततः स राजादिर्बलिव्यग्रहस्तो देवपरिवृतो भगवन्तं तीर्थंकरं त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य तं बलिं तत्पादान्तिके पुरतः पातयति, तस्यार्द्धमपतितं देवा गृह्णन्ति ॥

अद्धद्धं अहिवइणो अवसेसं होइ पागयजणस्स । सव्वामयप्पसमणी कुप्पइ नऽन्नो य छम्मासे ॥ ५८७ ॥

शेषस्यार्द्धस्यार्द्धमर्द्धार्धं तदधिपतेर्भवति, राज्ञ इत्यर्थः, अवशेषं यद्बलेरास्ते तद्भवति कस्य ?–प्रकृतिषु भवः प्राकृतः स चासौ जनस्तस्य । स चैवंरूपसामर्थ्यः–यद्येकमपि सिक्थं तत्सम्बन्धि यस्य शिरसि प्रक्षिप्यते तस्य पूर्वोत्पन्नो व्याधिः खलूपशमं याति, अपूर्वश्च षण्मासान् यावन्न भवति, तथा चाह–सर्वामयप्रशमनः, सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्राकृतत्वात्, कुप्यति नान्यश्च षण्मासान् यावत् ॥ इत्थं बलौ प्रक्षिप्ते भगवान् प्रथमप्राकारादुत्तरद्वारेण निर्गत्य द्वितीये प्राकारान्तरे पूर्वस्यां दिशि देवच्छन्दके यथासुखं समाधिना व्यवतिष्ठते ॥ सम्प्रति 'उवरि तित्थ'मिति द्वारमभिधीयते–भगवत्युत्थिते द्वितीयस्यां पौरुष्यामाद्यगणधरोऽन्यो वा गणधरो धर्म्ममाचष्टे, स्यान्मतिः–किं कारणं द्वितीयस्यामपि पौरुष्यां तीर्थकर एव धर्म्मं न कथयति ?, तत आह—

खेयविणोओ सीसगुणदीवणा पच्चओ उभयतोऽवि । सीसायरियक्कमोऽवि अ गणहरकहणे गुणा हुंति ॥ ५८८ ॥

खेदविनोदः–परिश्रमविनाशो भगवतो भवति, तथा शिष्यगुणदीपना–शिष्यगुणप्रख्यापना च कृता भवति, तथा प्रत्यय उभयतोऽपि श्रोतृणामुपजायते, यथा भगवताऽभ्यधायि तथा गणधरेणापि, यदिवा गणधरे तदनन्तरं तदुक्तानुवादिनि प्रत्ययः श्रोतृणां भवति, यथा नान्यथावाद्ययमिति, तथा शिष्याचार्यक्रमोऽपि दर्शितो भवति, आचार्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुपश्रुत्य योग्यशिष्येण तदर्थान्वाख्यानं कर्त्तव्यमिति, एते गणधरकथने गुणा भवन्ति ॥ आह–स गणधरः क्व निषण्णः कथयति ? उच्यते—

राओवणीयसीहासणोवविट्ठो य पायपीढे वा । जिट्ठो अन्नयरो वा गणहारि कहेइ बीयाए ॥ ५८९ ॥

राज्ञा उपनीतं राजोपनीतं तच्च तत् सिंहासनं २ तत्र वा उपविष्टः, तदभावे तीर्थकरपादपीठे वा उपविष्टो ज्येष्ठोऽन्यतरो वा गणं–साध्वादिसमुदायलक्षणं धारयितुं शीलमस्येति गणधारी कथयति, द्वितीयायां पौरुष्याम् ॥ आह–स कथयन् कथं कथयति ?, उच्यते—

संखाईएवि भवे साहइ जं वा परो उ पुच्छिज्जा । न उ(य)णं अणाइसेसी वियाणई एस छउमत्थो ॥ ५९० ॥

सङ्ख्यातीतान्, असङ्ख्येयानपीत्यर्थः, भवान् 'साहेइ' इति देशीवचनमेतत् कथयति, किमुक्तं भवति ?–असङ्ख्येयेषु भवेषु यदभवत् भविष्यति, यद्वा वस्तुजातं परः पृच्छेत् तत्सर्वं कथयति, अनेनाशेषाभिलाप्यपदार्थप्रतिपादनशक्तिरावेदिता, किं बहुना ?, 'न च' नैव णमिति वाक्यालङ्कारे अनतिशेषी–अनतिशायी, अवध्याद्यतिशयरहित इत्यर्थः, विजानाति यथा एषः–गणधरश्छद्मस्थ इति, अशेषप्रश्नोत्तरप्रदानसमर्थत्वात् तस्य, एवं तावत् समवसरणवक्तव्यता सामान्येनोक्ता, सम्प्रति प्रकृतमभिधीयते, तत्र भगवतः समवसरणे निष्पन्ने सति अत्रान्तरे देवकृतजयजयशब्दसम्मिश्रदिव्यदुन्दुभिशब्दाकर्णनोत्फुल्लनयनगगनावलोकनोपलब्धस्वर्गवधूसमेतसुरवृन्दानां यज्ञपाटकसमभ्यागतजनानां परितोषोऽभवत् अहो स्विष्टं यद्विग्रहवन्तः खल्वागता देवा इति, तथा चाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥ ३११ ॥

तं दिव्व देवघोसं सोऊणं माहणा तहिं तुट्ठा । अहो ! जन्निएण जट्ठं देवा किर आगया इहयं ॥ ५९१ ॥

तं दिव्यं देवघोषं श्रुत्वा मनुष्यास्तत्र यज्ञपाटके तुष्टाः, अहो विस्मये, यज्ञेन याजयति लोकानिति याज्ञिकः तेन इष्टं यतो देवाः किल आगता अत्रेति, किलशब्दः संशय एव, तेषामन्यत्र गमनात्, तत्र यज्ञपाटके वेदार्थविद एकादशापि गणधराः ऋत्विजः समन्वागताः ॥ तथा चाह—

इक्कारसवि गणहरा सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा । पावाइ मज्झिमाए समोसढा जन्नवाडम्मि ॥ ५९२ ॥

एकादशापि गणधराः समवसृता यज्ञपाटे इति योगः, किम्भूता इत्याह—सर्वे-निरवशेषाः उन्नताः प्रधानजातित्वात् विशालाः पितामहपितृपितृव्याद्यनेकजनसमाकुलाः कुलान्येव वंशा-अन्वया येषां ते तथाविधाः, पापायां मध्यमायां समवसृता-एकीभूता यज्ञपाटे ॥ आह—किमाद्याः किंनामानो वा ते गणधरा इति ?, उच्यते—

पढमित्थ इंदभूई बीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति । तइए अ वाउभूई तओ विअत्ते सुहम्मे अ ॥ ५९३ ॥

मंडिअ मोरिअपुत्ते अकम्पिए चेव अयलभाया य । मेअज्जे अ पभासे गणधरा हुंति वीरस्स ॥ ५९४ ॥

प्रथमोऽत्र गणधरमध्ये इन्द्रभूतिः द्वितीयः पुनर्भवति अग्निभूतिस्तृतीयो वायुभूतिश्चतुर्थो व्यक्तः, पञ्चमः सुधर्मस्वामी, षष्ठो मण्डिकपुत्रः सप्तमो मौर्यपुत्रः, पुत्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, अष्टमोऽकम्पिकः नवमोऽचलभ्राता दशमो मेतार्यः एकादशः प्रभासः, एते गणधरा भवन्ति वीरस्य ॥

जंकारण निक्खमणं वुच्छं एएसिं आणुपुवीए । तित्थं च सुहम्माओ निरवचा गणहरा सेसा ॥ ५९५ ॥

गणधरदेशना ११ गणधराः ॥ ३११ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ भगवन् महावीरस्य ११ गणधरानाम् शङ्का-समाधान-आदि वृतांतानि वर्णयन्ते

यत्कारणं–यन्निमित्तं निष्क्रमणं यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तत् एतेषां गणधराणामानुपूर्व्या–परिपाट्या वक्ष्ये, तथा तीर्थं सुधर्मात्–पञ्चमात् गणधरात् जातं, यतो निरपत्याः–शिष्यरहिताः शेषाः–इन्द्रभूत्यादयो गणधराः ॥ तत्र जीवादिसंशयापनोदनिमित्तं गणधरनिष्क्रमणमितिकृत्वा यो यस्य संशयस्तदुपदर्शनार्थमाह—

जीवे कम्मे तज्जीव भूअ तारिसय बन्ध मुक्खे य । देवा नेरइया वा पुन्ने परलोअ निव्वाणे ॥ ५९६ ॥

आद्यस्य गणभृतो जीवे संशयः, किमस्ति नास्तीति, द्वितीयस्य कर्म्मणि, यथा ज्ञानावरणीयादिलक्षणं कर्म्म किमस्ति किं वा नास्तीति, तृतीयस्य 'तज्जीवे'ति किं तदेव शरीरं स एव जीवः किं वाऽन्य इति, न पुनर्जीवसत्तायां तस्य संशयः, चतुर्थस्य भूतेषु संशयः, किं पृथिव्यादीनि भूतानि सन्ति किं वा नेति ?, पञ्चमस्य 'तारिसय'त्ति किं यो यादृश इह भवे सोऽन्यस्मिन्नपि भवे तादृश एव उतान्यथापीति संशयः, षष्ठस्य बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षं तस्मिन् संशयो-यथा बन्धमोक्षौ स्तः किं वा नेति, आह—कर्म्मसंशयादस्य को विशेषः ?, उच्यते, स कर्मसत्तागोचरः, अयं तु तदस्तित्वे सत्यपि जीवकर्म्मसंयोगविभागगोचर इति, सप्तमस्य किं देवाः सन्ति किं वा न सन्तीतिसंशयः, अष्टमस्य नारकाः संशयगोचरः, किं ते सन्ति किं वा न सन्तीति, नवमस्य पुण्ये संशयः, कर्मणि सत्यपि किं पुण्यमेव प्रकर्षप्राप्तं प्रकृष्टसुखहेतुः तदेव चापचीयमानमत्यन्तस्वल्पावस्थं दुःखस्य, उत तदतिरिक्तं पापमस्ति, आहोस्विदेकमेवोभयरूपमुत स्वतन्त्रमुभयमिति, दशमस्य परलोके संशयः, सत्याप्यात्मनि परलोको–भवान्तरलक्षणः किमस्ति किं वा नास्तीति, एकादशस्य निर्वाणे संशयः, निर्वाणं किमस्ति किं वा नेति, आह–बन्धमोक्षसंशयादस्य को विशेषः ?, उच्यते—स ह्युभयगो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

चरः, अयं तु केवलविभागविषय एव, तथा किं संसाराभावमात्र एव मोक्षः किं वाऽन्य इत्यादि ॥ साम्प्रतं गणधरपरिवारमानप्रदर्शनार्थमाह—

पंचण्हं पंच सया अद्धुट्ठसया य हुंति दुण्ह गणा। दुण्हं तु जुअलयाणं तिसओ तिसओ हवइ गच्छो ॥५९७॥

पञ्चानामाद्यानां गणधराणां प्रत्येकं परिवारः पञ्च शतानि, तथा अर्द्धं चतुर्थस्य येषु तानि अर्द्धचतुर्थानि अर्द्धचतुर्थानि शतानि मानं ययोस्तौ अर्द्धचतुर्थशतौ भवतो द्वयोः प्रत्येकं गणौ, इह गणः समुदाय एवोच्यते, न पुनरागमिकः, तथा द्वयोर्गणधरयुगलकयोः प्रत्येकं त्रिशतत्रिशतो गच्छः, किमुक्तं भवति ?–उपरिस्थितानां चतुर्णां गणभृतां प्रत्येकं प्रत्येकं त्रिशतमानः परिवारः ॥ उक्तमानुषङ्गिकं, प्रकृतमुच्यते—ते हि देवास्तं यज्ञपाटं परिहृत्य समवसरणभुवि निपतितवन्तः, तांश्च तथा दृष्ट्वा लोकोऽपि तत्रैव जगाम, भगवन्तं त्रिदशलोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा अतीव हर्षं चक्रे, प्रवादश्च सञ्जातः–सर्वज्ञोऽत्र समवसृतस्तं देवाः पूजयन्तीति, अत्रान्तरे श्रुत्वाकर्णितसर्वज्ञप्रवादोऽमर्षाध्मात इन्द्रभूतिर्भगवन्तं प्रति प्रस्थितः, तथा चाह—

सोऊण कीरमाणिं महिमं देवेहिं जिणवरिंदस्स। अह एइ अहंमाणी अमरिसिओ इंदभूइत्ति ॥ ५९८ ॥

श्रुत्वा–जनपरम्परात आकर्ण्य, पाठान्तरतो दृष्ट्वा वा, महिमां—पूजां देवैः क्रियमाणां जिनवरेन्द्रस्य भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः, अथास्मिन् प्रस्ताव एति—आगच्छति भगवत्समीपम्, अहमेव विद्वानिति मानोऽस्येति अहंमानी अमर्षितोऽमर्षो–मत्सरविशेषः स सञ्जातोऽस्य सोऽमर्षितः, मयि सति कोऽन्यः सर्वज्ञ इत्यपनयाम्यद्य सर्वज्ञवादमित्यादि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सङ्कल्पकलुषितान्तरात्मा, कोऽसावित्याह—इन्द्रभूतिरिति नाम्ना प्रथितः, स भगवत्समीपं प्राप्य भगवन्तं च चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितं देवासुरनरेश्वरपरिवृतं दृष्ट्वा साशङ्कस्तदग्रतस्तस्थौ ॥ एतदेव सविस्तरं भाष्यकार आह—

मुत्तूण ममं लोगो, किं वच्चइ एस तस्स पामूले ?। अन्नोऽवि जाणइ मए ठिअम्मि कत्तुचियं एयं ? ॥१२०॥

मां सकलशास्त्रपारगं मुक्त्वा किमेष लोकस्तस्य पादमूलं व्रजति ?, न चासौ मदपेक्षया किमपि जानाति, तथाहि—मयि प्रतिवादिनि स्थितेऽन्योऽपि किमपि जानातीति कौतस्त्यमेतत् ?, न चैतत्सम्भवतीति भावः ॥ पुनरप्याह—

वच्चिज्ज व मुक्खजणो देवा कहऽणेण विम्हयं नीया ?। वंदंति संथुणंति अ जेणं सव्वण्णुबुद्धीए ॥ १२१ ॥

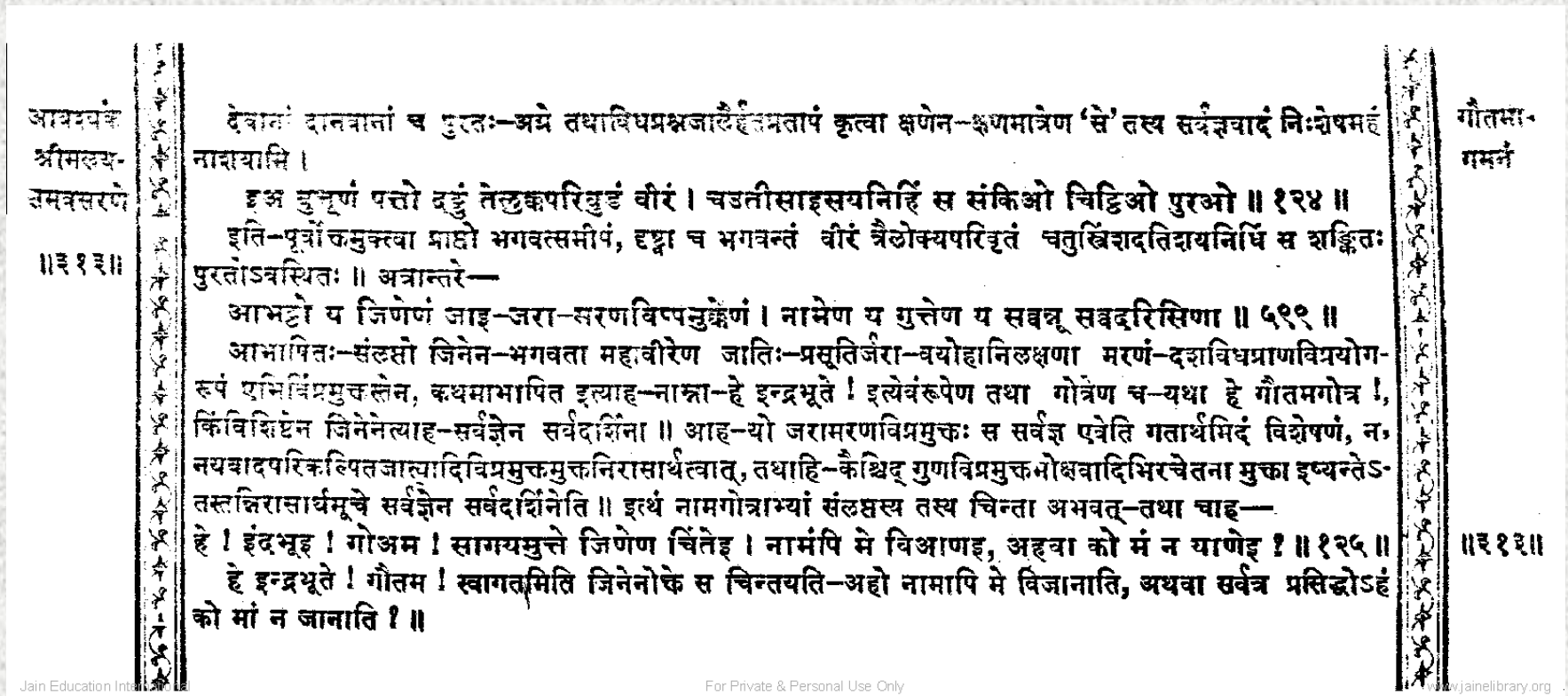
व्रजेद्वा तत्पादमूलं मूर्खजनो, मूर्खतया युक्तायुक्तविवेकविकलत्वात्, देवास्तु कथमनेन विस्मयं नीताः ?, येन विस्मयनयनेन सर्वज्ञबुद्ध्या तं वन्दन्ते संस्तुवन्ति च ।

अहवा जारिसओ चिय सो नाणी तारिसा सुरा तेऽवि । अणुसरिसो संजोगो गामनडाणं व मुक्खाणं ॥१२२॥

अथवा यादृश एव स ज्ञानी तेऽपि सुरास्तादृशा एव, मूर्खा इत्यर्थः, ततोऽनुसदृशं—अनुरूपः संयोगस्तस्य ज्ञानिनः एतेषां च देवानां, कयोरिवेत्याह—ग्रामनटयोरिव मूर्खयोः, यथा ग्रामो मूर्खो नटोऽपि च तथाविधविद्याविकलत्वात् मूर्ख इति परस्परं तयोः संदोहोऽनुरूपः, एवमेषोऽपीति ॥

काउं इयप्पयावं पुरतो देवाण दाणवाणं च । नासेइ नीसेसं खवेण सव्वण्णुभावं से ॥ १२३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यकं श्रीमलय-गिरीयं समवसरणे ॥३१३॥

देवानां दानवानां च पुरतः–अग्रे तथाविधप्रश्नजालैर्हतप्रतापं कृत्वा क्षणेन–क्षणमात्रेण 'से' तस्य सर्वज्ञवादं निःशेषमहं नाशयामि ।

इअ चुण्णं पत्तो दट्ठुं तेलुक्कपरिवुडं वीरं । चउतीसाइसयनिहिं स संकिओ चिट्ठिओ पुरओ ॥ १२४ ॥

इति–पूर्वोक्तमुक्त्वा प्राप्तो भगवत्समीपं, दृष्ट्वा च भगवन्तं वीरं त्रैलोक्यपरिवृतं चतुस्त्रिंशदतिशयनिधिं स शङ्कितः पुरतोऽवस्थितः ॥ अत्रान्तरे—

आभट्ठो य जिणेणं जाइ–जरा–मरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गुत्तेण य सव्वन्नू सव्वदरिसिणा ॥ ५९९ ॥

आभाषितः–संलप्तो जिनेन–भगवता महावीरेण जातिः–प्रसूतिर्जरा–वयोहानिलक्षणा मरणं–दशविधप्राणविप्रयोग-रूपं एभिर्विप्रमुक्तस्तेन, कथमाभाषित इत्याह–नाम्ना–हे इन्द्रभूते ! इत्येवंरूपेण तथा गोत्रेण च–यथा हे गौतमगोत्र !, किंविशिष्टेन जिनेनेत्याह–सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना ॥ आह–यो जरामरणविप्रमुक्तः स सर्वज्ञ एवेति गतार्थमिदं विशेषणं, न, नयवादपरिकल्पितजात्यादिविप्रमुक्तमुक्तनिरासार्थत्वात्, तथाहि–कैश्चिद् गुणविप्रमुक्तमोक्षवादिभिरचेतना मुक्ता इष्यन्तेऽ-तस्तन्निरासार्थमूचे सर्वज्ञेन सर्वदर्शिनेति ॥ इत्थं नामगोत्राभ्यां संलप्तस्य तस्य चिन्ता अभवत्–तथा चाह—

हे ! इंदभूइ ! गोअम ! सागयमुत्ते जिणेण चिंतेइ । नामंपि मे विआणइ, अहवा को मं न याणेइ ? ॥ १२५ ॥

हे इन्द्रभूते ! गौतम ! स्वागतमिति जिनेनोक्ते स चिन्तयति–अहो नामापि मे विजानाति, अथवा सर्वत्र प्रसिद्धोऽहं को मां न जानाति ? ॥

गौतमा-गमनं

॥३१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ प्रथम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

जइ वा हिअयगयं मे संसय मन्निज्ज अहव छिंदिज्जा । ता हुज्ज विम्हओ मे इय चिंतंतो पुणो भणिओ॥१२६॥

यदि मे हृद्गतं संशयं मन्येत–जानीयात्, अथवा छिन्द्यात्–अपनयेत्, ततो मे विस्मयो भवेत्–भविष्यति इति चिन्तयन् पुनरपि भगवता भणितः॥ किं भणित इत्याह—

किं मन्नि अत्थि जीवो उयाहु नत्थित्ति संसयो तुज्झ । वेय पयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो॥६००॥

हे गौतम ! किं मन्यसे–अस्ति जीवः उत नास्तीति, नन्वयमनुचित एव तव संशयः, यतोऽयं संशयस्ते विरुद्धवेदपद-श्रुतिनिबन्धनः, तेषां च वेदपदानानर्थं न जानासि, यथा न जानासि तथा वक्ष्यामः, तेषामयमर्थो–वक्ष्यमाणस्वरूपः, अन्ये तु किंशब्दं परिप्रश्नार्थे व्याचक्षते, तच्च न युज्यते, भगवतः सकलसंशयातीतत्वात्, संशयवतः परिप्रश्नार्थः किंश-ब्दप्रयोगो, यथा किमित्थमन्यथा वेति, अथवा किमस्ति जीव उत नास्ति इति मन्यसे, अयं तव संशय इत्येवं व्याख्येयं, शेषं तथैव, यदुक्तं संशयस्तव विरुद्धपदश्रुतिनिबन्धन इति, तान्यमूनि वेदपदानि—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती'त्यादि, तथा 'स वै अयमात्मा ज्ञानमय' इत्यादीनि च, एतेषां च वेदपदानामयमर्थो भवच्चेतसि विपरिवर्त्तते–विज्ञानमेव–चैतन्यमेव घनो–नीलादिरूपत्वात् विज्ञानघनः स एव एतेभ्यः— अध्यक्षतः परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्यः पृथिव्यादिलक्षणेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय—उत्पद्य पुनस्तान्येवानु विनश्यति–तान्येव भूतानि अनुसृत्य विनश्यति, तत्रैवाव्यक्तरूपतया संलीनं भवतीति भावः, न प्रेत्य संज्ञास्ति—मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्येत्यु-च्यते न तत्संज्ञास्ति, न परलोकसंज्ञास्तीति भावः, ततः कुतो जीवः ?, युक्त्युपपन्नश्चायमर्थ इति ते मतिः, यतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते, अतीन्द्रियत्वात्, नाप्यनुमानेन, यतस्तल्लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धपूर्वकं, न चात्र लिङ्गस्य लिङ्गिना सह सम्बन्धः प्रत्यक्षगम्यो, लिङ्गिनोऽतीन्द्रियत्वात्, नाप्यनुमानगम्योऽनवस्थाप्रसक्तेः, तदपि हि लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहण-पूर्वकं, तत्रापि चेयमेव वार्त्ता इत्यनवस्थानुषङ्गः। नाप्यागमगम्यः, परस्परविरुद्धार्थतया तेषामागमानां प्रमाणत्वाभावात्, तथाहि—केचिदेवमाहुः—एतावानेव लोकोऽयं, यावानिन्द्रियगोचरः। भद्रे! वृकपदं पश्य, वदन्त्यबहुश्रुताः॥ १॥ इत्यादि, अपरे प्राहुः—"न रूपं भिक्षवः पुद्गलो"इत्यादि, पुद्गले रूपं निषेधयन्ति, अमूर्त्त आत्मेत्यर्थः, अन्ये पुनरेवं—'अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता'इत्यादि, अपरे एवं—"स वै अयमात्मा ज्ञानमय'इत्यादि, नचैते सर्व एव प्रमाणं, परस्पर-विरोधेन, एकार्थाभिधायिपरस्परविरुद्धवाक्यपुरुषव्रातवत्, अतो न विद्मः—किमस्ति नास्तीत्ययं तवाभिप्रायः, तत्र वेदपदानां चार्थं न जानासि, यशब्दात् युक्तिं हृदयं च, तथाहि—वेदपदानामयमर्थः—विज्ञानघन एवेति ज्ञानोपयो-गदर्शनोपयोगरूपं विज्ञानं ततोऽनन्यत्वात् आत्मा विज्ञानघनः, प्रतिप्रदेशमनन्तविज्ञानपर्यायसङ्घातात्मकत्वाद्वा विज्ञा-नघनः, एवशब्दोऽवधारणे विज्ञानघनादनन्यत्वात् विज्ञानघन एव, एतेभ्यो भूतेभ्यः—क्षित्युदकादिभ्यः समुत्थाय—कथञ्चिदुत्पद्येति, घटविज्ञानपरिणतो हि आत्मा घटाद् भवति, तद्विज्ञानक्षयोपशमस्य तत्सापेक्षत्वाद्, अन्यथा निरालम्ब-नतया तस्य मिथ्यात्वप्रसक्तेः, एवं सर्वत्र भावनीयं, तत उक्तं—तेभ्यः समुत्थाय कथञ्चिदुत्पद्येति, पुनस्तान्येव-भूतानि 'अनु विनश्यति' तेषु विवक्षितेषु भूतेषु व्यवहितेषु अपगतेषु वा आत्मापि तेन विज्ञानघनात्मना उपरमतेऽन्यविज्ञानात्मना उत्पद्यते, यदिवा सामान्यचैतन्यरूपतयाऽवतिष्ठते इति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति—न प्राक्तनी घटादिविज्ञानसंज्ञाऽवतिष्ठते,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्प्रतविज्ञानोपयोगविघ्नितत्वात्, अथवा एवं व्याख्या–विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानु विनश्यतीत्येतन्न, यतः प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति–परलोकसंज्ञास्ति ॥ यदप्युक्तं–नासौ प्रत्यक्षेण परिगृह्यते इति तदप्यसमीचीनम्, आत्मनः प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धत्वात्, तथाहि–स्वसंविदिता एवावग्रहेहापायादयः उत्पद्यन्ते व्यवन्ते वा, ततस्तद्गुणस्य स्वसंविदितत्वात्सिद्धमात्मनः प्रत्यक्षत्वं, अथ ब्रवीथा भूतगुणश्चैतन्यं, तथा च वेदेऽप्युक्तम्, 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाये'त्यादि, ततः कथं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे आत्मनः प्रत्यक्षत्वं ?, ज्ञानस्यात्मगुणत्वाभावात्, तदयुक्तं, भूतगुणत्वे सति पृथिव्याः काठिन्यस्येव सर्वत्र सर्वदा चोपलम्भप्रसङ्गात्, न च सर्वत्र सर्वदा चोपलभ्यते चैतन्यं, लोष्टादौ मृतावस्थायां चानुपलम्भात्, अथ तत्रापि चैतन्यमस्ति केवलं शक्तिरूपेण ततो नोपलभ्यते, तदसम्यक्, विकल्पद्वयानतिक्रमात्, सा हि शक्तिश्चैतन्याद्विलक्षणा उत चैतन्यमेव ?, यदि विलक्षणा ततः कथमुच्यते शक्तिरूपेण चैतन्यमस्ति, नहि पटे विद्यमाने पटरूपेण घटस्तिष्ठतीति वक्तुं शक्यं, तथा चाहान्योऽपि—"रूपान्तरेण यदि तत्तदेवास्तीति मा रटीः । चैतन्यादन्यरूपस्य, भावे तद्विद्यते कथम् ? ॥ १ ॥ अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि चैतन्यमेव सा, कथमनुपलम्भः ?, आवृतत्वादनुपलम्भ इति चेत्, नन्वावृतिरावरणं, तच्चावरणं किं भूतानां विवक्षितपरिणामाभाव उत परिणामान्तरं आहोस्विदन्यदेव भूतातिरिक्तं किञ्चित् ?, तत्र न तावद्विवक्षितपरिणामाभावः, एकान्ततुच्छरूपतया तस्यावारकत्वायोगात्, अन्यथा तस्याप्यतुच्छरूपतया भावरूपतापत्तिः, भावत्वे च पृथिव्यादीनामन्यतमो भावो भवेत् 'पृथिव्यादीन्येव भूतानि तत्त्व'मिति वचनात्, पृथिव्यादीनि च भूतानि चैतन्यस्य व्यञ्जकानि नावारकाणीति कथमावारकत्वं तस्योपपत्तिमत् ?, अथ परि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

णामान्तरं तदयुक्तं, परिणामान्तरस्यापि भूतस्वभावतया भूतवत् व्यञ्जकत्वस्योपपत्तेर्नावारकत्वस्य, अथान्यदेव भूतातिरिक्तं किञ्चित् तदतीवासमीचीनं, भूतातिरिक्ताभ्युपगमे 'चत्वार्येव पृथिव्यादीनि भूतानि तत्त्व'मिति तत्त्वसङ्ख्याव्याघातप्रसङ्गात्, अपि च–इदं चैतन्यं प्रत्येकं वा भूतानां धर्मः समुदायस्य वा?, न तावत्प्रत्येकमनुपलम्भात्, नहि प्रतिपरमाणु संवेदनमुपलभ्यते, अपि च यदि प्रतिपरमाणु संवेदनं भवेत्तर्हि पुरुषसहस्रचैतन्यवृन्दमिव परस्परं भिन्नस्वभावमिति नैकरूपं भवेत्, अथ चैकरूपमुपलभ्यते, अहं पश्यामि अहं करोमीत्येवं सकलशरीराधिष्ठानादेकरूपतयाऽनुभवात्, अथ समुदायस्य धर्म्मस्तदप्यसत्, प्रत्येकमभावात्, नहि प्रत्येकं यदसत्तत्समुदाये भवति, यथा रेणुषु तैलं, स्यादेतद्–यद्वत् मद्याङ्गेषु प्रत्येकं मदशक्तिरदृष्टापि समुदायेऽपि भवन्ती दृश्यते तद्वच्चैतन्यमपि भविष्यति को दोषः?, तदसम्यक्, प्रत्येकमपि मद्याङ्गेषु मदशक्त्यनुयायिमाधुर्यादिगुणदर्शनात्, तथाहि—दृश्यते माधुर्यमिक्षुरसे धातकीपुष्पेषु च मनाक् विकलतोत्पादकत्वादि, न चैवं चैतन्यं सामान्यतोऽपि भूतेषु प्रत्येकमुपलभ्यते, ततः कथं समुदाये तद्भवितुमर्हति?, मा प्रापत्सर्वत्र सर्वस्य भावप्रसक्त्याऽतिप्रसङ्गः, किञ्च–यदि चैतन्यं भूतधर्म्मत्वेन प्रतिपन्नं ततोऽवश्यमस्यानुरूपो धर्मी प्रतिपत्तव्यः, आनुरूप्याभावे जतुकाठिन्ययोरिव परस्परं धर्म्मधर्म्मिभावानुपपत्तेः, न च चैतन्यं भूतानुरूपो धर्मी, वैलक्षण्यात्, तथाहि—चैतन्यं बोधस्वरूपममूर्त्तं च, भूतानि च तद्विलक्षणानि, ततः कथं परस्परमेषां धर्मधर्मिभावसंभवः?, न च चैतन्यमिदं भूतानां कार्यं, अत्यन्तविलक्षणतया कार्यकारणभावस्याप्ययोगात्, तथा चोक्तम्—"काठिन्याबोधरूपाणि, भूतान्यध्यक्षसिद्धितः। चेतना च न तद्रूपा, सा कथं तत्फलं भवेत्?॥१॥" अपि च—यदि भूतकार्यं चैतन्यं तर्हि किं न सकलमपि जगत्

Jain Education Inte For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणिमयं भवति, परिणतिविशेषसद्भावाभावादिति चेत्, ननु सोऽपि परिणतिविशेषसद्भावः सर्वत्रापि कस्मान्न भवति ? सोऽपि हि भूतमात्रनिमित्तक एव, ततः कथं तस्यापि क्वचित्कदाचिद्भावः ?, अन्यच्च–स किंरूपः परिणतिविशेष इति वाच्यम् ?, कठिनत्वादिरूप इति चेत्, तथाहि—काष्ठादिषु दृश्यन्ते घुणादिजन्तवो जायमानास्ततो यत्र कठिनत्वादिविशेषस्तत्प्राणिमयं न शेषमिति, तदप्यसत्, व्यभिचारदर्शनात्, तथाहि—अविशिष्टेऽपि कठिनत्वादिविशेषे क्वचिद्भवति, क्वचित्कठिनत्वादिविशेषमन्तरेणापि संस्वेदजा नभसि च संमूर्च्छिमा जायन्ते, किञ्च–समानयोनिका अपि विचित्रवर्णसंस्थानाः प्राणिनो दृश्यन्ते, तथा गोमयाद्येकयोनिसम्भविनोऽपि केचिन्नीलतनवोऽपरे पीतकाया अन्ये विचित्रवर्णाः, संस्थानमप्येतेषां परस्परं विभिन्नं, तद्यदि भूतमात्रनिमित्तं चैतन्यं तत एकयोनिकाः सर्वेऽप्येकवर्णसंस्थाना भवेयुर्न च भवन्ति, तस्मादात्मान एव तत्तत्कर्मवशात् तथा तथोत्पद्यन्ते इति ॥ स्यादेतत्—आगच्छन् गच्छन् वा आत्मा नोपलभ्यते, केवलं देहे सति संवेदनमुपलभामहे, देहाभावे च भस्मावस्थायां न, तस्मान्नात्मा, किन्तु संवेदनमात्रमेवैकं, तच्च देहकार्यं देह एव च समाश्रितं, कुड्ये चित्रवत्, नहि चित्रं कुड्यविरहितमवतिष्ठते, नापि कुड्यान्तरं सङ्क्रामति, आगतं वा कुड्यान्तरात्, किंतु कुड्य एवोत्पन्नं कुड्य एव च विलीयते, एवं संवेदनमपि, तदप्यसत्, आत्मा हि स्वरूपेणामूर्त्तः, आन्तरमपि शरीरमतिसूक्ष्मत्वान्न चक्षुर्विषयः, तदुक्तमन्यैरपि—"अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते ।निष्क्रामन् प्रविशन् वापि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥ १ ॥" तत आन्तरशरीरयुक्तोऽप्यात्मा आगच्छन् गच्छन् वा नोपलभ्यते, लिङ्गतस्तूपलभ्यते, तथाहि—कृमेरपि जन्तोस्तत्कालोत्पन्नस्याप्यस्ति निजशरीरविषयः प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्धः, उपघातकमुपलभ्य पलायनदर्शनात्, यश्च यद्विषयः प्रतिबन्धः स तद्विषयपरिशीलनाभ्यासपूर्वकः, तथा दर्शनात्, न खल्वत्यन्तापरिज्ञातगुणदोषवस्तुविषये कस्याप्याग्रह उपजायते, ततो जन्मादौ शरीराग्रहः शरीरपरिशीलनाभ्यासजनितसंस्कारनिबन्धन इति सिद्धमात्मनो जन्मान्तरादागमनं, तथा च केचित् पठन्ति—"शरीराग्रहरूपस्य, चेतसः सम्भवो यदा। जन्मादौ देहिनो दृष्टः, किं न जन्मान्तरागतिः ? ॥ १ ॥" अथागतिः प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते ततः कथमनुमानादवसीयते, नैष दोषः, अनुमेयविषये प्रत्यक्षवृत्तेरनभ्युपगमात्, परस्परविषयपरिहारेण हि प्रत्यक्षानुमानयोः प्रवृत्तिरिष्यते, ततः कथं स एष दोषः ?, आह च—"अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्षमिति कैवात्र दुष्टता ?। अध्यक्षस्यानुमानस्य, विषयो विषयो नहि ॥ १ ॥" अथ तज्जातीयेऽपि प्रत्यक्षवृत्तिमन्तरेण कथमनुमानमुदयितुमुत्सहते ?, न खलु यस्याग्निविषया प्रत्यक्षवृत्तिर्महानसेऽपि नासीत् तस्यान्यत्र क्षितिधरादौ धूमात् धूमध्वजानुमानं भवति, तदप्यसम्यक्, अत्रापि तज्जातीये प्रत्यक्षवृत्तिभावात्, तथाहि—आग्रहोऽन्यत्र परिशीलनाभ्यासप्रवृत्तः प्रत्यक्षत एवोपलब्धस्ततस्तदुपष्टम्भेनेहाप्यनुमानं प्रवर्त्तते, उक्तं च—आग्रहस्तावदभ्यासात्, प्रवृत्त उपलभ्यते। अन्यत्राध्यक्षतः साक्षात्ततो देहेऽनुमा न किम् ? ॥ १ ॥" योऽपि चित्रदृष्टान्तः प्रागुपन्यस्तः सोऽप्ययुक्तो, वैषम्यात्, तथाहि—चित्रमचेतनं गमनस्वभावरहितं च, आत्मा च चेतनः कर्म्मवशात् गत्यागती च कुरुते, ततः कथं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यम् ?, ततो यथा कश्चिद्देवदत्तो विवक्षिते ग्रामे कतिपयदिनानि गृहारम्भं कृत्वा ग्रामान्तरे गृहान्तरमास्थायावतिष्ठते, तद्वदात्माऽपि विवक्षिते भवे देहं परिहाय भवान्तरे देहान्तरमारचय्यावतिष्ठते। यच्चोक्तम्—'तच्च संवेदनं देहकार्य'मिति, तन्न, चाभुक्तादिकं संवे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दनं देहाश्रितमपि कथञ्चिद्भवतु, चक्षुरादीन्द्रियद्वारेण तस्योत्पत्तिसम्भवात्, वत्तु मानसं तत्कथं ?, नहि तद्देहकार्यमुपपत्तिमत्, युक्त्ययोगात्, तथाहि—तन्मानसं ज्ञानं देहादुत्पद्यमानमिन्द्रियरूपाद्वा समुत्पद्येत अनिन्द्रियरूपाद्वा केशनखादिलक्षणात् ?, तत्र न तावदाद्यः पक्षः, इन्द्रियरूपात् तदुत्पत्तावि न्द्रियबुद्धिवद् वर्त्तमानार्थग्रहणप्रसक्तेः, इन्द्रियं हि वार्त्तमानिक एवार्थे व्याप्रियते, तत्सामर्थ्यादुपजायमानं मानसमपि ज्ञानं पञ्चेन्द्रियज्ञानमिव वर्त्तमानार्थग्रहणपर्यवसितसत्ताकमेव भवेत्, अथ यदा चक्षू रूपविषये व्याप्रियते तदा रूपे विज्ञानमुत्पादयति न शेषकालं, ततस्तद्रूपविज्ञानं वर्त्तमानार्थविषयं, वर्त्तमान एवार्थे चक्षुषो व्यापारात्, रूपविषयव्यावृत्त्यभावे च मनोज्ञानं, ततो न तत्प्रतिनियतकालविषयं, एवं शेषेष्वपि इन्द्रियेषु वाच्यं, ततः कथमिव मनोज्ञानस्य वर्त्तमानार्थग्रहणप्रसक्तिः ?, तदसाधीयो, यत इन्द्रियाश्रितं तदुच्यते यदिन्द्रियव्यापारमनुसृत्योपजायते इन्द्रियाणां च व्यापारः प्रतिनियते एव वार्त्तमानिके स्वस्वविषये, मनोज्ञानमपि यदीन्द्रियव्यापाराश्रितं तत ऐन्द्रियज्ञानमिव वार्त्तमानिकार्थग्राहकमेव भवेत्, अन्यथा इन्द्रियाश्रितमेव तन्न स्यात्, तथा च केचित्पठन्ति—"अक्षव्यापारमाश्रित्य, भवदक्षजमिष्यते। तदव्यापारो न तत्रेति, कथमक्षभवं भवेत् ? ॥१॥" अथानिन्द्रियरूपादिति पक्षस्तदप्ययुक्तः, तस्याचेतनत्वात्, नन्वचेतनत्वादिते कोऽर्थः ?, यदि इन्द्रियविज्ञानरहितत्वादिति, तदिष्यत एव, यदि नामेन्द्रियविज्ञानं ततो न भवति मनोविज्ञानं तु कस्मात् न भवति ?, मनोविज्ञानं नोत्पादयतीत्यचेतनत्वं तदा तदेव विचार्यमाणमिति प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धो हेतुः, तदप्यसत्, अचेतनत्वादिति किमुक्तं भवति ?—स्वनिमित्तविज्ञानैः स्फुरच्छिद्रपतयाऽनुपलब्धेः, स्पर्शादयो हि स्वस्वनिमित्तविज्ञानैः स्फुरच्छिद्रपतया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलभ्यन्ते, कथं तेभ्यो मनोज्ञानं भवतीति प्रतियन्ति सुधियः, आह च—"चेतयन्तो न दृश्यन्ते, केशश्मश्रुनखादयः । ततस्तेभ्यो मनोज्ञानं, भवतीत्यतिसाहसम् ॥ १ ॥" अपिच—यदि केशनखादिप्रतिबद्धं मनोज्ञानं ततस्तदुच्छेदे मूलत एव न स्यात्, तदुपघाते चोपहतं भवेत्, नच भवति, तस्माज्ञायं पक्षः क्षोदक्षमः । किञ्च—मनोज्ञानस्य सूक्ष्मार्थभेक्तृत्वस्मृतिपाटवादयो विशेषा अन्वयव्यतिरेकाभ्यामभ्यासपूर्वका दृष्टाः, तथाहि—तदेव शास्त्रमीहापोहादिप्रकारेण यदि पुनः पुनः परिभाव्यते ततः सूक्ष्मतरार्थावबोध उल्लसति स्मृतिपाटवं चापूर्वमुज्जृम्भते, एवं चैकशास्त्राभ्यासतः सूक्ष्मार्थभेक्तृत्वशक्तौ पाटवशक्तौ चोपजातायामन्येष्वपि शास्त्रान्तरेषु अनायासेनैव सूक्ष्मार्थावबोधः स्मृतिपाटवं चोल्लसति, तदेवमभ्यासहेतुकाः सूक्ष्मार्थभेक्तृत्वादयो मनोज्ञानस्य विशेषा दृष्टाः, अथ च कस्यचिदिदं जन्माभ्यासव्यतिरेकेणापि दृश्यते, ततोऽवश्यं पारलौकिकाभ्यासहेतुका इति प्रतिपत्तव्यं, कारणेन सह कार्यस्यान्यथानुपपन्नत्वप्रतिबन्धतोऽदृष्टतत्कारणस्यापि तत्कार्यत्वविनिश्चितेः, ततः सिद्धः परलोकयायी जीवः, सिद्धे च तस्मिन् परलोकयायिनि यदि कथञ्चिदुपकारी चाक्षुषादेर्विज्ञानस्य देहो भवेत् भवतु न कश्चिद्दोषः, क्षयोपशमहेतुतया देहस्यापि कथञ्चिदुपकारित्वाभ्युपगमात्, न चैतावता तन्निवृत्तौ सर्वथा तन्निवृत्तिः, नहि वह्नेरासादितविशेषो घटो वह्निनिवृत्तौ समूलोच्छेदं निवर्त्तते, केवलं विशेष एव कश्चनापि, यथा सुवर्णद्रवता, एवमिहापि देहनिवृत्तौ ज्ञानविशेष एव कोऽपि तत्प्रतिबद्धो निवर्त्तेत, न पुनः समूलं ज्ञानमपि, यदि पुनर्देहमात्रनिमित्तकमेव विज्ञानमिष्येत देहनिवृत्तौ च निवृत्तिमत्तर्हि देहस्य भस्मावस्थायां मा भूत्, देहे तु तथाभूते एवावतिष्ठमाने मृतावस्थायां कस्मान्न भवति ?, प्राणापानयोरपि हेतु-

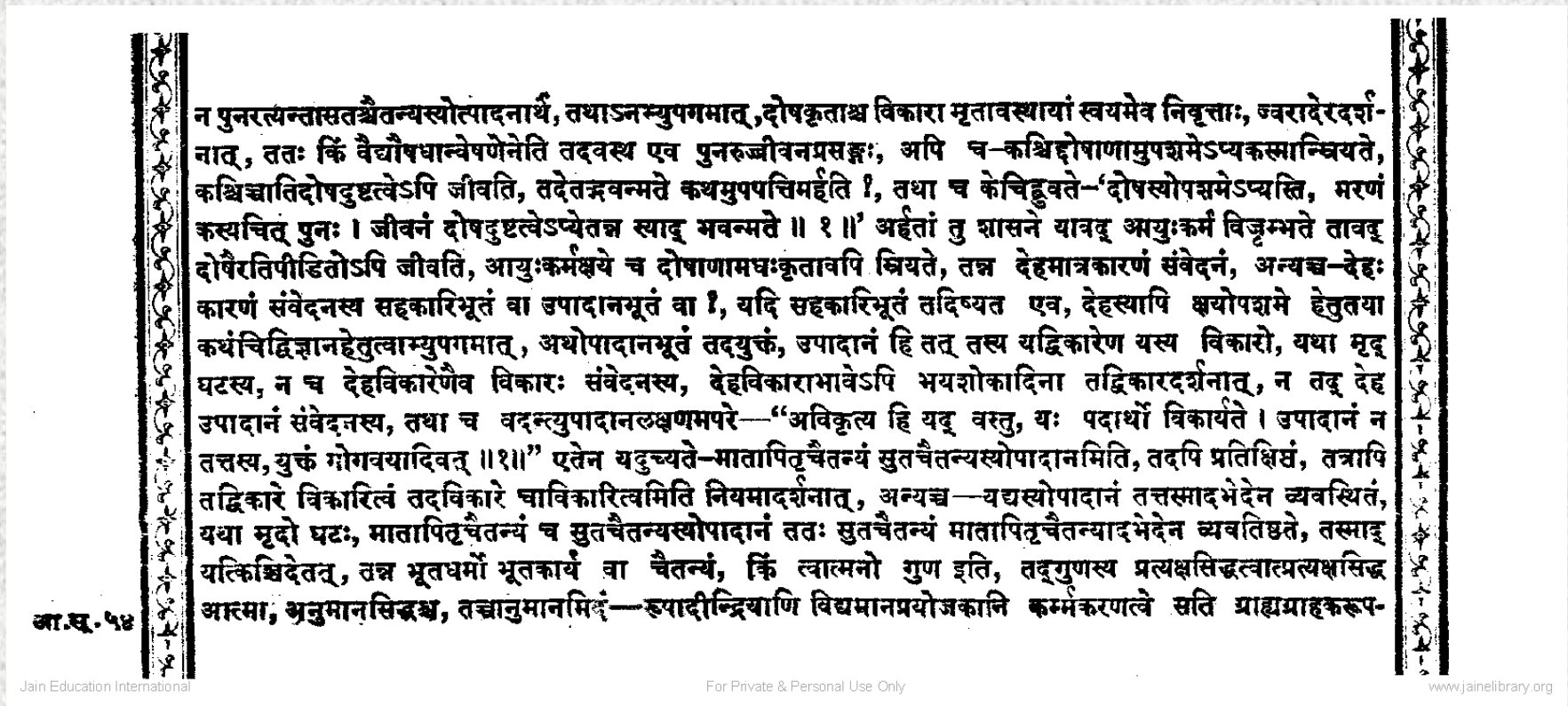
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वात्तदभावे न भवतीति चेत्, न, प्राणापानयोर्ज्ञानहेतुत्वायोगात्, ज्ञानादेव च तयोरपि प्रवृत्तेः, तथाहि—यदि मन्दौ प्राणापानौ निरुष्टुमिष्येते ततो मन्दौ भवतो, दीर्घौ चेत्तर्हि दीर्घाविति, यदि पुनर्देहमात्रनिवृत्तौ प्राणापानौ प्राणापाननिमित्तं च विज्ञानं तर्हि नेत्थमिच्छावशात् प्राणापानप्रवर्त्तनं भवेत्, नहि देहमात्रनिमित्ता गौरता श्यामता वा इच्छावशात्प्रवर्त्तमाना दृष्टा, प्राणापाननिमित्तं च यदि वो विज्ञानं ततः प्राणापाननिर्ह्रासातिशयसंभवे ज्ञानस्यापि निर्ह्रासातिशयौ स्याताम्, अवश्यं हि कारणे परिहीयमाने अभिवर्द्धमाने च कार्यस्यापि हानिरुपचयश्च भवति, यथा महति मृत्पिण्डे महान् घटोऽल्पे चाल्पीयान्, अन्यथा कारणमेव तन्न स्यात्, न च भवतः प्राणापाननिर्ह्रासातिशयसंभवे विज्ञानस्यापि निर्ह्रासातिशयौ, विपर्ययस्यापि भावात्, मरणावस्थायां प्राणापानातिशयसम्भवेऽपि विज्ञानस्य ह्रासदर्शनात्, स्यादेतत्—तदानीं वातपित्तादिभिर्दोषैर्देहस्य विगुणीकृतत्वात् न प्राणापानातिशयसंभवेऽपि ज्ञानस्यातिशयसम्भवोऽत एव मृतावस्थायामपि न चैतन्यं, देहस्य विगुणीकृतत्वात्, तदसमीचीनतरमेव, एवं सति मृतस्यापि पुनरुज्जीवनप्रसक्तेः, तथाहि—मृतस्य दोषाः समीभवन्ति, समीभवनं च दोषाणामवसीयते ज्वरादिविकारादर्शनात्, समत्वं चारोग्यं, तथा चाहुर्वृद्धाः—"तेषां समत्वमारोग्यं, क्षयवृद्धी विपर्यय"इति, आरोग्यलाभत्वे देहस्य पुनरुज्जीवनं भवेत्, अन्यथा देहः कारणमेव चेतसो न स्यात्, तद्विकारभावाभावाननुविधानात्, एवं हि देहकारणता विज्ञानस्य श्रद्धेया स्यात् यदि पुनरुज्जीवनं भवेत्, स्यादेतद्—अयुक्तमिदं पुनरुज्जीवनप्रसङ्गापादनं, यतो यद्यपि दोषा देहस्य वैगुण्यमाधाय निवृत्तास्तथापि न तत्कृतस्य वैगुण्यस्य निवृत्तिः, नहि दहनकृतो विकारः काष्ठे दहननिवृत्तौ निवर्त्तमानो दृष्टः, तदयुक्तम्, इह हि क्वचि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दनिवर्त्त्यविकारारम्भकं, यथा वह्निः काष्ठे, श्यामतामात्रमपि वह्निना कृतं काष्ठे वह्निनिवृत्तौ न निवर्त्तते, किञ्चित् निवर्त्त्यविकारारम्भकं, यथा स एवाग्निः सुवर्णे, तथाहि—अग्निना कृता सुवर्णे द्रवता अग्निनिवृत्तौ निवर्त्तते, तत्र वाय्वादयो दोषा निवर्त्त्यविकारारम्भकाश्चिकित्साप्रयोगदर्शनात्, यदि पुनरनिवर्त्त्यविकारारम्भका भवेयुस्तर्हि न तद्विकारनिवर्त्तनाय चिकित्सा विधीयेत, वैफल्यप्रसङ्गात्, न च वाच्यं मरणात् प्राक्तनदोषा निवर्त्त्यविकारारम्भका मरणकाले त्वनिवर्त्त्यविकारारम्भका इति, एकस्य एकत्रैव निवर्त्त्यानिवर्त्त्यविकारारम्भकत्वायोगात्, नह्येकमेव तत्रैव निवर्त्त्यविकारारम्भकमनिवर्त्त्यविकारारम्भकं च भवितुमर्हति, तथा अदर्शनात्, ननु द्विविधो हि व्याधिः—साध्योऽसाध्यश्च, तत्र साध्यो निवर्त्त्यः, तमेव चाधिकृत्य चिकित्सा फलवती, असाध्योऽनिवर्त्तनीयः, न च साध्यासाध्यभेदेन व्याधिद्वैविध्यमप्रतीतं, सकललोकप्रसिद्धत्वाद्, व्याधिश्च दोषवैषम्यकृतः, ततः कथं दोषाणां निवर्त्यानिवर्त्त्यविकारारम्भकत्वमनुपपन्नमिति, तदप्यसत्, भवन्मतेनासाध्यव्याध्यनुपपत्तेः, तथाहि—असाध्यता व्याधेः क्वचिदायुःक्षयात्, तथाहि—तस्मिन्नेव व्याधौ समानेऽप्यौषधवैद्यसम्पर्के कश्चिन्म्रियते कश्चिन्न, क्वचित्पुनः प्रतिकूलकर्मोदयात्, प्रतिकूलकर्मोदयजनितो हि श्वित्रादिव्याधिरौषधसहस्रैरपि कश्चिदसाध्यो भवति, एतच्च द्विविधमपि व्याधेरसाध्यत्वमर्हतामेव मते सङ्गच्छते, न भवतो भूतमात्रतत्त्ववेदिनः, क्वचित्पुनरसाध्यो व्याधिर्दोषकृतविकारनिवर्त्तनसमर्थस्यौषधस्याभावात् वैद्यस्य वा, वैद्यौषधसम्पर्काभावे हि व्याधिः प्रसर्प्पन् सकलमप्यायुरुपक्रमते, ननु वैद्यौषधसम्पर्काभावादेवासाकमपि पुनरुज्जीवनं न भविष्यति, नहि तदस्ति किञ्चित् औषधं वैद्यो वा यत् पुनरुज्जीवयति, तदप्ययुक्तं, वैद्यौषधे हि दोषविकारनिवर्त्तनार्थमिष्येते,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



न पुनरत्यन्तासतश्चैतन्यस्योत्पादनार्थं, तथाऽनभ्युपगमात्, दोषकृताश्च विकारा मृतावस्थायां स्वयमेव निवृत्ताः, ज्वरादेरदर्शनात्, ततः किं वैद्यौषधान्वेषणेनेति तदवस्थ एव पुनरुज्जीवनप्रसङ्गः, अपि च–कश्चिद्दोषाणामुपशमेऽप्यकस्मान्म्रियते, कश्चिच्चातिदोषदुष्टत्वेऽपि जीवति, तदेतदभवन्मते कथमुपपत्तिमर्हति ?, तथा च केचिद्ब्रुवते–'दोषस्योपशमेऽप्यस्ति, मरणं कस्यचित् पुनः । जीवनं दोषदुष्टत्वेऽप्येतन्न स्याद् भवन्मते ॥ १ ॥' अर्हतां तु शासने यावद् आयुःकर्म विजृम्भते तावद् दोषैरतिपीडितोऽपि जीवति, आयुःकर्मक्षये च दोषाणामधःकृतावपि म्रियते, तन्न देहमात्रकारणं संवेदनं, अन्यच्च–देहः कारणं संवेदनस्य सहकारिभूतं वा उपादानभूतं वा ?, यदि सहकारिभूतं तदिष्यत एव, देहस्यापि क्षयोपशमे हेतुतया कथंचिद्विज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात्, अथोपादानभूतं तदयुक्तं, उपादानं हि तत् तस्य यद्विकारेण यस्य विकारो, यथा मृद् घटस्य, न च देहविकारेणैव विकारः संवेदनस्य, देहविकाराभावेऽपि भयशोकादिना तद्विकारदर्शनात्, न तद् देह उपादानं संवेदनस्य, तथा च वदन्त्युपादानलक्षणमपरे—"अविकृत्य हि यद् वस्तु, यः पदार्थो विकार्यते । उपादानं न तत्तस्य, युक्तं गोगवयादिवत् ॥१॥" एतेन यदुच्यते–मातापितृचैतन्यं सुतचैतन्यस्योपादानमिति, तदपि प्रतिक्षिप्तं, तत्रापि तद्विकारे विकारित्वं तदविकारे चाविकारित्वमिति नियमादर्शनात्, अन्यच्च—यद्यस्योपादानं तत्तस्मादभेदेन व्यवस्थितं, यथा मृदो घटः, मातापितृचैतन्यं च सुतचैतन्यस्योपादानं ततः सुतचैतन्यं मातापितृचैतन्यादभेदेन व्यवतिष्ठते, तस्माद् यत्किञ्चिदेतत्, तन्न भूतधर्मो भूतकार्यं वा चैतन्यं, किं त्वात्मनो गुण इति, तद्गुणस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्प्रत्यक्षसिद्ध आत्मा, अनुमानसिद्धश्च, तच्चानुमानमिदं—रूपादीन्द्रियाणि विद्यमानप्रयोजकानि कर्म्मकरणत्वे सति ग्राह्यग्राहकरूप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वात्, ये कर्म्मकरणत्वे सति ग्राह्यग्राहकरूपे ते विद्यमानप्रयोजके, यथा संदंशायःपिण्डौ, कर्मकरणरूपाणि च सन्ति ग्राह्यग्राहकरूपाणि रूपादीन्द्रियाणि ततो विद्यमानप्रयोजकानीति, न चेन्द्रियाणां स्वत उपलम्भकत्वं येन रूपादिग्रहणं प्रति तेषां कर्तृत्वमेवोपगम्येत न करणत्वं, अचेतनत्वेन स्वत उपलम्भकृत्त्वायोगात्, तथा चात्र प्रयोगः–यदचेतनं तन्नोपलब्धृ यथा घटः, अचेतनानि च द्रव्येन्द्रियाणि, न चायमसिद्धो हेतुः, यतः खलु द्रव्येन्द्रियाणि निर्वृत्त्युपकरणरूपाणि, निर्वृत्त्युपकरणे च पुद्गलमये, पुद्गलमयं च सर्वमचेतनं, पुद्गलानां काठिन्यावोधरूपतया चैतन्यं प्रति धर्म्मत्वायोगात्, धर्म्मानुरूपो हि सर्वत्रापि धर्मी, यथा काठिन्यं प्रति पृथिवी, यदि पुनरनुरूपत्वाभावेऽपि धर्म्मधर्म्मिभावो भवेत् ततः काठिन्यजलयोरपि स भवेत्, न च भवति, तस्मादचेतनाः पुद्गलाः, तथा चोक्तम्—"बोहसभावममुत्तं विसयपरिच्छेयगं च चेयन्नं । विवरीयसहावाणि य भूयाणि जगप्पसिद्धाणि ॥ १ ॥ ता धम्मिधम्मभावो कहमेएसिं अणब्भुवगमे य । अणुरूवत्ताभावे काठिन्नजलाण किं न भवे ? ॥ २ ॥ (धर्मसं. ५०–५१) ततः स्वत उपलम्भकत्वाभावात् रूपादिग्रहणं प्रतीन्द्रियाणां करणभाव एव, न कर्तृभाव इति स्थितम्। अथवेदमनुमानं–सभोक्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वात्, स्थालस्थितौदनवत्, भोग्यता च शरीरस्य जीवेन तथा निवसता भुज्यमानत्वात्, द्वयोरपि च प्रयोगयोः साध्यसाधनप्रतिबन्धः, प्रतिबन्धसिद्धिर्दृष्टान्ते प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धेति नोक्तलिङ्गलिङ्गिसम्बधाग्रहरूपदोषावकाशः, आगमगम्योऽप्येष जीवः, तथा चागमः—"अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंसचक्खुणा । सिद्धा पस्संति सव्वन्नू, नाणसिद्धा य साहुणो ॥१॥" (द०अ० ५–३४ भा.) अत्र ज्ञानसिद्धाः साधवो–भवस्थकेवलिनः, शेषं सुगमं, न चागमानां परस्परविरुद्धार्थतया सर्वेषामप्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रामाण्यमभ्युपेयं, सर्वज्ञमूलस्यावश्यं प्रमाणत्वेनाभ्युपगमार्हत्वाद्, अन्यथा सम्यक्प्रमाणाप्रमाणविभागापरिणतेः प्रेक्षावत्साक्षितिप्रसङ्गात्, अथ कथमेतत्प्रत्येयं यथाऽयमागमः सर्वज्ञमूल इति ?, उच्यते, यदुक्तोऽर्थः प्रत्यक्षेणानुमानेन च न बाध्यते नापि पूर्वापरव्याहतः सोऽवसीयते सर्वज्ञप्रणीतोऽन्यस्य तथारूपत्वासम्भवात्, ततस्तस्माद्यत्सिद्धं तत्सर्वं सुसिद्धम्, उक्तं च—दिट्ठेण य इट्ठेण य जंमि विरोहो न जुज्जइ कहिंचि । सो आगमो ततो जं नाणं तं सम्मनाणंति ॥ १ ॥ (धर्म० ५१९) ततः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणसिद्धत्वाद्वेदप्रतिष्ठितत्वाच्च सौम्य ! अस्ति जीव इति प्रतिपत्तव्यम्, इह वेदपदोन्यासस्तेन वेदानां प्रमाणत्वेनाङ्गीकृतत्वात् ॥

छिन्नम्मि संसयम्मि अ जिणेण जर–मरणविप्पमुक्केणं । सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥६०१॥

उक्तप्रमाणेन जिनेन–भगवता वर्द्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्त इव विप्रमुक्तः तेन छिन्ने–निराकृते संशये स इन्द्रभूतिः पञ्चभिः खण्डिकशतैः–छात्रशतैः सह श्रमणः प्रव्रजितः, प्रव्रजितः सन् साधुः संवृत्त इत्यर्थः, ॥

प्रथमो गणधरः समाप्तः

तं पव्वअं सोउं बीओ आगच्छई अमरिसेणं । वच्चामि णमाणेमी पराजिणित्ता ण तं समणं ॥ ६०२ ॥

तं–इन्द्रभूतिं प्रव्रजितं श्रुत्वा द्वितीयः–खल्वग्निभूतिरत्रान्तरे अमर्षेण प्राग्व्यावर्णितस्वरूपेण हेतुभूतेन आगच्छति भगवत्समीपं, केनाभिप्रायेणेत्याह—व्रजामि, णमिति वाक्यालङ्कारे आनयामि, निजभ्रातरमिन्द्रभूतिमिति गम्यते, पराजित्य णमिति पूर्ववत् तं श्रमणमिन्द्रजालिककल्पमिति । पुनरपि किं चिन्तयन्नसावागत इत्याह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ द्वितीय-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

छलिओ छलाइणा सो मन्ने माइंदजालिओ वावि । को जाणइ कह वत्तं इत्ताहे वट्टमाणी से ?॥ १२७ भा०॥

दुर्जयस्त्रिभुवनस्यापि मद्भ्राता इन्द्रभूतिः, केवलमहमिदं मन्ये–छलादिना छलितोऽसौ तेन, स हि छलजातिनिग्रहस्थानग्रहणनिपुणः सम्भाव्यते, अथवा मायेन्द्रजालिकः कोऽपि निश्चितमसौ येन तस्यापि जगद्गुरोर्मद्भ्रातुर्भ्रमितं चेतः, यदिवा को जानाति तयोः किमपि वादस्थानं कथमपि वृत्तं ?, मत्परोक्षत्वाद्, अत ऊर्ध्वं मयि तत्र गते 'से' तस्य छलादिकुशलस्य मायेन्द्रजालकुशलस्य वा 'वट्टमाणी'ति या काचित् वार्त्ता वर्त्तनी वा भविष्यति, तां द्रक्ष्यत्ययं समग्रोऽपि लोक इति गम्यते ॥ इदं च तेन तत्रागच्छता प्रोक्तम्—

सो पक्खंतरमेगंपि जाइ जइ मे तओ मि तस्सेव । सीसत्तं हुज्ज गओ वुत्तुं पत्तो जिणसगासं ॥ १२८ भा०॥

को जानाति तावदिन्द्रभूतिस्तेन कथमपि निर्जितः ?, मम पुनरेकमपि पक्षान्तरं–पक्षविशेषं स यदि याति, किमुक्तं भवति ?–मद्विहितस्य सहेतूदाहरणस्य पक्षविशेषस्य यद्युत्तरप्रदानेन कथमपि पारं गच्छति ततो मीति वाक्यालङ्कारे तस्यैव श्रमणस्य शिष्यत्वेन गतोऽहं भवेयमिति उक्त्वा प्राप्तो जिनस्य–भगवतो महावीरस्य सकाशं–समीपम् ॥ ततः किमित्याह—

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केण । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥ ६०३ ॥

हे अग्गिभूति गोयम ! सागयमुत्ते जिणेण चिंतेइ । नामंपि मे वियाणइ, अहवा को मं न याणाइ ?॥१२९ भा०॥

जइ वा हियगयं मे संसय मन्नेज्ज अहव छिंदिज्जा । तो होज्ज विम्हओ मे इय चिंतेंतो पुणो भणितो ॥१३० भा०॥

इदं गाथात्रयमपि पूर्ववदेव ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं मन्ने अत्थि कम्मं? उयाहु नत्थित्ति संसओ तुज्झं। वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६०४॥

हे अग्निभूते! गौतम! त्वमेतत् मन्यसे–चिन्तयसि, यदुत कर्म–ज्ञानावरणीयादि किमस्ति उत नास्तीति?, नन्वयमनुचितस्तव संशयः, यतोऽयं संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तेषां च वेदपदानामर्थं सम्यक् न जानासि, यथा न जानासि तथा वक्ष्यामः, तेषामयमर्थो वक्ष्यमाणलक्षण इति गाथाक्षरार्थः। तानि च वेदपदान्यमूनि—"पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नेजति यद् दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्यास्य बाह्यत" इत्यादि, तथा 'पुण्यः पुण्येने'त्यादि, तेषामयमर्थस्तव चेतसि विपरिवर्त्तते–पुरुषः–आत्मा, एवकारोऽवधारणे, स च पुरुषातिरिक्तस्य कर्म्मप्रकृतीश्वरादेर्व्यवच्छेदार्थः, इदं–सर्वं प्रत्यक्षं वर्त्तमानं चेतनाचेतनस्वरूपं ग्निमिति वाक्यालङ्कारे यद्भूतम्–अतीतं यच्च भाव्यं–भविष्यत्, मुक्तिसंसारावपि स एव, पुरुष इत्यर्थः, उतामृतत्वस्येशान इति, उतशब्दोऽपिशब्दार्थः, स च समुच्चये, अमृतत्वस्य च–अमरणभावस्य मोक्षस्य ईशानः–प्रभुः, यदन्नेनातिरोहतीति चशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनाद् यश्चान्नेन–आहारेणातिरोहति–अतिशयेन वृद्धिमुपैति, तथा यत् एजति–चलति पश्वादि, यत् नेजति–न चलति पर्वतादि, अत्र ऐकारो न भवत्यार्षत्वात्, यद् दूरे मेर्वादि यदु अन्तिके उशब्दोऽवधारणे यदन्तिके–समीपे तत्सर्वं पुरुष एव, तथा यत् अन्तः–मध्ये अस्य–चेतनाचेतनस्य सर्वस्य यदेव सर्वस्यास्य बाह्यं तत्सर्वं पुरुष एव, ततस्तदतिरिक्तस्य कर्म्मणः किल सत्ता दुःश्रद्धेयेति। तथा न प्रत्यक्षप्रमाणगम्यमिदं कर्म्म, अतीन्द्रियत्वात्, नाप्यनुमानगम्यं, तत्र प्रत्यक्षाप्रवृत्तेः, नाप्यागमगम्यम्, आगमानां परस्परविरुद्धार्थभाषितया प्रामाण्यायोगात्, अन्यच्च–अमूर्त्तं आत्मा मूर्त्तं च कर्म्माभ्युपम-

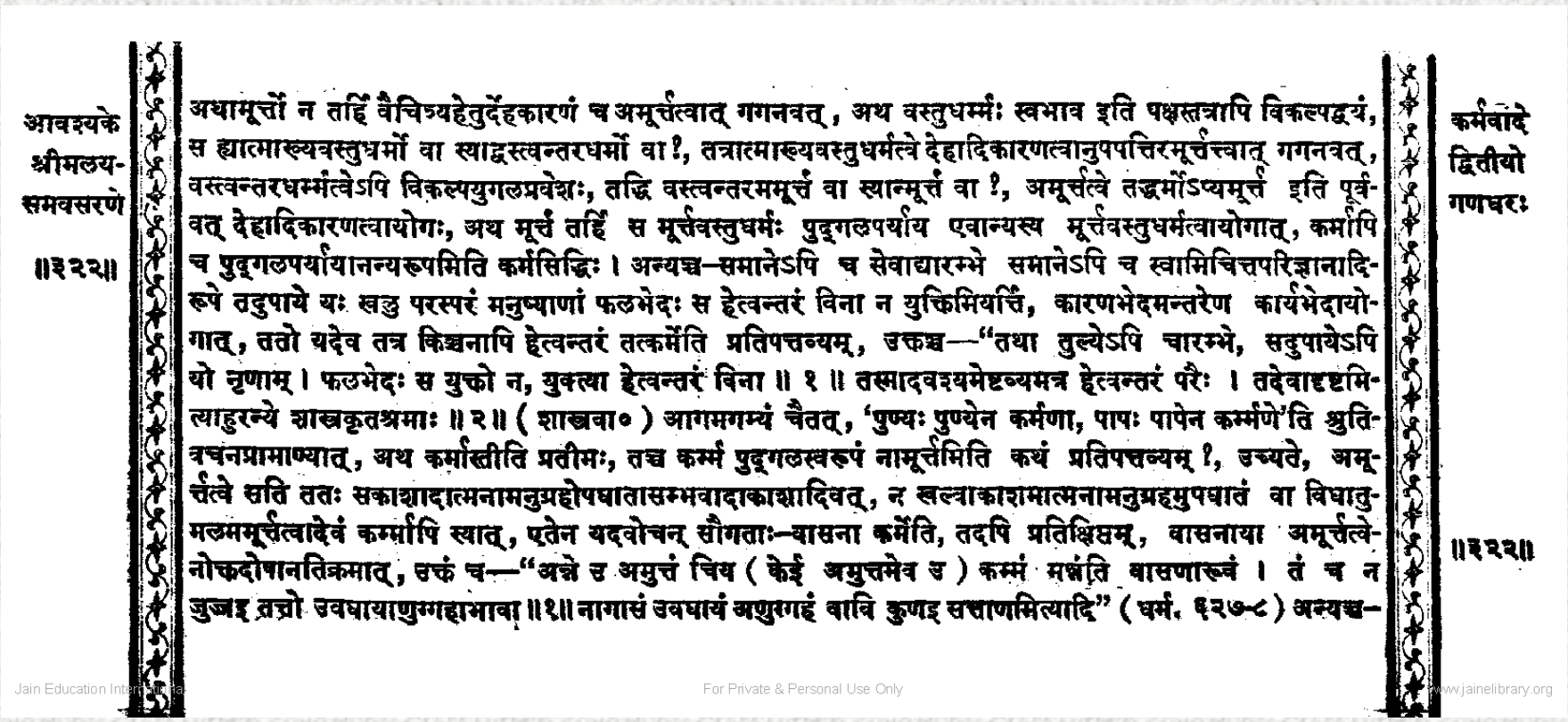
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

म्यते, ततः कथममूर्त्तस्य मूर्त्तेन सह संयोगः, संयुज्यमानता किल मूर्त्तानामेव धर्म्म इति प्रवादः, तथा कथममूर्त्तस्य मूर्त्तेन कर्म्मणाऽनुग्रहोपघातौ ?, न खलु नभसश्चन्दनादिनोपग्रहो लकुटादिना चोपघातो भवति, अथ च श्रुतिषु कर्म्मसत्ता गीयते "पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा" ततो न विद्मः—किमस्ति कर्म्म किं वा नास्तीति तवाभिप्रायः, तत्र वेदपदानामर्थं न जानासि, चशब्दात् युक्तिं भावार्थं च, तेषां हि वेदपदानामयमेकवाक्यतया व्यवस्थितोऽर्थः—इह त्रिविधानि वेदवाक्यानि—कानिचिद् विधिवादपराणि कानिचिदर्थवादप्रधानानि अपराणि त्वनुवादपराणि, तत्र 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादीनि विधिवादपराणि, अर्थवादस्तु द्विधा—स्तुत्यर्थवादो निन्दार्थवादश्च, तत्र स्तुत्यर्थवादप्रधानानि यथा 'स सर्ववित् यस्यैषा महिमा भुवि आदित्ये, ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा सुप्रतिष्ठितस्तमक्षरं वेदयते, अथ यस्तु सर्वज्ञः स सर्ववित् सर्वमेवाविश' इत्यादि, निन्दार्थवादप्रधानानि यथा 'एष कः प्रथमो यज्ञो ?, योऽग्निष्टोमः, योऽन्नेन अनिष्ट्वा अन्येन यजते स गर्त्तमभ्यपत'दित्यादि, अत्र पशुमेधादीनां प्रथमं करणं निन्द्यते इत्ययं निन्दार्थवादः, 'द्वादश मासाः संवत्सरः अग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य भेषज'मित्यादीनि त्वनुवादप्रधानानि, लोके प्रसिद्धस्यैवार्थस्य एतैरनुवादात्, पुरुष एवेदं ग्निमित्यादीन्यपि पुरुषस्तुतिपराणि, यदिवा जात्यादिमदत्यागायाद्वैतभावनाप्रतिपादकानि न कर्म्मसत्ताप्रतिषेधकानि, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यं, न खल्वकर्म्मण आत्मनः कर्तृत्वोपपत्तिः, एकान्तशुद्धतया प्रवृत्तिनिबन्धनाभावात्, न च वाच्यं शरीरवान् खल्वीशान आरम्भ उपपत्तिमान्, स्वशरीरारम्भेऽपि तस्योक्तदोषानतिक्रमात्, अथ ब्रूषे—अन्यस्तत्शरीरारम्भाय व्याप्रियते, स च शरीरवान् सत्तारम्भक इति, तदप्यसम्यक्, तत्रापि विकल्पद्वयप्रवृत्तेः, स ह्यन्यस्तत्शरीरारम्भाय व्याप्रियते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स शरीरी अशरीरीति वा ?, तत्र यद्याद्यः पक्षस्ततः स शरीरी कथम् ?, अन्येन तच्छरीरकरणादिति चेत् ननु तत्रापीयमेव वार्त्तेत्यनवस्थानुषङ्गः, अथाशरीरीति पक्षस्तदप्ययुक्तम्, अशरीरितया तस्याप्यारम्भकत्वायोगात्, स्यादेतद्–एष नः सिद्धान्तो यदा कर्म्मरहितस्याप्यात्मनः शरीरकरणेच्छोपजायते तदा शरीरमारभते, आत्मनः सकलशक्तिसमन्वितत्वात्, अत एव मुक्तात्मनो न भूयः शरीरित्वप्रसङ्गः, शरीरकरणेच्छाया एवाभावात्, तदप्यश्लीलं, शुद्धस्य सतो रागद्वेषरहिततया शरीरकरणेच्छाया एवाप्रवृत्तेः, मुक्तात्मवत्, ततः कर्म्मसद्वितीयः पुरुषः कर्त्तेति न सर्वाणि वेदपदानि कर्म्मसत्ताप्रतिषेधकानि, न तत् कर्म प्रत्यक्षप्रमाणगोचरातिक्रान्तं, मया साक्षात्प्रत्यक्षत उपलभ्यमानत्वात्, नाप्यनुमानगोचरातीतं भवतोऽप्यनुमानसिद्धत्वात्, तच्चेदमनुमानं–शरीरान्तरपूर्वकं बालशरीरमिन्द्रियादिमत्त्वात् युवशरीरवत्, न च वाच्यं जन्मान्तरानीतशरीरपूर्वकत्वस्यास्माभिरभ्युपगतत्वात्सिद्धसाध्यता, जन्मान्तरशरीरस्यापान्तरालगतावभावेन तत्पूर्वकत्वायोगात्, तस्मात्कार्म्मणशरीरपूर्वकं बालशरीरमिति सिद्धं कर्म्म, अन्यथा प्रतिनियतदेशस्थानगर्भप्राप्तिर्नरपश्वादिरूपेण वैचित्र्यं वा नोपपत्तिमत्, नियामकाभावात्, उक्तं च—"आत्मत्वेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात् । नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्म्मसंज्ञकम् ॥ १ ॥" अथ स्वभाव एव नियामको वैचित्र्यस्य न कर्म्मेति कर्म्मासिद्धिः, तदप्यनुपपन्नं, विकल्पाभ्यामयोगात्, स हि स्वभावो वस्तुविशेषो वा स्यात् वस्तुधर्म्मो वा ?, न तावत् वस्तुविशेषस्तस्याप्रामाणिकत्वात्, नहि स वस्तुविशेषः प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धो नाप्यनुमानसिद्धो न चाप्यागमगम्य इत्यप्रमाणक एव, अन्यच्च–स वस्तुविशेषो मूर्त्तो वा अमूर्त्तो वा ?, यदि मूर्त्तः कर्म्मणोऽस्य न कश्चिद्भेदोऽन्यत्र संज्ञाभेदात्, भवता हि वस्तुविशेष इति व्यवह्रियते मया तु कर्म्मेति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥३२२॥

अथामूर्त्तो न तर्हि वैचित्र्यहेतुर्देहकारणं च अमूर्त्तत्वात् गगनवत्, अथ वस्तुधर्म्मः स्वभाव इति पक्षस्तत्रापि विकल्पद्वयं, स ह्यात्माख्यवस्तुधर्मो वा स्याद्वस्त्वन्तरधर्मो वा ?, तत्रात्माख्यवस्तुधर्मत्वे देहादिकारणत्वानुपपत्तिरमूर्त्तत्त्वात् गगनवत्, वस्त्वन्तरधर्म्मत्वेऽपि विकल्पयुगलप्रवेशः, तद्धि वस्त्वन्तरममूर्त्तं वा स्यान्मूर्त्तं वा ?, अमूर्त्तत्वे तद्धर्मोऽप्यमूर्त्त इति पूर्ववत् देहादिकारणत्वायोगः, अथ मूर्त्तं तर्हि स मूर्त्तवस्तुधर्मः पुद्गलपर्याय एवान्यस्य मूर्त्तवस्तुधर्मत्वायोगात्, कर्मापि च पुद्गलपर्यायानन्यरूपमिति कर्मसिद्धिः । अन्यच्च–समानेऽपि च सेवाद्यारम्भे समानेऽपि च स्वामिचित्तपरिज्ञानादिरूपे तदुपाये यः खलु परस्परं मनुष्याणां फलभेदः स हेत्वन्तरं विना न युक्तिमियर्त्ति, कारणभेदमन्तरेण कार्यभेदायोगात्, ततो यदेव तत्र किञ्चनापि हेत्वन्तरं तत्कर्मेति प्रतिपत्तव्यम्, उक्तञ्च—"तथा तुल्येऽपि चारम्भे, सदुपायेऽपि यो नृणाम् । फलभेदः स युक्तो न, युक्त्या हेत्वन्तरं विना ॥ १ ॥ तस्मादवश्यमेष्टव्यमत्र हेत्वन्तरं परैः । तदेवादृष्टमित्याहुरन्ये शास्त्रकृतश्रमाः ॥ २ ॥ (शास्त्रवा०) आगमगम्यं चैतत्, 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्म्मणे'ति श्रुतिवचनप्रामाण्यात्, अथ कर्मास्तीति प्रतीमः, तच्च कर्म्म पुद्गलस्वरूपं नामूर्त्तमिति कथं प्रतिपत्तव्यम् ?, उच्यते, अमूर्त्तत्वे सति ततः सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासम्भवादाकाशादिवत्, न खल्वाकाशमात्मनामनुग्रहमुपघातं वा विधातुमलममूर्त्तत्वादेवं कर्म्मापि स्यात्, एतेन यदवोचन् सौगताः–वासना कर्मेति, तदपि प्रतिक्षिप्तम्, वासनाया अमूर्त्तत्वेनोक्तदोषानतिक्रमात्, उक्तं च—"अन्ने उ अमुत्तं चिय (केई अमुत्तमेव उ) कम्मं मन्नंति वासणारूवं । तं च न जुज्जइ तत्तो उवघायाणुग्गहाभावा ॥१॥ नागासं उवघायं अणुग्गहं वावि कुणइ सत्ताणमित्यादि" (धर्म. ६२७-८) अन्यच्च–

कर्मवादे द्वितीयो गणधरः ॥३२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासना नाम वासकसम्पर्कनिबन्धना यथा तिलादौ गन्धवासना मालतीपुष्पादिसम्पर्कहेतुका, ततो यदि बोधसंताने वासना रागादिहेतुरभ्युपगम्यते तर्ह्यवश्यं बोधातिरिक्तं किञ्चिद्वासकमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा वासनानुपपत्तेः, तथा च सति सिद्धं नः पौद्गलिकं कर्म्म, उक्तं च—"वासनाऽप्यन्यसम्बन्धं, विना नैवोपपद्यते । पुष्पादिगन्धवैकल्ये, तिलादौ नेष्यते यतः ॥ १ ॥ बोधमात्रातिरिक्तं तु, वासकं किञ्चिदिष्यताम् । मुख्यं तदेव नः कर्म्म, न युक्ता वासनाऽन्यथा ॥ २ ॥ (शास्त्रवा.) ये पुनरपरे प्राहुरात्मशक्तिरूपं कर्मेति त एवं प्रष्टव्याः—सा शक्तिरात्मनः स्वाभाविकी उतान्यसम्पर्कसमुद्भवा ?, तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदा मोक्षाभावप्रसङ्गः, आत्मस्वरूपस्येव तस्याः शक्तेरपनेतुमशक्यत्वात्, अन्यथानिरुपाधिकात्मानुपपत्तेः, आत्मारूयवस्तुधर्म्मस्वभावोक्तदोषानुषङ्गस्तु तदवस्थ एव, अथ द्वितीयः पक्षः, तथा च सति यस्योपाधेः सम्पर्कवशात् सा शक्तिरात्मनो नारकादिभवभ्रमणरूपा समुदपादि तदेवास्माकं पौद्गलिकं कर्म्मेति न काचित्क्षतिः । यदप्युक्तम् 'अन्यच्चामूर्त्तं आत्मा मूर्त्तं च कर्म्मे'त्यादि, तदप्यसम्यक्, अमूर्त्तस्याप्याकाशस्य मूर्तेन घटादिना सह यदिवा द्रव्यस्य पराभिप्रायेणामूर्त्तया क्रियया सह संयोगभावात्, उक्तं च—"मुत्तस्सामुत्तिमया जीवेण कहं हवेज्ज संबंधो ? । सोम ! घडस्सव नभसा जह वा दव्वस्स किरियाए ॥ १ ॥" (वि.१६३५) तथा अमूर्त्तस्याप्यात्मनो मूर्त्तकर्म्मकृतावनुग्रहोपघातावविरुद्धौ, विज्ञानस्य ब्राह्मयौषध्यादिमदिरापानादिभिरनुग्रहोपघातदर्शनात्, आह च—"मुत्तेणामुत्तिमतो उवघायाणुग्गहो कहं होज्जा ? । जह विन्नाणाईणं मदिरापाणोसहाईहिं ॥ १ ॥" (वि. १६३७) एवं भगवताऽभिहितेऽग्निभूतिः किं कृतवानित्याह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केण । सो समणो पवइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥ ६०५ ॥
व्याख्या पूर्ववत् । द्वितीयो गणधरः समाप्तः ॥

अथ तृतीयस्य गणधरस्य वायुभूतेर्वक्तव्यतामभिधित्सुराह—

ते पवइए सोउं तइओ आगच्छई जिणसगासं । वच्चामि ण वन्दामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६०६ ॥

तौ इन्द्रभूत्यग्निभूती प्रव्रजितौ श्रुत्वा तृतीयो–वायुभूतिनामा द्विजोपाध्यायो जिनसकाशमागच्छति, सातिशयनिज-बन्धुद्वयनिष्क्रमणाकर्णनादपगताभिमानो भगवति सञ्जातसर्वज्ञप्रत्ययः सन्नेवमवाधारयत्–व्रजामि ण इति वाक्यालङ्कारे तथा वन्दे भगवन्तं वन्दित्वा पर्युपासे इति ॥ अपरं च किं विकल्प्य समागतोऽसावित्याह—

सीसत्तेणोवगया संपइ इंदऽग्गिभूइणो जस्स । तिहुअणकयप्पणामो स महाभागोऽभिगमणिज्जो ॥ १३१ भा० ॥
तदभिगमवंदणनमंसणाइणा हुज्ज पूअपावोऽहं । वुच्छिन्नसंसओ वा वुत्तुं पत्तो जिणसगासं ॥ १३२ भा० ॥

गाथाद्वयमपि सुगमं, पूतपापो–विशुद्धपापोऽपगतपाप इत्यर्थः ॥ ततः किमित्याह—

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीणं ॥ ६०७ ॥

अस्या व्याख्या प्रागिव ॥ इत्थं सगौरवमाभाषितोऽपि भगवता सकलत्रैलोक्यातिशायिनीं तस्य रूपादिसमृद्धिमभिस-मीक्ष्य क्षोभादसमर्थो हृदतं संशयं प्रष्टुं विस्मयात्तूष्णीमाश्रितः पुनरप्युक्तः, किमित्याह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ तृतीय-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

तज्जीवतस्सरीरंति संसओ नवि अ पुच्छसे किंचि । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥ ६०८ ॥

हे आयुष्मन् !—वायुभूते ! तवायं संशयो, यदुत—स एव जीवस्तदेव च शरीरमिति, नापि च पृच्छसि किञ्चित् विदिताशेषतत्त्वं मल्लक्षणं क्षोभात्, अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तेषां च वेदपदानामर्थं न जानासि तेन संशयं कुरुषे, तेषां च तव संशयनिबन्धनानां वेदपदानामयमर्थो—वक्ष्यमाण इति गाथार्थः । तानि चामूनि परस्परविरुद्धानि वेदपदानि—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इत्यादि, तथा—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मान' इत्यादि च, एतेषां चायमर्थस्तव बुद्धौ प्रतिभासते—न देहात्मनोर्भेदसंज्ञास्ति, विज्ञानघनेत्यादीनां व्याख्या पूर्ववत्, नवरं न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति भूतसमुदयमात्रधर्म्मत्वाच्चैतन्यस्य, तेन चामूनि किल शरीरातिरिक्तात्मोच्छेदपराणि वर्त्तन्ते, 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष' इत्यादीनि तु देहातिरिक्तात्मप्रतिपादकानि ततः संशयः, युक्ता च भूतसमुदायमात्रधर्म्मता चेतनायाः, तस्याः भूतसमुदायमात्र एवोपलम्भात् गौरतादिवत्,प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरातिक्रान्तश्च देहातिरिक्त आत्मा इति,तत्र वेदपदानां चार्थं न जानासि, चशब्दात् युक्तिहृदये च, तेषामयमर्थः—तत्र विज्ञानघनेत्यादीनां वेदपदानामर्थः प्रागेव व्याख्यातः, सत्येन लभ्य इत्यादीनि तु सुप्रतीतानि भूतातिरिक्तात्मप्रतिपादकानि, तथाहि—सत्येन—सत्यवचनेन तपसा—अनशनादिरूपेण ब्रह्मचर्येण च स्फुटं नित्यं—नियमेन ज्योतिर्मयो—ज्ञानमयः शुद्धो भवति, यं तथाभूतमात्मानं धीराः—परमज्ञानकलिता यतयो—महर्षयः संयतात्मानो—ध्यानैकनिपुणाः पश्यन्ति, न च चेतनाया भूतसमुदायमात्र एवोपलम्भात् भूतधर्म्मता,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विलक्षणतया तस्या मूर्त्तत्वायोगात्, एतच्च प्रागेव भावितम्, न च तस्मिन् सत्येवोपलम्भस्तद्धर्म्मत्वानुमानायालं, व्यभिचारदर्शनात्, तथाहि–स्पर्शे सत्येव रूपादय उपलभ्यन्ते, न च तेषां तद्धर्म्मतेति, ततः शरीरातिरिक्तात्माख्यपदार्थधर्म्मश्चेतनेति स्थितं, प्रत्यक्षसिद्धोऽप्येष आत्मा,तद्गुणस्यावग्रहादिज्ञानस्य स्पष्टसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात्,अनुमानगम्योऽपि, तच्चेदं–देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानुस्मरणात्, पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मर्तृदेवदत्तवत्, इह स्मरणमनुभवपूर्वकतया व्याप्तं, व्याप्यव्यापकभावश्चानयोः प्रत्यक्षेणैव प्रतिपन्नः, तथाहि—योऽर्थोऽनुभूतः स स्मर्यते न शेषस्तथा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण प्रतीतेः, विपक्षे चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणं, अननुभूते हि विषये यदि स्मरणं भवेत् ततोऽननुभूतत्वाविशेषात् खरविषाणादेरपि स्मरणप्रसक्तिरित्यतिप्रसङ्गः, विवक्षिते देहे विवक्षितेषु च इन्द्रियेषु सत्सूपलभ्यो योऽर्थः स भवान्तरे तद्विगमेऽपि जातिस्मरणे स्मर्यते, ततोऽवश्यं तस्यार्थस्योपलम्भको देहातिरिक्त आत्मा प्रतिपत्तव्यो, न तन्मात्रः, तन्मात्रत्वे तद्विगमे तदुपलब्धार्थानुस्मरणायोगात्, अधिकृतदेहेन्द्रियमात्रेण तस्यानुपलब्धत्वादिति, आगमगम्यता त्वस्य सुप्रसिद्धैव, सत्येन लभ्य इत्यादिवेदप्रमाणाभ्युपगमात्। एवं भगवता व्याकृते स किं कृतवान्? इत्याह–

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केण। सो समणो पवइतो पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥ ६०९ ॥

अस्या व्याख्या पूर्ववत्। प्रथमगणधरादिदं नानात्वं–तस्य जीवसत्तायां संशयः, अस्य तु शरीरातिरिक्ते खल्वात्मनि, न तु तत्सत्तायामिति।

तृतीयो गणधरः समाप्तः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

सम्प्रति चतुर्थस्य गणधरस्य वक्तव्यतामभिधित्सुराह—

ते पवइए सोउं विअत्त आगच्छई जिणसगासं । वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६१० ॥

तान्—इन्द्रभूतिप्रमुखान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा व्यक्तो नाम चतुर्थो गणधरो जिनसकाशं–भगवत्समीपं आगच्छति, केनाध्यवसायेनेत्याह—व्रजामि णमिति वाक्यालङ्कारे वन्दे भगवन्तं वर्द्धमानस्वामिनं, वन्दित्वा च पर्युपास इति ॥ एवंभूतेन च सङ्कल्पेन गत्वा भगवन्तं प्रणम्य तत्सादान्तिके भगवत्सम्पदुपलब्ध्या विस्मयोत्फुल्लनयनस्तस्थौ । अत्रान्तरे—

आभट्ठो अ जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीणं ॥ ६११ ॥

अस्या अपि व्याख्या पूर्ववत् ॥ आभाष्य च भगवता किमुक्तोऽयमित्याह—

किं मन्ने पंच भूआ अत्थि नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥ ६१२ ॥

किं पञ्च भूतानि–पृथिव्यादीनि सन्ति किं वा न सन्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत् । अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि चामूनि वेदपदानि, 'स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय'इत्यादि, तथा 'द्यावा पृथिवी'इत्यादि, तथा "पृथिवी देवता आपो देवता"इत्यादि, तेषां च वेदपदानामयमर्थः तव प्रतिभासते–स्वप्नोपमं–स्वप्नसदृशं वै निपातोऽवधारणे सकलम्–अशेषं जगदित्येष ब्रह्मविधिः—परमार्थप्रकारः अञ्जसा–प्रगुणेन न्यायेन विज्ञेयो–ज्ञातव्यः, एवमादीनि किल वेदपदानि भूतनिह्नवपराणि, 'द्यावा पृथिवी'त्यादीनि तु सत्ताप्रतिपादकानि, ततः संशयः, तथा एवं ते चित्तविभ्रमो यथा भूताभाव एव समीचीनस्तेषां प्रमाणेनाग्रहणात्, तथाहि—चक्षुरादिवि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ चतुर्थ-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

ज्ञानस्यालम्बनं परमाणवो वा स्युः परमाणुसमूहो वाऽवयवी वा ?, तत्र न तावत्परमाणवस्तेषामिन्द्रियविज्ञाने प्रतिभासाभावात्, न खलु चाक्षुषे विज्ञाने परस्परविश्लकलिताः परमाणवः प्रतिभासन्ते, नापि समूहः, समूहो हि नाम द्वित्रादिपरमाणूनां संयोगः, स चानुपपन्न एव, विकल्पद्वयानतिक्रमात्, तथाहि—परमाणूनां संयोगो देशतो वा स्यात् सर्वात्मना वा ?, तत्र न तावदेशेन, परमाणोर्देशाभावाद्, अन्यथा परमाणुत्वक्षतेः, परमोऽणुः परमाणुरिति व्युत्पत्तेः, अथ सर्वात्मना पक्षस्तर्हि परमाणोः परमाणौ प्रवेशादणुमात्रप्रसक्तिः, तथा च पठन्ति—"संजोगोऽवि य तेसिं देसेणं सव्वहा व होज्जा हि। देसेण कहमणुत्तं ? अणुमेत्तं सव्वहा भवणे ॥ १ ॥ (धर्म. ६५१) अथ ब्रूषे—परस्परं प्रत्यासन्नत्वमात्रमेवात्र संयोगसमूहो, न देशेन सर्वात्मना वा, ततो न कश्चिद्दोषः, तदप्यसम्यक्, प्रत्येकमिव समुदितानामपि तेषामग्रहणप्रसङ्गात्, स्वस्वरूपावस्थितानां तेषामिन्द्रियगम्यत्वाभावात्, न च परस्परप्रत्यासन्नत्वमभ्युपपन्नं, तद्ध्यवश्यं षड्दिग्भेदतो भवति, दिग्भेदे च देशसम्भवादणुत्वव्याघातः, आह च—हाणी य अणुत्तस्सा दिसिभेदातो न अन्नहा घडइ। तेसिं मिहो पंचासन्नयत्ति परिफग्गुमेयंपि ॥ १ ॥ (धर्म०६५३) अथावयवीति पक्षः सोऽप्ययुक्तः, अवयविन एवासम्भवात्, तस्यावयवेषु वृत्त्ययोगात्, तथाहि—सोऽवयवी देशेन वा प्रत्येकमवयवेषु वर्त्तते सर्वात्मना वा ?, तत्र न तावदेशेन अवयविनो देशाभावात्, अन्यथा तेष्वपि देशेषु देशेन वर्त्तेत, तत्रापि स एव प्रसङ्ग इत्यनवस्था, अथ सर्वात्मना तर्हि यावन्तोऽवयवास्तावन्तोऽवयविन इत्यवयविबहुत्वप्रसङ्गः, अथ न ब्रूमो देशेन वर्त्तते सर्वात्मना वा, किन्तु वर्त्तते इत्येव, तत उक्तदोषाप्रसङ्गः, तदप्यश्लीलम्, उक्तरूपप्रकारद्वयव्यतिरेकेणान्यस्य वृत्तिप्रकारस्यासम्भवात्, अथ समवायलक्षणेन सम्बन्धेन वर्त्तते इति मन्येथास्तदप्ययुक्तं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समवायस्यैवासिद्धत्वात्, न खलु वस्तुद्वयापान्तरालवर्त्ती तत्सम्बन्धनिबन्धनभूतो जतुकल्पः क्वचित्समवायो नाम पदार्थः प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयोऽस्ति ततः कथं तमस्तित्वेन मन्यामहे?, अन्यच्च–सोऽपि समवायः स्वसमवायिषु कथं वर्त्तत इति वाच्यं, तदन्यसमवायबलादिति चेत्, ननु तत्रापि स एव प्रसङ्ग इत्यनवस्थानुषक्तिः, अथ स्वपरोभयसम्बन्धस्वभावः समवायो यथा स्वपरप्रकाशधर्मा प्रदीपः, तेनात्मानं स्वसमवायिभिः सह सम्बन्धयति स्वसमवायिनश्च परस्परमिति, तदप्यमनोरमं, विकल्पयुगलानतिक्रमात्, तथाहि–तौ हि स्वभावौ समवायाद्भिन्नौ वा स्यात् अभिन्नौ वा?, यद्याद्यः पक्षस्ततो न समवायस्य तौ, सम्बन्धाभावात्, वस्त्वन्तरधर्मवत्, अथाभिन्नौ ततः समवाय एव तौ, तदव्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवत्, कुतः स्वभावद्वयकल्पनेति भूतविषयप्रमाणाभावः, एवं विभ्रमे स्फुटीकृते भगवानुत्तरमाह—वेदपदानामर्थं न जानासि, चशब्दात् युक्तिं भावार्थं च, तत्र तव संशयनिबन्धनानां वेदपदानामयमर्थः–स्वप्नोपमं वै सकलमित्यादीनि अध्यात्मचिन्तायां मणिकनकाङ्गनादिसंयोगस्य अनियतत्वात् अस्थिरत्वात् विपाककटुकत्वात् आस्थानिवृत्तिपराणि, न तु तदत्यन्ताभावप्रतिपादकानि, द्यावा पृथिवीत्यादीनि तु भूतसत्ताप्रतिपादकानि भवतोऽपि प्रतीतानि, ततो वेदसिद्धा सिद्धा भूतानां सत्ता, यदप्युक्तं–भूताभाव एव समीचीनस्तेषां प्रमाणेनाग्रहणादित्यादि तदप्यसम्यक्, भूतानां प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात्, तथाहि—द्विविधं परमाणूनां रूपं–साधारणमसाधारणं च, तत्र यदसाधारणं रूपं तेन चाक्षुषविज्ञाने न ते प्रतिभासन्ते, साधारणेन तु रूपेण प्रतिभासन्त एव, न च वाच्यं–साधारणं रूपं नास्त्येव, तदभावे खल्वेकपरमाणुव्यतिरेकेणान्येषामपरमाणुत्वप्रसङ्गात्, परमाणुत्वेनापि तुल्यरूपत्वाभावाद्, अन्यथाऽस्मदभ्युपगमप्रसक्तेः, अथ यदेतत्परमा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णुत्वेन तुल्यरूपत्वं तत्तदन्यव्यावृत्तिमात्रपरिकल्पितसत्ताकं, यथाऽयमपि परमाणुः परमाणोर्व्यावृत्तोऽयमप्यपरपरमाणोर्व्यावृत्त इति, ननु परमार्थिकं, तदेतदयुक्तं, स्वतस्तुल्यरूपत्वाभावेन तदन्यव्यावृत्तेरपि साधारणाया असम्भवात्, न खलु यथा घटस्याघटाद् व्यावृत्तिस्तथा पटस्यापि, घटेन सह पटस्य तुल्यरूपत्वाभावात्, अथ सर्वं स्वलक्षणं सकलं सजातीयविजातीयव्यावृत्तिस्वभावं, ततः समानरूपत्वाभावेऽपि विजातीयव्यावृत्तिः समाना, तदपि न युक्तिक्षमं, विजातीयेभ्यो व्यावृत्तौ परमाणुत्वस्येव सजातीयेभ्यो व्यावृत्तावपरमाणुत्वस्य प्रसङ्गात्, न्यायस्य समानत्वाद्, न च भवन्मते सजातीयव्यावृत्तिर्युक्ता, सामान्यस्यैवानभ्युपगमात्, न च सजातीयत्वाभावेऽपि विजातीयव्यावृत्तता वस्तुन उपपद्यते, अनेकस्वभावानभ्युपगमात्, न चैकेन स्वभावेन सर्वेभ्यो व्यावृत्तिः, तेषां सर्वेषामपि व्यावृत्तिविषयाणामेकरूपताप्रसक्तेः, तथाहि—घटाद् व्यावर्त्तते पटो, घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्त्तते तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटरूपतानुषक्तिः, अन्यथा ततस्तत्स्वभावतया व्यावृत्त्ययोगात्, तस्मादवश्यं परमाणूनां द्वे रूपे प्रतिपत्तव्ये तुल्यमतुल्यं च, तत्र तुल्यरूपेण चाक्षुषे विज्ञाने समुदिताः परमाणवः प्रतिभासन्ते इति भूतानां प्रत्यक्षविषयता । यदपि समूहपक्षेऽभिहितं 'परमाणूनां संयोगो देशतो वा स्यात्सर्वात्मना वा' इत्यादि, तत्र पक्षद्वयेऽप्यदोषः, परमाणूनां विचित्रपरिणमनशक्तिसमन्विततया कदाचिद्देशतः कदाचित्सर्वात्मना सम्बन्धभावात्, न च वाच्यं देशाभ्युपगमे परमाणोः अपरमाणुत्वप्रसङ्गः, परमाणुर्हि स उच्यते यतो नान्यदल्पतरं, परमोऽणुः परमाणुरिति व्युत्पत्तेः, न च विवक्षितात्परमाणोरन्यदल्पतरमस्ति ततः परमाणुत्वाव्याघातः, तथा च सति देशकालादिसामग्रीविशेषसम्पादितपरिणामविशेषपरिकल्पितानां परमाणूनां परस्परं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत् प्रत्यासन्नत्वं तदेव परमाणुसमूहः, एष एव च देशतः परमाणूनां सम्बन्धः, तथा चार्षम्—"जं चेव खलु अणूणं पच्चासन्नत्तणं मिहो एत्थ। तं चेव उ संबंधो विसिट्ठपरिणामसावेक्खं ॥ १ ॥ देसेण उ संबंधो इह देसे सति कहमणुत्तंपि ?। अप्पतराभावातो न अप्पतरयं ततो अत्थि ॥ २ ॥ (धर्म. ७१०–७११) अथ दिग्भेदतो यो भेदः स एवान्यदल्पतरमस्तीति कथं न परमाणुत्वव्याघातः?, तदपि अयुक्तम्, सम्यक् तत्त्वापरिज्ञानात्, परमोऽणुर्हि स उच्यते यो द्रव्यतोऽशक्यभेदो, न च विवक्षितस्य परमाणोर्द्रव्येण शस्त्रादिना भेद आपादयितुं शक्यते, तथा चोक्तम्—"सत्थेण सुतिक्खेणवि छेत्तुं भेत्तुं व जं किर न सक्का। तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ॥ १ ॥ (अनु–१००*) ततोऽन्यस्य पृथग्द्रव्यरूपस्याल्पतरस्याभावादव्याहतं षड्दिग्भेदेऽपि परमाणुत्वं, उक्तं च—"दिसिभेदातोच्चिय सक्कभेयतो कह न अप्पतरगंति ?। दवेण सक्कभेयं विवक्खियं ता कुतो तमिह ? ॥ १ ॥ (धर्म. ७१३) योऽपि सर्वात्मपक्षे दोष उक्तः यथा—परमाणुत्वमात्रप्रसङ्ग इति सोऽप्ययुक्तो, यतो न परमाणोः परमाणुर्विनाशकः, सतः सर्वथा विनाशायोगात्, ततो द्वावपि परमाणू तथाविधपरमाणुविशेषतः सर्वात्मना सम्बन्धमापद्यमानौ सत्तोपचयविशेषात् स्थूलद्व्यणुकरूपतामेव प्रामुतो न परमाणुत्वमात्रमित्यदोषः, उक्तं च—"न य जुत्तं अणुमेत्तं सत्तातो सव्वहावि संजोगे। त्रायरमुत्तत्ता णासभावतो उवचयविसेसा ॥ १ ॥" (धर्म. ७१७) अवयविपक्षोक्तं दूषणमनवकाशं, पृथग्द्रव्यान्तररूपस्यावयविनोऽस्माभिरनभ्युपगमात्, य एव हि परमाणूनां तथाविधदेशकालादिसामग्रीविशेषसापेक्षाणां विवक्षितजलधारणादिक्रियासमर्थः समानः परिणामविशेषः सोऽवयवी, ततः कुतो देशकात्स्न्यवृत्तिविकल्पदोषावकाशः ?, शेषं तु समवायपक्षोक्तमनभ्युपगमात् न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

नः क्षितिमावहति । एवं भगवताऽभिहिते स किं कृतवानित्याह—

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । सो समणो पवइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥ ६१३ ॥

अस्या व्याख्या पूर्ववत् । चतुर्थो गणधरः समाप्तः ॥

पञ्चमगणधरवक्तव्यतामाह—

ते पवइए सोउं सुहम्म आगच्छई जिणसगासं । वच्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६१४ ॥

तान्—इन्द्रभूतिप्रमुखान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा सुधर्मः पञ्चमो गणधरो जिनसकाशं—भगवत्समीपमागच्छति, किंभूतेनाध्यवसायेनेत्याह, पश्चार्द्धं पूर्ववत् ॥ स च भगवन्तं दृष्ट्वाऽतीव मुमुदे, अत्रान्तरे—

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केण । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥ ६१५ ॥

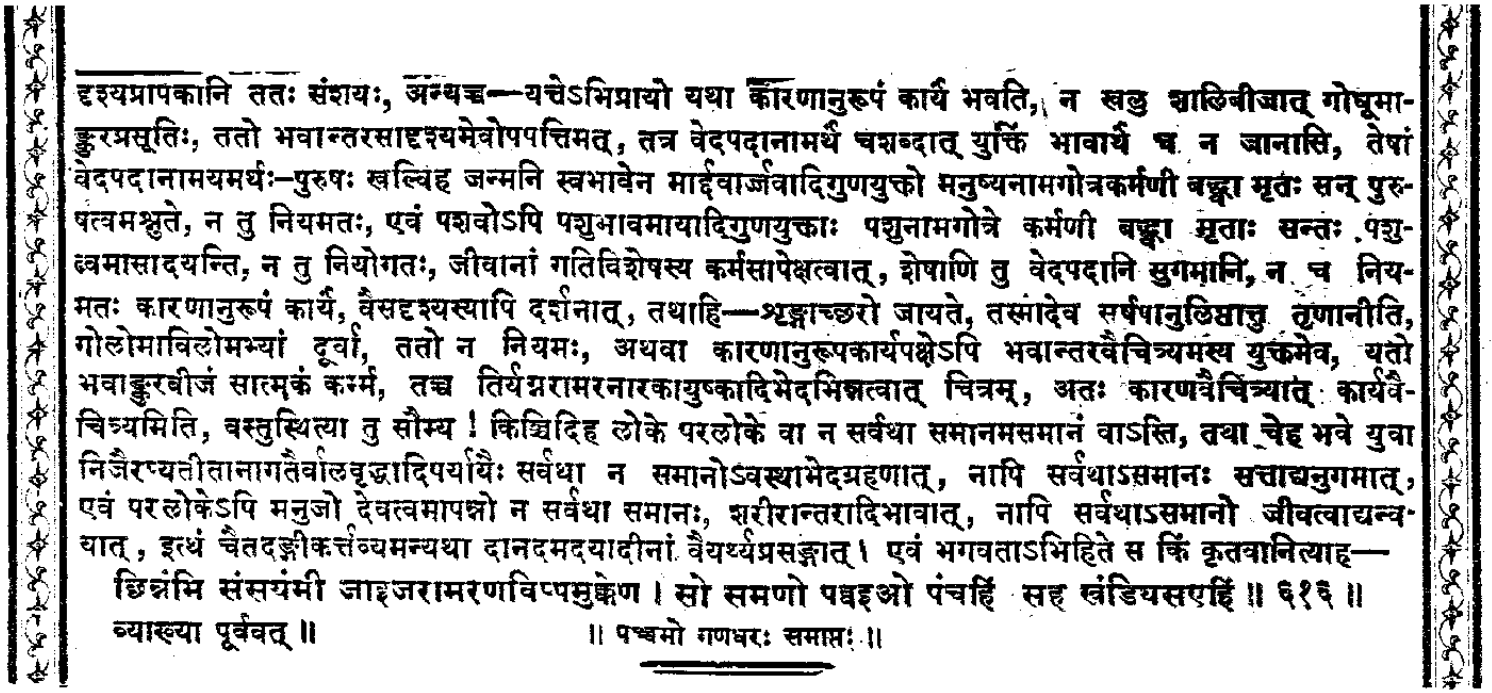
अस्या व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने जारिसो इह भवंमि सो तारिसो परभवेऽवि । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो॥६१६॥

किं मन्यसे यो मनुष्यादिर्यादृश इह भवे स परभवेऽपि तादृश एव, नन्वयमनुचितस्तव संशयो, यतोऽसौ विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि चामूनि पदानि–'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्व'मित्यादि, तथा 'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते'इत्यादि च, तत्र वैदपदानां त्वमित्थमर्थमवबुद्ध्यसे—पुरुषो मृतः सन् पुरुषत्वमश्नुते–प्राप्नोति, पशवो—गवादयः पशुत्वमेव, अमूनि वेदपदानि किल भवान्तरसादृश्यप्रतिपादकानि, तथा शृगालो वै एष इत्यादीनि तु वैस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ पंचम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते



दृश्यप्रापकानि ततः संशयः, अन्यच्च—यच्चेऽभिप्रायो यथा कारणानुरूपं कार्यं भवति, न खलु शालिबीजात् गोधूमाङ्कुरप्रसूतिः, ततो भवान्तरसादृश्यमेवोपपत्तिमत्, तत्र वेदपदानामर्थं चशब्दात् युक्तिं भावार्थं च न जानासि, तेषां वेदपदानामयमर्थः–पुरुषः खल्विह जन्मनि स्वभावेन मार्दवार्जवादिगुणयुक्तो मनुष्यनामगोत्रकर्मणी बद्धा मृतः सन् पुरुषत्वमश्नुते, न तु नियमतः, एवं पशवोऽपि पशुभावमायादिगुणयुक्ताः पशुनामगोत्रे कर्मणी बद्धा मृताः सन्तः पशुत्वमासादयन्ति, न तु नियोगतः, जीवानां गतिविशेषस्य कर्मसापेक्षत्वात्, शेषाणि तु वेदपदानि सुगमानि, न च नियमतः कारणानुरूपं कार्यं, वैसदृश्यस्यापि दर्शनात्, तथाहि—शृङ्गाच्छरो जायते, तस्मादेव सर्षपानुलिप्तात्तु तृणानीति, गोलोमाविलोमभ्यां दूर्वा, ततो न नियमः, अथवा कारणानुरूपकार्यपक्षेऽपि भवान्तरवैचित्र्यमस्य युक्तमेव, यतो भवाङ्कुरबीजं सात्मकं कर्म, तच्च तिर्यग्नरामरनारकायुष्कादिभेदभिन्नत्वात् चित्रम्, अतः कारणवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्यमिति, वस्तुस्थित्या तु सौम्य ! किञ्चिदिह लोके परलोके वा न सर्वथा समानमसमानं वाऽस्ति, तथा चेह भवे युवा निजैरप्यतीतानागतैर्बालवृद्धादिपर्यायैः सर्वथा न समानोऽवस्थाभेदग्रहणात्, नापि सर्वथाऽसमानः सत्ताद्यनुगमात्, एवं परलोकेऽपि मनुजो देवत्वमापन्नो न सर्वथा समानः, शरीरान्तरादिभावात्, नापि सर्वथाऽसमानो जीवत्वाद्यन्वयात्, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमन्यथा दानदमदयादीनां वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। एवं भगवताऽभिहिते स किं कृतवानित्याह—

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केण। सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥ ६१६ ॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥

॥ पञ्चमो गणधरः समाप्तः ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने गाथा-क्रम ॥ ६१६ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रणदोषः, सा गाथा ॥ ६१७ ॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

अधुना षष्ठगणधरवक्तव्यतामाह—

ते पवइए सोउं मंडित आगच्छई जिणसगासे । वच्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६१८ ॥

तान्–इन्द्रभूतिप्रमुखान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा मण्डिकः षष्ठो गणधरो जिनसकाशं–भगवत्समीपमागच्छति, किंभूतेनाध्यवसायेनेत्याह—वच्चामि णेत्यादि पश्चार्द्धं पूर्ववत् ॥ स च भगवत्समीपं गत्वा भुवननाथं प्रणम्य प्रमुदितस्तदग्रतस्तस्थौ, अत्रान्तरे—

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वण्णूसव्वदरिसीण ॥ ६१९ ॥

व्याख्या पूर्ववत् ॥

किं मन्ने बंधमोक्खो अत्थी नत्थित्ति संसओ तुज्झ । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६२०॥

किं मन्यसे बन्धमोक्षौ स्तो न वा स्त इति, नन्वयमनुचितः तव संशयः, व्याख्यान्तरं पूर्ववत्, यतोऽयं तव संशयो विरुद्धवेदपदश्रुतिसमुत्थो वर्त्तते, तानि च वेदपदान्यमूनि—"स एष विगुणो विभुः न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमाभ्यंतरं वा वेद" इत्यादीनि "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत" इत्यादीनि च, एतेषां च वेदपदानामयमर्थस्तव चेतसि प्रतिभासते–स एषः–अधिकृतो जीवो विगुणः–सत्त्वादिगुणरहितो विभुः–सर्वगतः न बध्यते, पुण्यपापाभ्यां न युज्यते इत्यर्थः, संसरति वा, नेत्यनुवर्त्तते, न मुच्यते–न कर्म्मणा वियुज्यते, बन्धाभावात्, नाप्यन्यं मोचयति, क्रियारहितत्वात्, अनेनाकर्तृत्वमावेदयति, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ षष्ठम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

वा एष बाह्यम्–आत्मव्यतिरिक्तं महदहङ्कारादि आभ्यन्तरं वा–स्वरूपमेव वेद–जानाति, प्रकृतिधर्म्मत्वात् ज्ञानस्य, प्रकृतेश्चाचेतनत्वादिति बन्धमोक्षानुपपत्तिरिति भावः, तदेवममूनि किल बन्धमोक्षाभावप्रतिपादकानि, तथा नह वै, नैवेत्यर्थः, सशरीरस्य–बाह्याध्यात्मिकानादिशरीरसन्तानयुक्तस्य प्रियाप्रिययोः–सुखदुःखयोरपहतिः–विनाशोऽस्ति, संसारिणः सुखदुःखाभावो नास्तीत्यर्थः, अशरीरं–शरीररहितं सन्तं, वावशब्दो निपातो वाशब्दार्थः, अशरीरी वा सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः, न सुखदुःखे अनुषजतः कारणाभावात्, अमूनि किल वाक्यानि मोक्षाभिधायकानि, ततः संशयः, अन्यच्च–अयं सौम्य! तवाभिप्रायः—बन्धो हि जीवकर्म्मसंयोगलक्षणः, स आदिमान् आदिरहितो वा?, तत्र यदि प्रथमो विकल्पस्ततो विकल्पत्रयप्रसङ्गः, किं पूर्वमात्मनः प्रसूतिः पश्चात्कर्मणः यदिवा पूर्वं कर्मणः पश्चादात्मनः आहोश्चित् युगपदुभयस्येति, किञ्चातः?, सर्वत्रापि दोषः, तथाहि—न तावदात्मनः पूर्वं प्रसूतिर्निर्हेतुकत्वात्, व्योमकुसुमवत्, नापि कर्मणः प्राक्प्रसूतिः कर्त्तुरभावात्, न चाकृतं कर्म्म भवति, युगपत्प्रसूतिरप्ययुक्ता, कारणाभावात्, न च अनादिमत्यप्यात्मनि बन्धो घटामटाट्यते, कारणाभावात्, गगनस्येव, इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यमन्यथा मुक्तस्यापि बन्धप्रसङ्गो विशेषाभावात्, तथा च सति नित्यमुक्तत्वात् मोक्षानुष्ठानवैयर्थ्यमिति, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि नात्मकर्म्मवियोगो भवेद् अनादित्वाद् आकाशसंयोगवदिति मोक्षानुपपत्तिरिति, तत्र वेदपदानामयमर्थः–स एषः–मुक्तात्मा विगताः छाद्मस्थिकज्ञानादयो गुणा यस्य स विगुणः विभुः–ज्ञानात्मना सर्वगतः, केवलज्ञानस्य सकललोकावभासित्वात्, तथा न बध्यते, मिथ्यादर्शनादिबन्धकारणाभावात्, संसरति वा मनुष्यादिभवेषु, नेत्यनुवर्त्तते, कर्मबीजाभावात्, नापि मुच्यते, मुक्तत्वात्, न मोचयति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेशदानविकलत्वात्, तथा सांसारिकसुखनिवृत्त्यर्थमाह–नवा एष मुक्तात्मा बाह्यं–स्रक्चन्दनादिजनितं आभ्यन्तरम्–आभिमानिकं वेद–अनुभवात्मना विजानाति, एवमेतानि वेदपदानि मुक्तात्मस्वरूपप्रतिपादकानि, शेषाणि तु सुप्रतीतान्येव, तथा जीवोऽनादिनिधनः सत्त्वे सत्यहेतुकत्वात्, कर्मापि प्रवाहतोऽनादिमत्, ततो जीवकर्म्मणोरनादिमानेव संयोगो, धर्म्माधर्म्मास्तिकायाकाशसंयोगवदिति प्रथमपक्षोक्तदूषणानवकाशः, योऽपि द्वितीयपक्षेऽभिहितो दोषोऽनादित्वात्संयोगस्य वियोगाभाव इति, सोऽप्यसमीचीनः, तथादर्शनात्, तथाहि—काञ्चनोपलयोः संयोगोऽनादिसन्ततिगतोऽपि क्षारमृत्पुटपाकादिद्रव्यसंयोगोपायतो विघटमानको दृष्टस्तथा जीवकर्म्मणोरपि ज्ञानदर्शनचारित्रोपायतो वियोग इति न कश्चिद्दोषः, अथ यद्यनादि सर्वं कर्म्म ततस्तस्य जीवकृतत्वानुपपत्तिः, जीवकृतत्वेऽनादित्वविरोधात्, तदसम्यक्, वस्तुगत्यनवबोधात्, तथाहि—जीवेन तथा तथा मिथ्यादर्शनादिसव्यपेक्षेण तदा तदोपादीयते कर्म्म तेन जीवेन कृतमित्युच्यते, तच्च तथा प्रवाहापेक्षया चिन्त्यमानमादिविकलमित्यनादि, निदर्शनं चात्र कालो, यथा हि यावान् अतीतः कालस्तेनाशेषेण वर्त्तमानत्वमनुभूतमथ चासौ प्रवाहतोऽनादिरेवं कर्माणीति, यदप्युक्तं 'मुक्तस्यापि बन्धप्रसङ्गो विशेषाभावा'दिति, तदप्ययुक्तम्, विशेषाभावासिद्धेः, तथाहि—संसारिजीवः कषायादियुक्तः, कषायादियुक्तश्च कर्म्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते इति तस्य कर्म्मबन्धोपपत्तिः, मुक्तस्तु कषायादिपरिणामविकलः, शुक्लध्यानमाहात्म्यतस्तेषां समूलमुन्मूलितत्वात्, ततो मुक्त्यवस्थायां कर्म्मबन्धाप्रसङ्गः, न च वाच्यम्–एवं सति तर्हि निरन्तरं मुक्तिगमनतो भव्यानामुच्छेदप्रसङ्गः, अनन्तानन्तसङ्ख्योपेतत्वात्, इह यदनन्तानन्तसङ्ख्योपेतं तत्प्रतिसमयमेकद्वित्र्यादिसङ्ख्ययाऽपगच्छदपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न कदाचन निर्लेपीभवति, यथाऽनागतकालः, तथा च अनन्तानन्तसङ्ख्योपेता भव्या इत्यनुच्छेदः, अथ सिद्धा अप्यनन्तास्तेषामपि प्रवाहतोऽनादित्वात्ततः कथं तेषां तावत्सङ्ख्याकानां परिमितक्षेत्रेऽवस्थानाविरोधः ?, उच्यते, अमूर्त्तत्वात्, तथा ह्यमूर्त्तानां प्रतिद्रव्यमनन्तानां केवलज्ञानदर्शनानां सम्पातोऽस्ति न च विरोध इति,

छिन्नंमि संसयम्मी जाइजरामरणविप्पमुक्केण । सो समणो पवइओ अद्धट्ठहिं सह खण्डियसएहिं ॥ ६२१ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरम् अर्द्धचतुर्थैरिति–सार्द्धैस्त्रिभिः सह खण्डिकशतैरिति ॥

षष्ठो गणधरः समाप्तः ॥

ते पवइए सोउं, मोरिअ आगच्छई जिणसगासं । वच्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६२२ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरमिह मौर्य आगच्छति जिनसकाशमिति नानात्वम् ।

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥ ६२३ ॥

अस्या अपि सपातनिका व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने अत्थि देवा उआहु नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥ ६२४ ॥

किं सन्ति देवा उत न सन्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं प्राग्वत्, अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिप्रभवो वर्त्तते, तानि चामूनि वेदपदानि—"स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छती"त्यादीनि, तथा "अपाम सोमं अमृता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ सप्तम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

अभूम अगमज्ज्योतिर्विदाम देवान् किं नूनमस्मात्तृणवदरातिः किमु धूर्त्तिरमृत मर्त्यस्ये'त्यादीनि 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्रयमवरुणकुवेरादी'नित्यादीनि च, एतेषां चायमर्थस्तव मतौ प्रतिभासते—स एष यज्ञ एव दुरितदारणक्षमत्वादायुधं–प्रहरणं यज्ञायुधं तदस्यास्तीति यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा–प्रगुणेन न्यायेन स्वर्गलोकं गच्छतीति, तथा अपाम–पीतवन्तः सोमं–लतारसं अमृत–अमरणधर्माणो अभूम–भूताः स्म अगमन्–गताः ज्योतिः—स्वर्गं अविदाम देवान्—देवत्वं प्राप्ताः स्म, किं नूनमस्मादूर्ध्वं तृणवत्करिष्यति, कोऽसावित्याह—अरातिः–व्याधिः, तथा किमु प्रश्ने धूर्त्तिः–जरा, अमृतवत्तस्य अमृतत्वं प्राप्तस्य मर्त्यस्य पुरुषस्येत्यर्थः, अमरणधर्म्मणो मनुष्यस्य किं करिष्यति जराव्याधय इति भावः, तदेवममूनि किल वेदपदानि देवसत्ताप्रतिपादकानि, 'को जानाति मायोपमानि'त्यादीनि देवसत्ताप्रतिषेधकानीति तव संशयः, तथा सौम्य ! त्वमित्थं मन्यसे—नारकाः किल सङ्क्लिष्टासुरपरमाधार्मिकायत्ततया कर्मवशतया च परतन्त्रत्वात् स्वयं च दुःखसन्तप्तत्वात् इहागन्तुमशक्ताः, वयमपि तत्रानेन शरीरेण कर्म्मवशतयैव गन्तुमशक्ताः, ततः प्रत्यक्षकरणोपायासम्भवात् श्रुतिस्मृतिग्रन्थेषु श्रूयमाणमागमप्रामाण्यतः श्रद्धेया भवन्तु, ये पुनर्देवास्ते स्वच्छन्दचारिणः कामरूपिणः प्रकृष्टदिव्यप्रभावा इहागमनसामर्थ्यवन्तस्ततः किमितीह नागच्छन्ति येन न दृश्यन्ते इति, तस्मात्ते न सन्त्यस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वात् खरविषाणवदिति, तत्र वेदपदानां चेत्यादि पूर्ववत्, तत्र वेदपदानामयमर्थः—को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्रयमवरुणकुवेरादीनित्यादि, तत्र परमार्थचिन्तायां सन्ति देवा मत्प्रत्यक्षत्वात् मनुष्यवत्, भवतोऽप्यागमप्रमाणतः सिद्धाः, केवलं सर्वमनित्यं मायोपमं, देवा अपि हि स्वकृतभोगफलकर्म्मपर्यन्ते विनश्वराः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

किं पुनः शेषर्द्धिसमुदाया इत्यनित्यत्वभावनाप्रतिपादकमिदं वाक्यं, न तु देवसत्तानिषेधकमिति, तथा स्वच्छन्दचारिणोऽप्यमी यदिह नागच्छन्ति तत्रेदं कारणं–नागच्छन्तीह सदैव सुरगणाः, सङ्क्रान्तदिव्यप्रेमतया विषयप्रसक्तत्वात्, प्रकृष्टरूपगुणस्त्रीप्रसक्तविच्छिन्नरम्यदेशान्तरगतमनुष्यवत्, तथा असमाप्तकर्त्तव्यत्वात्, बहुकर्त्तव्यताप्रसाधनप्रयुक्तविनीतपुरुषवत्, तथा अनधीनमनुजकार्यत्वात् नारकवत् अनभिमतगेहादौ निःसङ्गयतिवद्वेति, अशुभत्वान् नरभवस्य तदगन्धासहिष्णुतया नागच्छन्ति, कडेवरमिव हंसा इति, जिनजन्ममहिमादिषु पुनर्भक्तिविशेषात् भवान्तररागतश्च क्वचिदागच्छन्त्येव, तथा चैते साम्प्रतं भवतोऽपि प्रत्यक्षा एव, शेषकालमपि सामान्यतश्चन्द्रसूर्यादिविमानप्रत्यक्षत्वात् तद्वासिसिद्धिरिति कृतं प्रसङ्गेन,

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केण । सो समणो पवइओ अदुट्ठहिं खंडियसएहिं ॥ ६२५ ॥

व्याख्या पूर्ववत् । ॥ सप्तमो गणधरः समाप्तः ॥

ते पवइए सोउं अकंपिओऽवि आगच्छइ जिणसगासं । वच्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६२६ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरमत्राकम्पिक आगच्छति–जिनसकाशमिति नानात्वम् ।

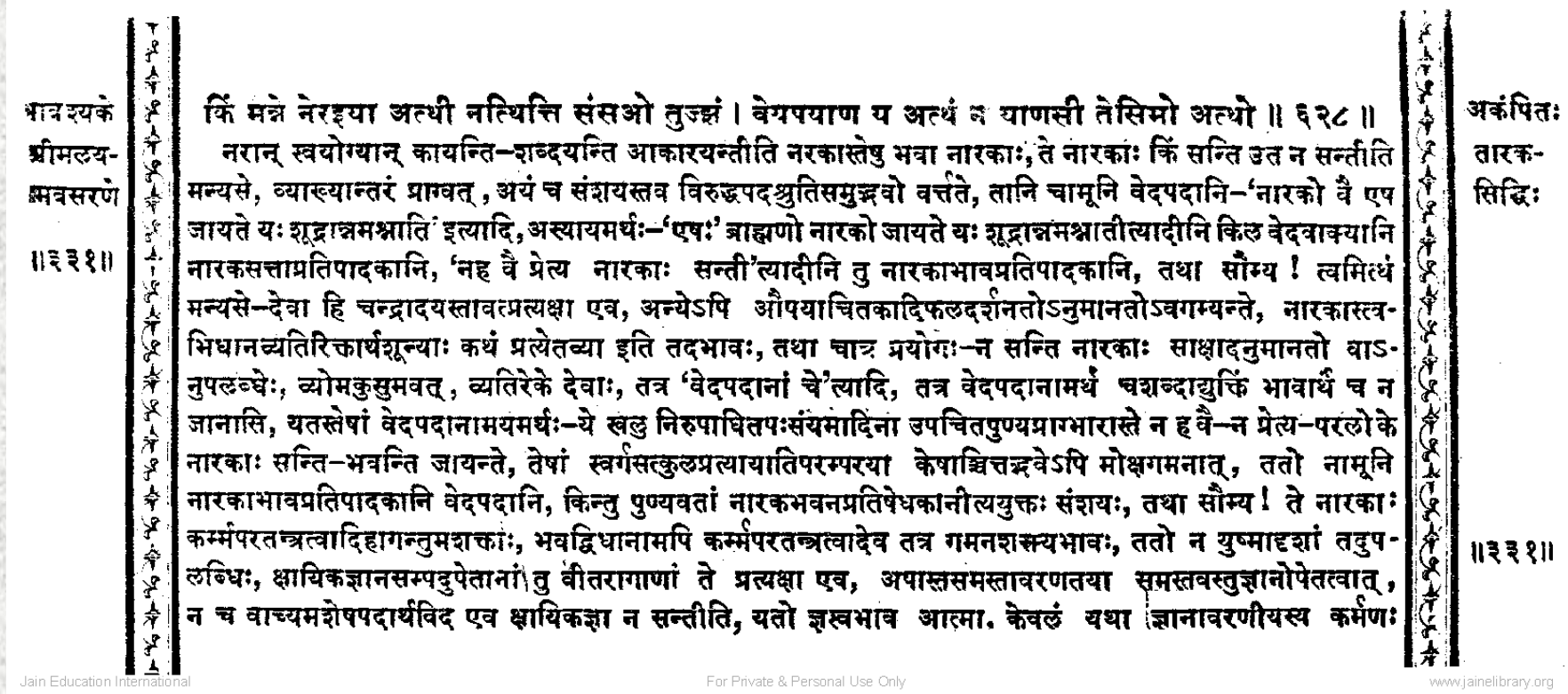
अब्भट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीणं ॥ ६२७ ॥

अस्याः सपातनिका व्याख्या प्राग्वत् ।

आ.सू.५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ अष्टम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते



आवश्यके श्रीमलय-गिरीये अवसरणे ॥३३१॥

किं मन्ने नेरइया अत्थी नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेगपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥ ६२८ ॥

नरान् स्वयोग्यान् कायन्ति–शब्दयन्ति आकारयन्तीति नरकास्तेषु भवा नारकाः, ते नारकाः किं सन्ति उत न सन्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं प्राग्वत्, अयं च संशयस्तव विरुद्धपदश्रुतिसमुद्भवो वर्त्तते, तानि चामूनि वेदपदानि–'नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति' इत्यादि, अस्यायमर्थः–'एषः' ब्राह्मणो नारको जायते यः शूद्रान्नमश्नातीत्यादीनि किल वेदवाक्यानि नारकसत्ताप्रतिपादकानि, 'नह वै प्रेत्य नारकाः सन्ती'त्यादीनि तु नारकाभावप्रतिपादकानि, तथा सौम्य ! त्वमित्थं मन्यसे–देवा हि चन्द्रादयस्तावत्प्रत्यक्षा एव, अन्येऽपि औपयाचितकादिफलदर्शनतोऽनुमानतोऽवगम्यन्ते, नारकास्त्वभिधानव्यतिरिक्तार्थशून्याः कथं प्रत्येतव्या इति तदभावः, तथा चात्र प्रयोगः–न सन्ति नारकाः साक्षादनुमानतो वाऽनुपलब्धेः, व्योमकुसुमवत्, व्यतिरेके देवाः, तत्र 'वेदपदानां चे'त्यादि, तत्र वेदपदानामर्थं चशब्दाद्युक्तिं भावार्थं च न जानासि, यतस्तेषां वेदपदानामयमर्थः–ये खलु निरुपाधितपःसंयमादिना उपचितपुण्यप्राग्भारास्ते न ह वै–न प्रेत्य–परलोके नारकाः सन्ति–भवन्ति जायन्ते, तेषां स्वर्गसत्कुलप्रत्यायातिपरम्परया केषाञ्चित्तद्भवेऽपि मोक्षगमनात्, ततो नामूनि नारकाभावप्रतिपादकानि वेदपदानि, किन्तु पुण्यवतां नारकभवनप्रतिषेधकानीत्ययुक्तः संशयः, तथा सौम्य ! ते नारकाः कर्म्मपरतन्त्रत्वादिहागन्तुमशक्ताः, भवद्विधानामपि कर्म्मपरतन्त्रत्वादेव तत्र गमनशक्त्यभावः, ततो न युष्मादृशां तदुपलब्धिः, क्षायिकज्ञानसम्पदुपेतानां तु वीतरागाणां ते प्रत्यक्षा एव, अपास्तसमस्तावरणतया समस्तवस्तुज्ञानोपेतत्वात्, न च वाच्यमशेषपदार्थविद एव क्षायिकज्ञा न सन्तीति, यतो ज्ञस्वभाव आत्मा, केवलं यथा ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः

अकंपितः तारक-सिद्धिः ॥३३१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षयोपशमस्तथा तस्य रूपाविर्भावविशेषो दृश्यते, तथा च कश्चिद्बहु जानाति कश्चिद्बहुतरमिति, न चायं ज्ञानविशेषः सत्वात्मनस्तत्स्वभावतामन्तरेणोपपद्यते, ततोऽवश्यमसौ ज्ञस्वभावः प्रतिपत्तव्यः, तस्य चाशेषावरणविलये समस्तज्ञेयपरिच्छेदकता ज्ञस्वभावत्वात्, तथा चास्मिन्नर्थे लौकिको दृष्टान्तो, यथा पद्मरागादिरुपलविशेषो भास्वरस्वरूपोऽपि स्वगतमलकलङ्काङ्कितस्तदा वस्त्वप्रकाशयन्नपि क्षारमृत्पुटपाकाद्युपायतः स्वगतमललेपापगमे प्रकाशयति, एवमात्मापि ज्ञस्वभावः कर्ममलकलङ्काङ्कितः प्रागशेषं वस्त्वप्रकाशयन्नपि सम्यक्त्वज्ञानतपोविशेषसंयोगोपायतोऽपेतसमस्तावरणः समस्तं वस्तु प्रकाशयति, प्रतिबन्धकाभावात्, न चाप्रतिबद्धस्वभावस्यापि तस्य सर्वत्र प्रकाशनव्यापाराभावो, ज्ञस्वभावत्वात्, न हि ज्ञो ज्ञेये सति प्रतिबन्धशून्यो न प्रवर्त्तते, अथ पद्मरागोऽपि प्रकाशकस्वभावः, न चासौ प्रतिबन्धाभावे सर्वं प्रकाशयति, ततस्तेनैव व्यभिचार इति, तदसम्यक्, तस्य सन्निकृष्टार्थप्रकाशनस्वभावत्वाद् विप्रकृष्टविषये देशविप्रकर्षेणैव प्रतिबन्धभावात्, न चात्मनोऽपि देशविप्रकर्षः परिच्छेदप्रतिबन्धहेतुः,तस्यागमगम्येषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वखिलपदार्थेष्वधिगतिसामर्थ्यदर्शनात्, तथा च परमाणुमूलकीलकोदकामरलोकचन्द्रोपरागादिपरिच्छेदसामर्थ्यमस्यागमोपदेशतः क्षयोपशमवतोऽपि दृश्यते, एवं साक्षात्कारि क्षायिकमिति प्रतिपत्तव्यमिति क्षायिकज्ञानवतां प्रत्यक्षा नारकाः, भवतोऽप्यनुमानगम्याः, तच्चेदमनुमानं–विद्यमानोत्कृष्टं प्रकृष्टपापफलं कर्म्मफलत्वात् पुण्यफलवत्, न च तिर्यङ्नरा एव प्रकृष्टपापफलभुजः, तस्यौदारिकशरीरवता वेदयितुमशक्यत्वात्, अनुत्तरसुरजन्मनिबन्धनप्रकृष्टपुण्यफलवत्, तथा आगमप्रमाणगम्याश्चैते,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

यत एवमागमः–"सततानुबन्धयुक्तं दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् । तिर्यक् तृष्णाभयक्षुद्बधादि दुःखं सुखं चाल्पम् ॥ १ ॥ सुखदुःखे मनुजानां मनःशरीराश्रये बहुविकल्पे । सुखमेव तु देवानामल्पं दुःखं तु मनसिभवम् ॥ २॥" इत्यादि, एवम्–

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खंडियसएहिं ॥ ६२९ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरमत्र नानात्वं त्रिभिः खण्डिकशतैरिति ॥

अष्टमो गणधरः समाप्तः ॥

ते पव्वइए सोउं अयलो आगच्छई जिणसगासं । वच्छामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६३० ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरमचलभ्राता आगच्छति जिनसकाशमिति विशेषः,

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥ ६३१ ॥

अस्याः सपातनिका व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने पुण्णपावं अत्थी नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥ ६३२ ॥

किं पुण्यपापे स्तः किं वा नेति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत्, अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिप्रभवो दर्शनान्तरविरुद्धश्रुतिप्रभवश्च, तानि चामूनि वेदपदानि–'पुरुष एवेदं ग्निं सर्व'मित्यादि, अस्य यथा द्वितीयगणधरवक्तव्यतायां व्याख्या तथाऽत्रापि, तथा सौम्य ! अचलभ्रातस्त्वमित्थं मन्यसे—दर्शनविप्रतिपत्तिश्चात्र, तत्र केषांचिद्दर्शनं–पुण्यमे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ नवम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

वैकमस्ति न पापं, तदेव चावाप्तप्रकर्षावस्थं स्वर्गाय क्षीयमाणं मनुष्यतिर्यग्नरकादिभवफलाय, तदशेषक्षयाच्च मोक्ष इति, यथा अत्यन्तपथ्याहारसेवनादुत्कृष्टमारोग्यसुखं भवति, किञ्चित्पथ्याहारपरिवर्जनाच्चारोग्यसुखहानिः,अशेषाहारपरिक्षयाच्च सुखाभावकल्पोऽपवर्गः, अन्येषां तु पापमेवैकं, न पुण्यमस्ति, तदेव चोत्तमास्थामनुप्राप्तं नारकभवायालं, क्षीयमाणं तिर्यङ्नरामरभवायेति, तदत्यन्तक्षयाच्च मोक्ष इति, यथा अत्यन्तापथ्याहारसेवनात् परममनारोग्यं; तस्यैव किञ्चित्किञ्चिदपकर्षादारोग्यसुखं, अशेषपरित्यागात् मृतिकल्पो मोक्ष इति, अन्येषां तूभयमप्यन्योऽन्यानुविद्धस्वरूपकल्पं सम्मिश्रसुखदुःखाख्यहेतुफलभूतं, तथाहि–नैकान्ततः किल संसारिणः सुखं दुःखं वाऽस्ति, देवानामपि चेर्ष्यादियुक्तत्वात्, नारकाणामपि वा पञ्चेन्द्रियत्वानुभवात्, इत्थंभूतपुण्यपापाख्यवस्तुक्षयाच्च मोक्ष इति, अपरेषां तु स्वतन्त्रमुभयं विविक्तसुखदुःखकारणं, तत्क्षयाच्च निःश्रेयसावाप्तिरिति, तदेवं दर्शनानां परस्परविरुद्धत्वेनाप्रमाणत्वादस्मिन् विषये प्रमाणाभाव इति । तथा 'पुण्यः पुण्येने'त्यादिना प्रतिपादिता तत्सत्ता, ततः संशयः, तत्र वेदपदानां चार्थ, चशब्दात् युक्तिं हृदयं च, न जानासि, यतस्तेषामयमर्थः, तत्र यथा द्वितीयगणधरवक्तव्यतायां वेदपदानामर्थः स्वभावपक्षनिराकरणप्रवणोऽभिहितस्तथाऽत्र वक्तव्यः, सामान्यकर्म्मसिद्धिरपि तथैव वक्तव्या, यच्च दर्शनानामप्रामाण्यं परस्परविरुद्धत्वेन मन्यसे तदसाम्प्रतम्, एकस्य प्रमाणत्वात्, तथाहि–पाटलिपुत्रादिविविधस्वरूपाभिधायकाः सम्यक्स्वरूपाभिधायकयुक्ताः परस्परविरुद्धवचसोऽपि न सर्व एवाप्रमाणतां भजन्ते, तत्र यत्प्रमाणं तत् अप्रमाणनिरासद्वारेण प्रदर्शयिष्यामः, तत्र न तावत्पुण्यमेवापचीयमानं दुःखकारणं, तस्य सुखहेतुत्वेनेष्टत्वात्, स्वल्पस्यापि स्वल्पसुख-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यके श्रीमल्य-क्षमवसरणे

॥३३३॥

साधकत्वात्, तथा चाणीयसो हेमपिण्डादणुरपि सौवर्ण एव घंटो भवति, न मार्त्तिको राजतो वेति, न च पुण्याभावो दुःखहेतुस्तस्य निरुपाख्यतया हेतुत्वायोगात्, न च सुखाभाव एव स्वसत्ताविकलो दुःखं, तस्यानुभूयमानत्वात्, ततः स्वानुरूपकारणपूर्विका दुःखानुभूतिः अनुभूतित्वात् सुखानुभूतिवदिति केवलपुण्यवादनिरासः, केवलपापपक्षेऽपि इदमेवोपपत्तिजालं विपरीतं वक्तव्यं, नापि सर्वथाऽन्योऽन्यानुविद्धस्वरूपमुभयात्मकमेकं निरंशवस्त्वन्तरमभ्युपगन्तुं युक्तं, सम्मिश्रसुखदुःखाख्यकार्यप्रसङ्गात्, अथ च परस्परपरिहारेण विविक्ते सुखदुःखे अनुभूयेते, तथा स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धत्वात्, अन्यच्च—केवलसुखानुभवः श्रूयतेऽनुत्तरसुराणां, केवलदुःखानुभवो नारकाणां, न च सर्वथा सम्मिश्रैकरूपात्कारणादेवं विविक्तः कार्यभेदो युक्तः, तस्मादन्यदेव निमित्तं सुखातिशयस्यान्यदेव च दुःखातिशयस्य, न च सर्वथैकरूपस्य सुखातिशयनिबन्धनांशवृद्धिर्दुःखातिशयकारणांशहान्या सुखातिशयप्रभवाय दुःखातिशयनिबन्धनांशवृद्धिः सुखातिशयकारणांशहान्या दुःखातिशयप्रभवाय कल्पयितुं न्याय्या, भेदप्रसङ्गात्, तथा च यद्वृद्धावपि यस्य वृद्धिर्न भवति तत्ततो भिन्नं प्रतीतमेवेति सर्वथैकरूपता पुण्यपापयोर्न सङ्गता, कर्म्मसामान्यापेक्षया त्वविरुद्धाऽपि, तथाहि—सातसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यमन्यत् पापं, सर्वं च तत् कर्मेति, तस्माद्विविक्ते पुण्यपापे इति प्रतिपत्तव्यम्, सर्वस्यापि च संसारिण एतदुभयमप्यस्ति, केवलं किञ्चित् कस्यचिदुपशान्तं किञ्चित्क्षयोपशममुपगतं किञ्चित् क्षीणं किञ्चिदुदीर्णं ततः सुखदुःखवैचित्र्यं जन्तूनामिति ।

अचलः पुण्यपाप-सिद्धिः

॥३३३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केण । सो समणो पवइओ तीहिं उ सह खंडियसएहिं ॥ ६३३ ॥
व्याख्या पूर्ववत् ॥ नवमो गणधरः समाप्तः ॥

ते पवइए सोउं मेयज्जो आगच्छई जिणसगासं । वच्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६३४ ॥
पूर्ववत्, नवरं मेतार्य आगच्छतीति नानात्वम् ।

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥ ६३५ ॥
अस्याः सपातनिका व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने परलोगो अत्थी नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥ ६३६ ॥
किं परलोको–भवान्तरगतिलक्षणोऽस्ति किंवा नास्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत् । अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि च वेदपदान्यमूनि—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य' इत्यादीनि, तथा 'स वै अयमात्मा ज्ञानमय' इत्यादीनि च प्रथमगणधरवक्तव्यतायामिव भावनीयानि, तथा सौम्य ! त्वमित्थं मन्यसे—भूतसमुदायधर्म्मश्चैतन्यमिति कुतो भवान्तरलक्षणपरलोकसम्भवो, भूतसमुदायविनाशे चैतन्यस्यापि विनाशात् , अन्यच्च—भवेदात्मा तथापि स नित्योऽनित्यो वा ?, तत्र नित्यपक्षेऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया विभुतया च परलोकाभावः, अनित्यपक्षेऽपि निरन्वयविनश्वरस्वभावतया कारणक्षणस्य सर्वथा विनाशे उत्तरकालमिह लोकेऽपि क्षणान्तराप्रभव इति

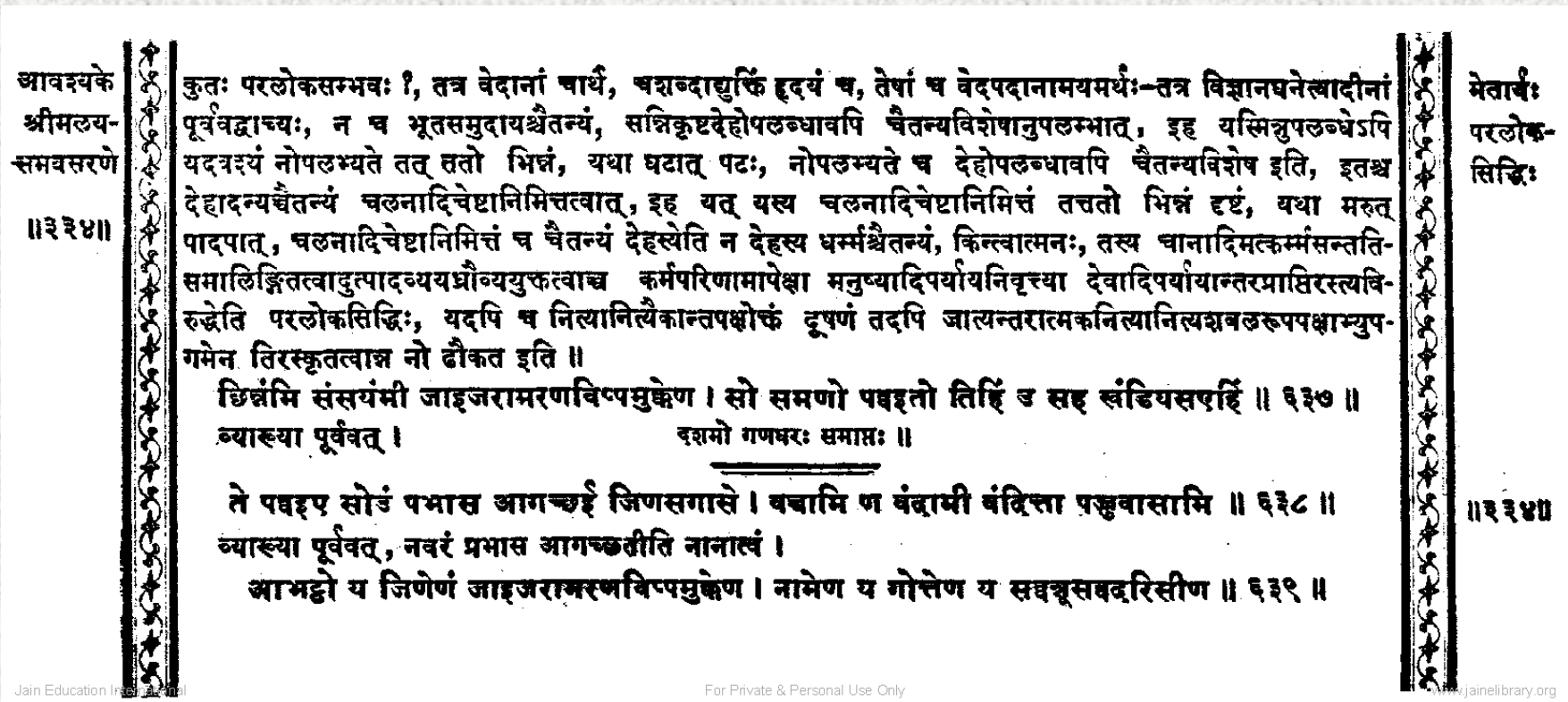
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ दशम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]



आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥३३४॥

कुतः परलोकसम्भवः ?, तत्र वेदानां चार्थे, चशब्दाद्युक्तिं हृदयं च, तेषां च वेदपदानामयमर्थः–तत्र विज्ञानघनेत्यादीनां पूर्ववद्व्याख्यः, न च भूतसमुदायश्चैतन्यं, सन्निकृष्टदेहोपलब्धावपि चैतन्यविशेषानुपलम्भात्, इह यस्मिन्नुपलब्धेऽपि यदन्वयं नोपलभ्यते तत् ततो भिन्नं, यथा घटात् पटः, नोपलभ्यते च देहोपलब्धावपि चैतन्यविशेष इति, इतश्च देहादन्यच्चैतन्यं चलनादिचेष्टानिमित्तत्वात्, इह यत् यस्य चलनादिचेष्टानिमित्तं तत्ततो भिन्नं दृष्टं, यथा मरुत् पादपात्, चलनादिचेष्टानिमित्तं च चैतन्यं देहस्येति न देहस्य धर्म्मश्चैतन्यं, किन्त्वात्मनः, तस्य चानादिमत्कर्म्मसन्तति-समालिङ्गितत्वादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वाच्च कर्मपरिणामापेक्षा मनुष्यादिपर्यायनिवृत्त्या देवादिपर्यायान्तरप्राप्तिरस्त्यवि-रुद्धेति परलोकसिद्धिः, यदपि च नित्यानित्यैकान्तपक्षोक्तं दूषणं तदपि जात्यन्तरात्मकनित्यानित्यशबलरूपपक्षाभ्युप-गमेन तिरस्कृतत्वान्न नो दौकत इति ॥

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केण । सो समणो पवइतो तिहिं उ सह खंडियसएहिं ॥ ६३७ ॥

व्याख्या पूर्ववत् । दशमो गणधरः समाप्तः ॥

ते पवइए सोउं पभास आगच्छई जिणसगासे । वच्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥ ६३८ ॥

व्याख्या पूर्ववत्, नवरं प्रभास आगच्छतीति नानात्वं ।

आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केण । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥ ६३९ ॥

मेतार्यः परलोक-सिद्धिः

॥३३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

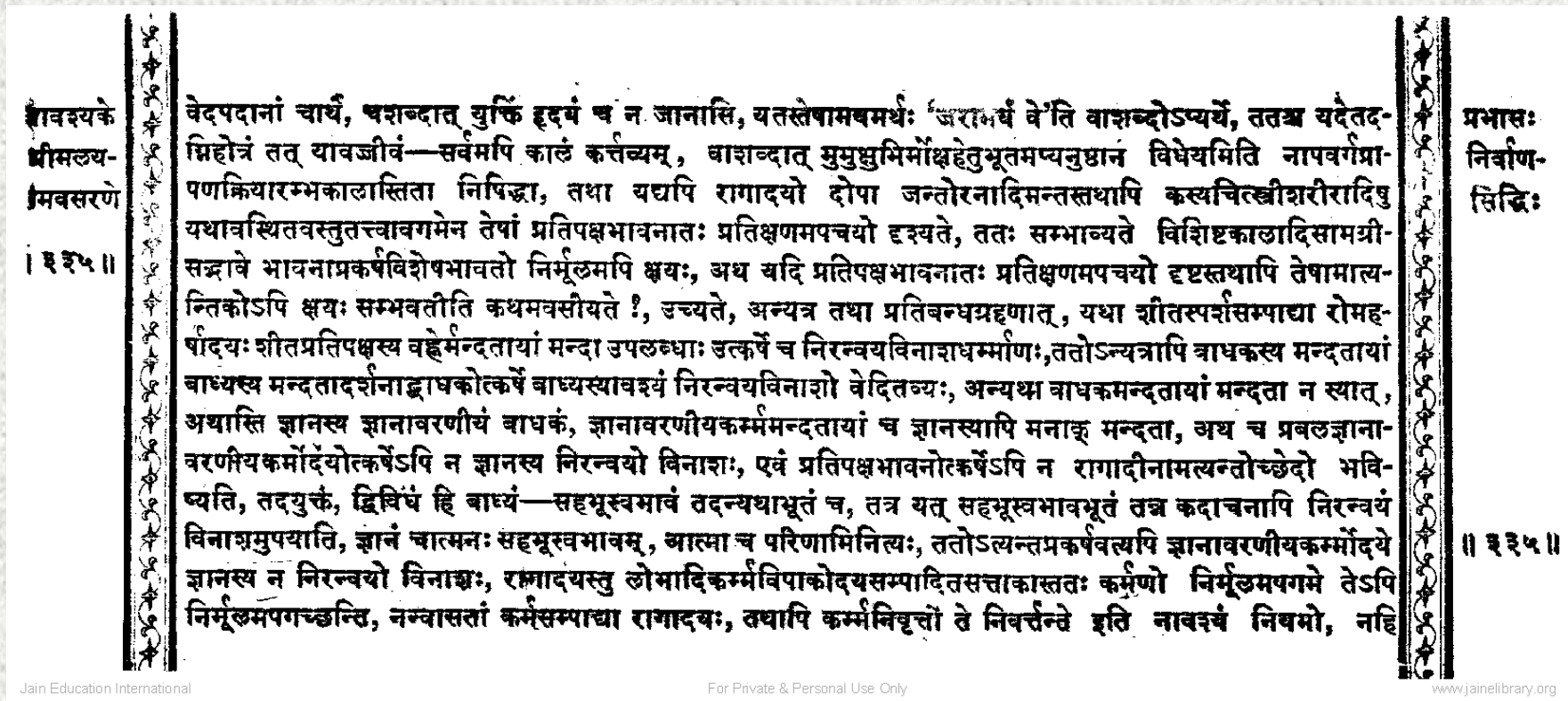
*** अथ एकादशम-गणधरस्य वृतांतं आरभ्यते

अस्याः सपातनिका व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने निव्वाणं अत्थी नत्थित्ति संसओ तुज्झ । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥ ६४० ॥

किं निर्वाणमस्ति किंवा नास्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत्, अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि च वेदपदान्यमूनि–'जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं' तथा 'सैषा गुहा दुरवगाहा' तथा 'द्वे ब्रह्मणी परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तरं ब्रह्मे'ति, तेषां चायमर्थस्तव चेतसि वर्त्तते–यदेतदग्निहोत्रं तत् जरामर्यमेव–यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति, अग्निहोत्रक्रिया च भूतवधहेतुत्वात् सबलरूपा, सा च स्वर्गफलैव स्यात्, नापवर्गफला, यावज्जीवमिति चोक्ते कालान्तरं नास्ति यत्रापवर्गहेतुभूतक्रियान्तरारम्भः स्यात्, तस्मात्साधनाभावात् मोक्षाभावः, तदेवममूनि किल वेदपदानि मोक्षाभावप्रतिपादकानि, शेषाणि तु तदस्तित्वसूचकानि, यतो गुहाऽत्र मुक्तिरूपा, सा च संसाराभिनन्दिना दुरवगाहा—दुष्प्रवेशा, तथा परं ब्रह्म सत्यं–मोक्षः, अनन्तरं तु ज्ञानमिति, अमूनि मोक्षास्तित्वप्रतिपादकानीति तव संशयः, तथा सौम्य! त्वमित्थं मन्यसे–संसारभवो मोक्षः, संसारश्च रागादिनिबन्धनः, रागादीनां चात्यन्तिकः क्षयोऽनुपपन्नः, तथाहि—रागादयो जन्तोरनादिमन्तो, यच्चानादिमत् न तद्विनाशमाविशति, तथा प्रमाणेन प्रतीतेः, तच्च प्रमाणमिदं–यद् अनादिमत् न तद्विनाशमाविशति, यथाऽऽकाशम्, अनादिमन्तश्च रागादय आत्मनो व्यतिरिक्ता वा भवेयुरव्यतिरिक्ता वा ?, व्यतिरेके सर्वेषां वीतरागत्वप्रसङ्गः, रागादिभ्यो व्यतिरिक्तत्वात्, विवक्षितपुरुषवत्, अथाव्यतिरिक्तास्ततस्तत्प्रक्षये आत्मनोऽपि क्षयप्रसङ्गः, तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्, तथा च कुतस्तस्य वस्तुतो मोक्ष ?, तस्यैवाभावादिति, तत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यके श्रीमलय- गिरीये ।। ३२५ ।।

वेदपदानां चार्थं, चशब्दात् युक्तिं हृदयं च न जानासि, यतस्तेषामयमर्थः 'जरामर्यं वे'ति वाशब्दोऽप्यर्थे, ततश्च यदेतद-
ग्निहोत्रं तत् यावज्जीवं—सर्वमपि कालं कर्त्तव्यम्, वाशब्दात् मुमुक्षुभिर्मोक्षहेतुभूतमप्यनुष्ठानं विधेयमिति नापवर्गप्रा-
पणक्रियारम्भकालास्तिता निषिद्धा, तथा यद्यपि रागादयो दोषा जन्तोरनादिमन्तस्तथापि कस्यचित्स्त्रीशरीरादिषु
यथावस्थितवस्तुतत्त्वावगमेन तेषां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते, ततः सम्भाव्यते विशिष्टकालादिसामग्री-
सद्भावे भावनाप्रकर्षविशेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः, अथ यदि प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृष्टस्तथापि तेषामात्य-
न्तिकोऽपि क्षयः सम्भवतीति कथमवसीयते ?, उच्यते, अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्रहणात्, यथा शीतस्पर्शसम्पाद्या रोमह-
र्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य वह्नेर्मन्दतायां मन्दा उपलब्धाः उत्कर्षे च निरन्वयविनाशधर्म्माणः,ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां
बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद्बाधकोत्कर्षे बाध्यस्यावश्यं निरन्वयविनाशो वेदितव्यः, अन्यथा बाधकमन्दतायां मन्दता न स्यात्,
अथास्ति ज्ञानस्य ज्ञानावरणीयं बाधकं, ज्ञानावरणीयकर्म्ममन्दतायां च ज्ञानस्यापि मनाक् मन्दता, अथ च प्रबलज्ञाना-
वरणीयकर्मोदयोत्कर्षेऽपि न ज्ञानस्य निरन्वयो विनाशः, एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तोच्छेदो भवि-
ष्यति, तदयुक्तं, द्विविधं हि बाध्यं—सहभूस्वभावं तदन्यथाभूतं च, तत्र यत् सहभूस्वभावभूतं तन्न कदाचनापि निरन्वयं
विनाशमुपयाति, ज्ञानं चात्मनः सहभूस्वभावम्, आत्मा च परिणामिनित्यः, ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि ज्ञानावरणीयकर्म्मोदये
ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः, रागादयस्तु लोभादिकर्म्मविपाकोदयसम्पादितसत्ताकास्ततः कर्म्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि
निर्मूलमपगच्छन्ति, नन्वासतां कर्मसम्पाद्या रागादयः, तथापि कर्म्मनिवृत्तौ ते निवर्त्तन्ते इति नावश्यं नियमो, नहि

प्रभासः निर्वाण-सिद्धिः ।। ३२५ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठे अङ्गारता निवर्त्तते, तदसत्, यत इह किञ्चित् क्वचित् निवर्त्त्यविकारमापादयति, यथा अग्निः सुवर्णे द्रवतां, तथाहि–अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णे द्रवता निवर्त्तते, किञ्चित् पुनः क्वचित् अनिवर्त्त्यविकारारम्भकं, यथा स एवाग्निः काष्ठे, न खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठदहननिवृत्तौ निवर्त्तते, कर्म्म चात्मनि अनिवर्त्त्यविकारारम्भकं भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्म्मणा कृतं न कर्म्मनिवृत्तौ निवर्त्तेत, यथा अग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतमग्निनिवृत्तौ, ततश्च यदेकदा कर्म्मणाऽऽपादितं मनुष्यत्वममरत्वं कृमिकीटत्वं शिरोवेदनादि च तत्सर्वकालं तथैवावतिष्ठेत, न चैतत् इष्यते,तस्मान्निवर्त्त्यविकारारम्भकं कर्म्म, ततः कर्म्मनिवृत्तौ रागादीनामपि निवृत्तिः, यदपि च प्रागुपन्यस्तं प्रमाणं 'यदनादिमत् न तद्विनाशमाविशति यथाऽऽकाश'मिति, तदप्यप्रमाणं, हेतोरनैकान्तिकत्वात्, प्रागभावेन व्यभिचारात्, तथाहि—प्रागभावोऽनादिमानपि विनाशमाविशति, अन्यथा कार्यानुत्पत्तेः, भावनाधिकारी च सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय-सम्पत्समन्वितो वेदितव्यः, इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्त्यभावेन तस्या मिथ्यात्वरूपत्वात्, आह च प्रवचनम्—"नाणी तवंमि निरओ चारित्ती भावणाए जोगो"त्ति, सा च भावना रागादिदोषनिदानस्वरूपविषयफलगोचरा यथागममवसा-तव्या, "जं कुच्छियाणुजोगो पयइविसुद्धस्स चेव जीवस्स । एएसिमो नियाणं बुहाण न य सुंदरं एयं ॥ १ ॥ रूवंपि संकिलेसोऽभिस्संगापीइमाइलिंगाउ । परमसुहपच्चणीओ एयंपि असोहणं चेव ॥२॥ विसओ य भंगुरो खलु गुणरहिओ तह य तहऽतहारूवो । संपत्तिनिप्फलो केवलं तु मूलं अणत्थाणं ॥ ३ ॥ जम्मजरामरणाई विचित्तरूवो फलं तु संसारो । बुहजणनिवेयकरो एसोवि तहाविहो चेव ॥ ४ ॥ (धर्म. ११६९–७०–१–२) अपिच—सूत्रानुसारेण ज्ञानादिषु यो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

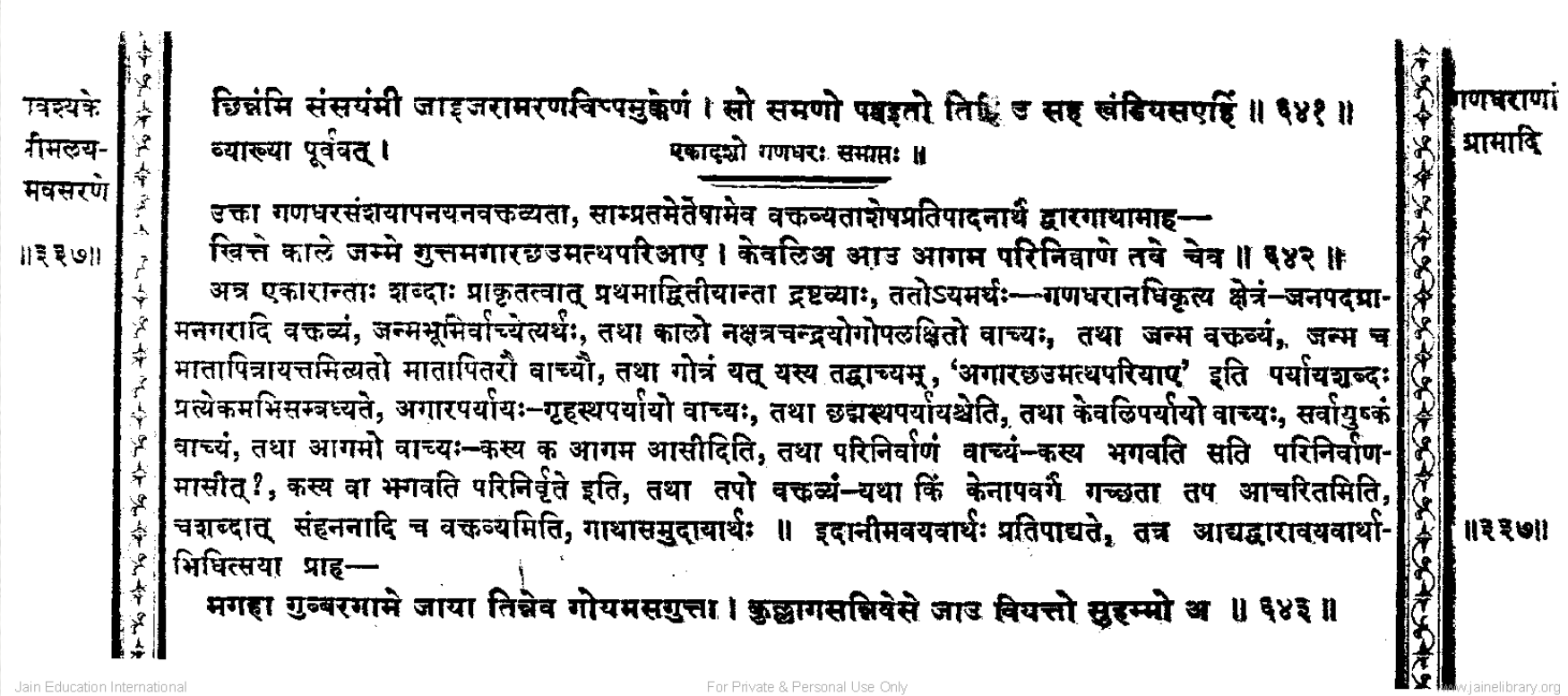
नैरन्तर्येणाभ्यासस्तद्रूपा भावना वेदितव्या, तस्या अपि रागादिप्रतिपक्षत्वात्, नहि तत्त्ववृत्त्या सम्यग्ज्ञानाद्यभ्यासव्याकृतमनस्कस्य स्त्रीशरीररामणीकादिर्विषयः चेतःप्रवृत्तिमातनोति, तथानुपलम्भात्, यदप्युक्तं 'किञ्च–रागादय आत्मनो व्यतिरिक्ता वा भवेयुरव्यतिरिक्ता वा' इत्यादि, तदप्ययुक्तं, भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरस्याभ्युपगमात्, केवलभेदाभेदपक्षे धर्म्मधर्म्मिभावानुपपत्तेः, तथाहि–धर्म्मधर्म्मिणोरेकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्म्मिणो निःस्वभावतापत्तिः, स्वभावस्यापि धर्म्मत्वात्, तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वः भावः स्वभावः स्वस्यैव चात्मीया सत्ता, नतु तदर्थान्तरं धर्म्मरूपं, ततो न निःस्वभावतापत्तिरिति चेत् न, इत्थं स्वरूपसत्ताभ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, अपिच–ज्ञेयत्वादिभिर्धर्म्मैरननुवेधात् तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्गो, 'न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातुं शक्यते' इति न्यायात्, तथा च तदभावप्रसङ्गः, कदाचिदप्यवगमाभावात्, तथापि तत्सत्त्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गः, अन्यस्यापि यस्य कस्यचित् अनवगतस्य षष्ठभूतादेर्भावापत्तेः, एवं च धर्म्मभावे धर्म्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वादीनां निराश्रयत्वादभावापत्तिः, नहि धर्माधाररहिताः क्वापि धर्माः सम्भवन्तीति, अन्यच्च—परस्परमपि तेषां धर्माणामेकान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाद्यभ्युपगमेऽपि सत्त्वाद्यननुवेधात् कथं भावाभ्युपगमः?, तदन्यसत्त्वादिधर्माभ्युपगमे च धर्म्मित्वप्रसक्तिरनवस्थावत्ता च, तन्नैकान्तभेदपक्षे धर्म्मिधर्म्मभावोपपत्तिः, नाप्येकान्ताभेदपक्षे, यतस्तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने धर्म्ममात्रं वा स्यात् धर्मिमात्रं वा, अन्यथैकान्तभेदायोगात्, अन्यतराभावे चान्यतरस्याभावः, परस्परनान्तरीयकत्वात्, धर्मानन्तरीयको हि धर्म्मी धर्म्मिनान्तरीयकाश्च धर्म्माः, ततः कथमेकस्याभावेऽपरस्यावस्थानमिति, कल्पितो धर्म्मधर्म्मिभावस्ततो न दूषणमिति चेत्, तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्गः, नहि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म्मधर्म्मिस्वभावरहितं किञ्चिद्वस्त्वस्ति, धर्म्मधर्म्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्गः, धर्मा एव कल्पिता न धर्म्मी तत्कथमभावप्रसङ्ग इति चेन्न, धर्म्माणां कल्पनामात्रत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽसत्त्वाभ्युपगमाद्, तदभावे धर्म्मिणोऽप्यभावापत्तेः, अथ तदेवैकं स्वलक्षणं सकलसजातीयव्यावृत्त्येकस्वभावं धर्म्मि विजातीयव्यावृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्ना इव कल्पितास्ता धर्माः, ततो न कश्चिद्दोषः, तदप्ययुक्तम्, एवं कल्पनायां वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्तेः, अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्ययोगात्, नहि येनैव स्वभावेन घटाद् व्यावर्त्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य पटरूपताप्रसक्तेः, तथाहि–घटाद् व्यावर्त्तते पटो घटव्यावृत्तिस्वभावतया, स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्त्तते तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटस्वरूपताप्रसक्तिः, अन्यथा ततस्तत्स्वभावतया तद्व्यावृत्त्ययोगात्, तस्मात् यतो व्यावर्त्तते यत् तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूताः स्वभावा अवश्यमभ्युपगन्तव्याः, ते च नैकान्तेन धर्मिणो भिन्नास्तदभावप्रसङ्गात्, तथा च तदवस्थ एव पूर्वोक्तो दोषः, तस्माद्भिन्नाभिन्नाः, भेदाभेदोऽपि धर्म्मधर्म्मिणोः कथमिति चेत्, उच्यते, इह यद्यपि तादात्म्येन धर्म्मिणा धर्म्माः सर्वे लोलीभावेन व्याप्तास्तथाऽप्ययं धर्म्मी एते धर्म्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तद्भावानुपपत्तिः, तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदेऽपि च विशिष्टान्योऽन्यानुवेधेन सर्वधर्म्माणां धर्म्मिणा व्याप्तत्वात् अभेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तस्य धर्म्मा इति सम्बन्धानुपपत्तिः, ततश्च न सर्वेषां वीतरागत्वप्रसङ्गः, केवलभेदस्यानभ्युपगमात्, नापि दोषक्षये तदात्मनोऽपि क्षयः, केवलाभेदस्यानभ्युपगमादिति न काचित् क्षतिः ॥

आ.चू.५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यके मीमलय- मवसरणे ॥३३७॥

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । सो समणो पवइतो तिहिं उ सह खंडियसएहिं ॥ ६४१ ॥

व्याख्या पूर्ववत् । एकादशो गणधरः समाप्तः ॥

उक्ता गणधरसंशयापनयनवक्तव्यता, साम्प्रतमेतेषामेव वक्तव्यताशेषप्रतिपादनार्थं द्वारगाथामाह—

खित्ते काले जम्मे गुत्तमगारछउमत्थपरिआए । केवलिअ आउ आगम परिनिव्वाणे तवे चेव ॥ ६४२ ॥

अत्र एकारान्ताः शब्दाः प्राकृतत्वात् प्रथमाद्वितीयान्ता द्रष्टव्याः, ततोऽयमर्थः—गणधरानधिकृत्य क्षेत्रं—जनपदग्रामनगरादि वक्तव्यं, जन्मभूमिर्वाच्येत्यर्थः, तथा कालो नक्षत्रचन्द्रयोगोपलक्षितो वाच्यः, तथा जन्म वक्तव्यं, जन्म च मातापित्रायत्तमित्यतो मातापितरौ वाच्यौ, तथा गोत्रं यत् यस्य तद्वाच्यम्, 'अगारछउमत्थपरियाए' इति पर्यायशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, अगारपर्यायः—गृहस्थपर्यायो वाच्यः, तथा छद्मस्थपर्यायश्चेति, तथा केवलिपर्यायो वाच्यः, सर्वायुष्कं वाच्यं, तथा आगमो वाच्यः—कस्य क आगम आसीदिति, तथा परिनिर्वाणं वाच्यं—कस्य भगवति सति परिनिर्वाणमासीत्?, कस्य वा भगवति परिनिर्वृते इति, तथा तपो वक्तव्यं—यथा किं केनापवर्गं गच्छता तप आचरितमिति, चशब्दात् संहननादि च वक्तव्यमिति, गाथासमुदायार्थः ॥ इदानीमवयवार्थः प्रतिपाद्यते, तत्र आद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सया प्राह—

मगहा गुब्बरगामे जाया तिन्नेव गोयमसगुत्ता । कुल्लागसन्निवेसे जाउ वियत्तो सुहम्मो अ ॥ ६४३ ॥

गणधराणां ग्रामादि

॥३३७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

मोरीअसंनिवेसे दो भायर मंडि–मोरिआ जाया। अयलो अ कोसलाए मिहिलाए अकंपिओ जाओ ॥६४४॥
तुंगीअसंनिवेसे मेअज्जो वच्छभूमिए जाओ। भगवंपि य पभासो रायगिहे गणहरो जाओ ॥ ६४५ ॥

मगधेषु जनपदेषु गोब्बरग्रामे जातास्त्रय एवाद्या गणधराः, कथम्भूता एते त्रयोऽपीत्याह—'गौतमसगोत्राः' सह गोत्रं येषां ते सगोत्राः गौतमेन गोत्रेण सगोत्रा गौतमसगोत्राः, गौतमाभिधगोत्रयुक्ता इत्यर्थः, तथा कोल्लाकसन्निवेशे जातोऽव्यक्तः सुधर्म्मश्च, मौर्यसन्निवेशे द्वौ भ्रातरौ मण्डिकमौर्यौ जातौ, अचलश्च कोशलायां मिथिलायामकम्पिको जात इति, तुङ्गिके सन्निवेशे वत्सभूमौ कौशाम्बीविषये इत्यर्थः, मेतार्यो जातः, भगवानपि च प्रभासो राजगृहे गणधरो जातः ॥ सम्प्रति कालद्वारावयवार्थः प्रतिपाद्यः, कालश्च नक्षत्रचन्द्रयोगोपलक्षित इति यत् यस्य गणभृतां नक्षत्रं तदभिधित्सुराह—

जेट्ठा कत्तिय साई सवणो हत्थुत्तरा महाओ अ। रोहिणि उत्तरसाढा मिगसिर तह अस्सिणी पुस्सो॥६४६॥

इन्द्रभूतेर्जन्मनक्षत्रं ज्येष्ठा अग्निभूतेः कृत्तिकाः वायुभूतेः स्वातिर्व्यक्तस्य श्रवणः सुधर्म्मस्य हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्य इत्यर्थः, मण्डिकस्य मघाः, मौर्यस्य रोहिणी, अकम्पिकस्य उत्तराषाढाः, अचलभ्रातुः मृगशिरः, मेतार्यस्य अश्विनी, प्रभासस्य पुष्यः ॥ अधुना जन्मद्वारं प्रतिपाद्यं, जन्म च मातापित्रायत्तमिति गणभृतां मातापितरावेव प्रतिपादयति—

वसुभूई धणमित्तो धम्मिल धणदेव मोरिए चेव। देवे वसू अ दत्ते बले अ पिअरो गणहराणं ॥ ६४७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥३३८॥

आद्यानां त्रयाणां गणभृतां पिता वसुभूतिः, व्यक्तस्य धनमित्रः, सुधर्म्मस्य धम्मिलः, मण्डिकस्य धनदेवः, मौर्यस्य मौर्यः, अकम्पिकस्य देवः, अचलभ्रातुर्वसुः, मेतार्यस्य दत्तः, प्रभासस्य बलः, एवं पितरो गणधराणां भवन्ति ॥

पुहवी अ वारुणी भद्दिला य विजयदेवा तहा जयंती य। नंदा य वरुणदेवा अईभद्दा य मायरो ॥ ६४८ ॥

आद्यानां त्रयाणां गणभृतां माता पृथिवी, व्यक्तस्य वारुणी, सुधर्म्मस्य भद्रिला, मण्डिकमौर्यपुत्राणां विजयदेवा पितृभेदेन, धनदेवे पञ्चत्वमुपागते मण्डिकपुत्रसहिता मौर्येण धृता, ततो मौर्यो जातः, अविरोधश्च तस्मिन् देशे इत्यदूषणं, जयन्ती माता अकम्पिकस्य, नन्दा अचलभ्रातुः, वरुणदेवा मेतार्यस्य अतिभद्रा प्रभासस्य ॥ सम्प्रति गोत्रद्वाराभिधानार्थमाह—

तिन्नि य गोयमगुत्ता भारद्दा अग्गिवेस वासिट्ठा। कासव गोअम हारिअ कोडिन्नदुगं च गुत्ताइं ॥ ६४९ ॥

त्रय आद्या गणभृतो गौतमगोत्राः, भारद्वाजो व्यक्तः, अग्निवेश्यायनः सुधर्मः, वासिष्ठो मण्डिकः, काश्यपो मौर्यिकः, गौतमोऽकम्पिकः, हारितोऽचलभ्राता, कौण्डिन्यौ मेतार्यः प्रभासश्च ॥ अधुना अगारपर्यायद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

पन्ना छायालीसा बायाला होइ पन्न पन्ना य। तेवन्न पंचसट्ठी अडयालीसा य छायाला ॥ ६५० ॥

छत्तीसा सोलसगं अगारवासो भवे गणहराणं। छउमत्थं परियागं अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ ६५१ ॥

इन्द्रभूतेरगारपर्यायः पञ्चाशद्वर्षाणि, अग्निभूतेः षट्त्वारिंशद्, वायुभूतेर्द्वाचत्वारिंशत्, व्यक्तस्य पञ्चाशत्, सुधर्मणः

गणधराणां पित्रादि ॥३३८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चाशत्, मण्डिकस्य पञ्चषष्टिः, मौर्यस्य त्रिपञ्चाशत्, अकम्पितस्याष्टाचत्वारिंशत्, अचलभ्रातुः षट्चत्वारिंशत्, मेतार्यस्य षट्त्रिंशत्, प्रभासस्य षोडश। अत ऊर्ध्वं छद्मस्थपर्यायं यथाक्रमं कीर्त्तयिष्यामि ॥ प्रतिज्ञातमेवाह—

तीसा बारस दसगं बारस बायाल चउदसदुगं च। नवगं बारस दस अट्ठगं च छउमत्थपरिआओ॥ ६५२॥

इन्द्रभूतेश्छद्मस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि, अग्निभूतेर्द्वादश वायुभूतेर्वर्षदशकं व्यक्तस्य द्वादश सुधर्म्मणो द्वाचत्वारिंशत् मण्डिकस्य चतुर्दश मौर्यस्यापि चतुर्दश अकम्पितस्य वर्षनवकं अचलभ्रातुर्द्वादश वर्षाणि मेतार्यस्य दश प्रभासस्य वर्षाष्टकमेषामेव यथाक्रमं छद्मस्थपर्यायः ॥ केवलिपर्यायपरिज्ञानोपायमाह—

छउमत्थप्परियागं अगारवासं च वुक्कसित्ताणं। सवाउअस्स सेसं जिणपरियागं वियाणाहि ॥ ६५३ ॥

बारस सोलस अट्ठारसेव अट्ठारसेव अट्ठेव। सोलस सोलस इगवीस चउदस सोले अ सोले अ ॥६५४॥

छद्मस्थपर्यायमगारवासं च व्यवकलय्य यत् सर्वायुष्कस्य शेषं तत् जिनपर्यायं विजानीहि, स चायं जिनपर्यायः, इन्द्रभूतेः केवलिपर्यायो द्वादश वर्षाणि, अग्निभूतेः षोडश, वायुभूतेरष्टादश, व्यक्तस्याष्टादश, सुधर्मणोऽष्टौ, मण्डिकस्य षोडश, मौर्यपुत्रस्य षोडश, अकम्पितस्य एकविंशतिः, अचलभ्रातुश्चतुर्दश, मेतार्यस्य षोडश, प्रभासस्य षोडश ॥ सम्प्रति सर्वायुष्कमाह—

बाणउई चउहत्तरि सत्तरि तत्तो भवे असीई य। एगं च सयं तत्तो तेसीई पंचनउई आ ॥ ६५५ ॥

अट्ठत्तरिं च वासा तत्तो बावत्तरिं च वासाइं। बावट्ठी चत्ता खलु सवगणहराउअं एअं ॥ ६५६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

इन्द्रभूतेः सर्वायुर्द्विनवतिर्वर्षाणि, अग्निभूतेश्चतुःसप्ततिः, वायुभूतेः सप्ततिः, व्यक्तस्य अशीतिः, सुधर्मस्य एकं वर्षशतं, मण्डिकस्य पञ्चनवतिर्वर्षाणि, मौर्यपुत्रस्य त्र्यशीतिः, अकम्पिकस्याष्टसप्ततिः, अचलभ्रातुर्द्वासप्ततिः, मेतार्यस्य द्वाषष्टिः, प्रभासस्य चत्वारिंशत्, एवं क्रमेण गणधराणां सर्वायुष्कमिति ॥ आगमद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

सव्वे य माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विऊ । सव्वे दुवालसंगीआ, सव्वे चउद्दसपुव्विणो ॥ ६५७ ॥

सर्वे ब्राह्मणा जात्याः—प्रशस्तजातिकुलोत्पन्नाः, तथा सर्वेऽध्यापका–उपाध्याया विदन्तीति विदो—विद्वांसः, चतुर्दशविद्यास्थानपारगमनात्, तानि चतुर्दश विद्यास्थानान्यमूनि—"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ १ ॥" तत्राङ्गानि षट्, तद्यथा—शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषं चेति, एष गृहस्थागम उक्तः, लोकोत्तरागमप्रतिपादनार्थमाह—सर्वे द्वादशाङ्गिनः, तत्र स्वल्पेनापि द्वादशाङ्गाध्ययनेन द्वादशाङ्गिनोऽभिधीयन्ते ततः सम्पूर्णद्वादशाङ्गज्ञापनार्थमाह—सर्वे चतुर्दशपूर्विणः ॥ परिनिर्वाणद्वारमाह—

परिनिव्वुया गणहरा जीवंते नायए नव जणा उ । इंदभूई सुहम्मो अ रायगिहे निव्वुए वीरे ॥ ६५८ ॥

जीवति ज्ञातके—ज्ञातकुलोत्पन्ने वीरे भगवति नव जनाः—इन्द्रभूतिसुधर्म्मस्वामिवर्ज्जाः परिनिर्वृताः, इन्द्रभूतिः सुधर्म्मश्च स्वामिनि वीरे निर्वृते परिनिर्वृतः, तत्रापि प्रथममिन्द्रभूतिः पश्चात्सुधर्म्मस्वामी, यश्च यश्च कालं करोति स स सुधर्म्मस्वामिनो गणं ददाति, तेषां तथाविधसन्तानप्रवृत्तिहेतुभूताचार्यासम्भवात्, सुधर्म्मस्वामी तु कालं कुर्वन् निजशिष्याय जम्बूस्वामिने गणं समर्प्पितवान् ॥ अधुना तपोद्वारमाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

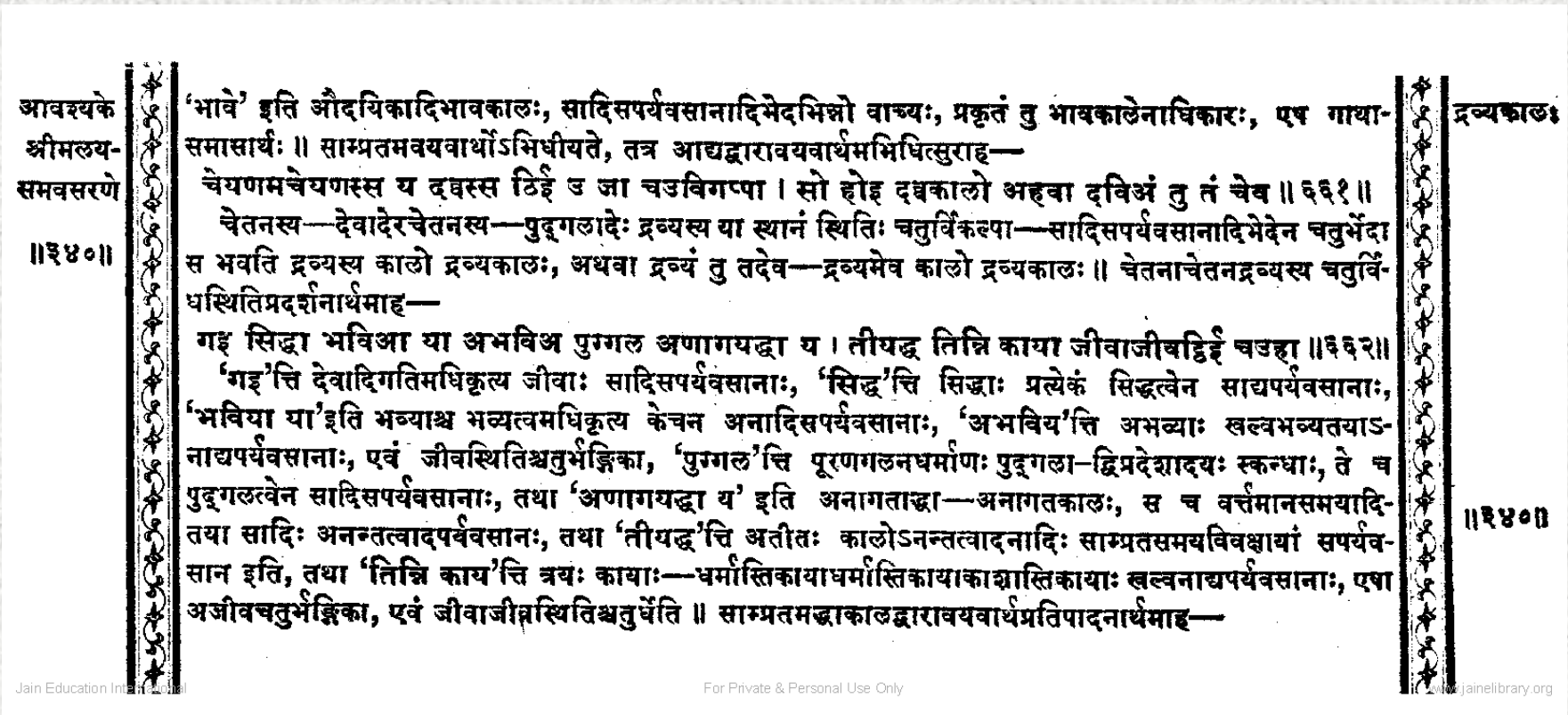
मासं पाओवगया सव्वेऽवि य सव्वलद्धिसंपन्ना । वज्जरिसहसंघयणा समचउरंसा य संठाणे ॥ ६५९ ॥

सर्व एव गणधरा मासं यावत् पादपोपगमनगताः, द्वारगाथोपन्यस्तं चशब्दार्थमाह—सर्वेऽपि सर्वलब्धिसम्पन्नाः—आमर्षौषध्याद्यशेषलब्धिसम्पन्नाः, तथा वज्रर्षभसंहननाः समचतुरस्राश्च संस्थाने—संस्थानविषये ॥ उक्तः सामायिकार्थसूत्रप्रणेतृणां तीर्थकरगणधराणां निर्गमः, सम्प्रति क्षेत्रद्वारं प्राप्तावसरं, परमनन्तरमेव द्रव्यनिर्गमस्य प्रतिपादितत्वात् कालस्य च द्रव्यपर्यायत्वेनान्तरङ्गत्वाद् अन्तरङ्गबहिरङ्गयोश्चान्तरङ्ग एव विधिर्बलवानिति न्यायसामर्थ्यात् क्षेत्रद्वारमुच्यते, द्वारगाथायां तु क्षेत्रस्याल्पवक्तव्यत्वात् प्रथममुपन्यासः कृतः, तत्र कालो नामाद्येकादशभेदभिन्नः. तत्र नामस्थापने सुज्ञाने इति ते अनादृत्य द्रव्यादिकालप्रतिपादनार्थमाह—

दव्वे अद्धा अहाउअ उवक्कमे देस कालकाले य । तह य पमाणं वन्ने भावे पगयं तु भावेणं ॥ ६६० ॥

तत्र द्रव्य इति वर्त्तनादिलक्षणो द्रव्यकालो वाच्यः, 'अद्धा' इति चन्द्रसूर्यादिक्रियाविशिष्टोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ती समयादिलक्षणो अद्धाकालो वाच्यः, तथा आयुष्ककालो देवाद्यायुष्कलक्षणो वाच्यः, तथा उपक्रमकालः अभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणः सामाचारीयथायुष्कभेदभिन्नो वाच्यः, तथा देशकालो वाच्यः, देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरं तस्य कालो देशकालः, अभीष्टवस्त्ववाप्त्यवसरकाल इति भावः, तथा कालकालो वाच्यः, तत्र कलनं कालः, द्वितीयः कालशब्दो मरणवाची, कालस्य कालः कालकालो, मरणक्रियाकलनमित्यर्थः, चः समुच्चये, तथा प्रमाणकालः—अद्धाकालविशेषो दिवसादिलक्षणो वाच्यः, तथा वर्णकालो वाच्यः, वर्णश्चासौ कालश्चेति वर्णकालः, तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥३४०॥

'भावे' इति औदयिकादिभावकालः, सादिसपर्यवसानादिभेदभिन्नो वाच्यः, प्रकृतं तु भावकालेनाधिकारः, एष गाथा-समासार्थः ॥ साम्प्रतमवयवार्थोऽभिधीयते, तत्र आद्यद्वारावयवार्थमभिधित्सुराह—

चेयणमचेयणस्स य दव्वस्स ठिई उ जा चउविगप्पा । सो होइ दव्वकालो अहवा दविअं तु तं चेव ॥ ६६१ ॥

चेतनस्य—देवादेरचेतनस्य—पुद्गलादेः द्रव्यस्य या स्थानं स्थितिः चतुर्विकल्पा—सादिसपर्यवसानादिभेदेन चतुर्भेदा स भवति द्रव्यस्य कालो द्रव्यकालः, अथवा द्रव्यं तु तदेव—द्रव्यमेव कालो द्रव्यकालः ॥ चेतनाचेतनद्रव्यस्य चतुर्विधस्थितिप्रदर्शनार्थमाह—

गइ सिद्धा भविआ या अभविअ पुग्गल अणागयद्धा य । तीयद्ध तिन्नि काया जीवाजीवट्ठिई चउहा ॥६६२॥

'गइ'त्ति देवादिगतिमधिकृत्य जीवाः सादिसपर्यवसानाः, 'सिद्ध'त्ति सिद्धाः प्रत्येकं सिद्धत्वेन साद्यपर्यवसानाः, 'भविया या'इति भव्याश्च भव्यत्वमधिकृत्य केचन अनादिसपर्यवसानाः, 'अभविय'त्ति अभव्याः खल्वभव्यतयाऽनाद्यपर्यवसानाः, एवं जीवस्थितिश्चतुर्भङ्गिका, 'पुग्गल'त्ति पूरणगलनधर्माणः पुद्गला—द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः, ते च पुद्गलत्वेन सादिसपर्यवसानाः, तथा 'अणागयद्धा य' इति अनागताद्धा—अनागतकालः, स च वर्त्तमानसमयादितया सादिः अनन्तत्वादपर्यवसानः, तथा 'तीयद्ध'त्ति अतीतः कालोऽनन्तत्वादनादिः साम्प्रतसमयविवक्षायां सपर्यवसान इति, तथा 'तिन्नि काय'त्ति त्रयः कायाः—धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायाकाशास्तिकायाः खल्वनाद्यपर्यवसानाः, एषा अजीवचतुर्भङ्गिका, एवं जीवाजीवस्थितिश्चतुर्धेति ॥ साम्प्रतमद्धाकालद्वारावयवार्थप्रतिपादनार्थमाह—

द्रव्यकालः ॥३४०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

समयाऽऽवलिअ मुहुत्ता दिवस अहोरत्त पक्ख मासो य। संवच्छर जुग पलिया सागर ओसप्पि परिअट्टा ॥६६३॥

परमनिकृष्टः कालः समयोऽभिधीयते, स च प्रवचनप्रतिपादितपट्टसाटिकापाटनदृष्टान्तादवसेयः, जघन्ययुक्तासंख्यातकसमयसमुदायलक्षणा आवलिका, द्विघटिको मुहूर्त्तः, चतुष्प्रहरात्मको दिवसः, यदिवा यावदाकाशखण्डमादित्येन स्वप्रभाभिर्व्याप्तं तावदाकाशपरिभ्रमणच्छिन्नः कालो दिवसः, अहोरात्रःअष्टप्रहरात्मकः, रात्रिंदिवमित्यर्थः, पक्षः पञ्चदशाहोरात्रात्मकः, मासस्तद्द्विगुणः, चः समुच्चये, संवत्सरो–द्वादशमासात्मको, युगं पञ्चसंवत्सरं, असङ्ख्ययुगात्मकं 'पलिय'त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पल्योपमं, 'सागर'त्ति पल्योपमदशकोटीकोट्यात्मकं सागरोपमम्, उत्सर्पिणी–सागरोपमदशकोटीकोट्यात्मिका उत्सर्प्पिणी, उत्सर्पिणीग्रहणेनावसर्प्पिण्यपि सूचिता, सापि सागरोपमदशकोटिकोट्यात्मिका, अनन्तोत्सर्प्पिण्यात्मकः परावर्त्तः, स च द्रव्यादिभेदभिन्नः पञ्चसङ्ग्रहटीकातो वेदितव्यः ॥ सम्प्रति यथायुष्ककालद्वारमुच्यते— तत्राद्धाकाल एवायुःकर्मानुभवविशिष्टः सर्वजीवानां वर्त्तनादिमयो यथायुष्ककालोऽभिधीयते, तथा चाह—

नेरइय–तिरिय–मणुस्स–देवाण अहाउअं तु जं जेण। निव्वत्तिअमन्नभवे पालंति अहाउकालो सो ॥ ६६४ ॥

नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवानां यथायुष्कमेव यत् येन निर्वर्त्तितं–रौद्रध्यानादिना कृतमन्यभवे–अन्यस्मिन् जन्मनि तत् यदा विपाकतस्त एवानुपालयन्ति स यथायुष्ककालः ॥ साम्प्रतमुपक्रमद्वारमाह—

दुविहोवक्कमकालो सामायारी अहाउअं चेव। सामायारी तिविहा ओहे दसहा पयविभागे ॥ ६६५ ॥

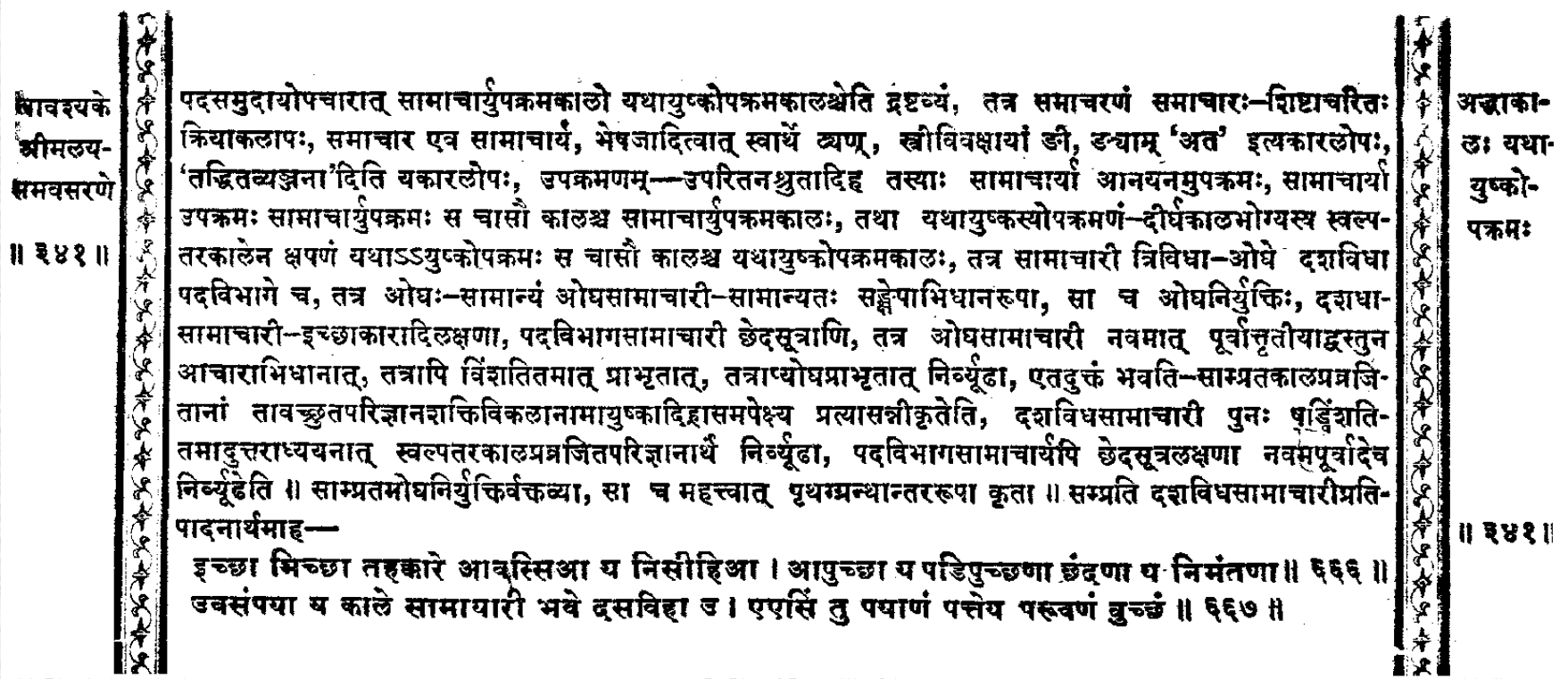
द्विविधश्चासावुपक्रमकालश्च द्विविधोपक्रमकालः, तदेव द्वैविध्यमुपदर्शयति–'सामायारी अहाउयं चेव'त्ति पदैकदेशे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:



आवश्यके श्रीमलय-गिरीये समवसरणे

॥ ३४१ ॥

पदसमुदायोपचारात् सामाचार्युपक्रमकालो यथायुष्कोपक्रमकालश्चेति द्रष्टव्यं, तत्र समाचरणं समाचारः–शिष्टाचरितः क्रियाकलापः, समाचार एव सामाचार्यं, भेषजादित्वात् स्वार्थे व्यण्, स्त्रीविवक्षायां ङी, ङ्याम् 'अत' इत्यकारलोपः, 'तद्धितव्यञ्जना'दिति यकारलोपः, उपक्रमणम्—उपरितनश्रुतादिह तस्याः सामाचार्या आनयनमुपक्रमः, सामाचार्या उपक्रमः सामाचार्युपक्रमः स चासौ कालश्च सामाचार्युपक्रमकालः, तथा यथायुष्कस्योपक्रमणं–दीर्घकालभोग्यस्य स्वल्पतरकालेन क्षपणं यथाऽऽयुष्कोपक्रमः स चासौ कालश्च यथायुष्कोपक्रमकालः, तत्र सामाचारी त्रिविधा–ओघे दशविधा पदविभागे च, तत्र ओघः–सामान्यं ओघसामाचारी–सामान्यतः सङ्क्षेपाभिधानरूपा, सा च ओघनिर्युक्तिः, दशधा-सामाचारी–इच्छाकारादिलक्षणा, पदविभागसामाचारी छेदसूत्राणि, तत्र ओघसामाचारी नवमात् पूर्वात्तृतीयाद्वस्तुन आचाराभिधानात्, तत्रापि विंशतितमात् प्राभृतात्, तत्राप्योघप्राभृतात् निर्व्यूढा, एतदुक्तं भवति–साम्प्रतकालप्रव्रजि-तानां तावच्छ्रुतपरिज्ञानशक्तिविकलानामायुष्कादिह्रासमपेक्ष्य प्रत्यासन्नीकृतेति, दशविधसामाचारी पुनः षड्विंशति-तमादुत्तराध्ययनात् स्वल्पतरकालप्रव्रजितपरिज्ञानार्थं निर्व्यूढा, पदविभागसामाचार्यपि छेदसूत्रलक्षणा नवमपूर्वादेव निर्व्यूढेति ॥ साम्प्रतमोघनिर्युक्तिर्वक्तव्या, सा च महत्त्वात् पृथग्ग्रन्थान्तररूपा कृता ॥ सम्प्रति दशविधसामाचारीप्रति-पादनार्थमाह—

इच्छा मिच्छा तहक्कारे आवस्सिआ य निसीहिआ । आपुच्छा य पडिपुच्छणा छंदणा य निमंतणा ॥ ६६६ ॥
उवसंपया य काले सामायारी भवे दसविहा उ । एएसिं तु पयाणं पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥ ६६७ ॥

अद्धाकालः यथायुष्कोपक्रमः

॥ ३४१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ इच्छाकार-आदि दशविध-सामाचारे: प्रतिपादनम् क्रियते

एषणमिच्छा करणं कारः, तत्र कारशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, इच्छया—बलाभियोगमन्तरेण करणमिच्छाकारः, तथा च–इच्छाकारेण ममेदं कुर्विति, तथा मिथ्या वितथमनृतमिति पर्यायाः, मिथ्याकरणं मिथ्याकारः, मिथ्याक्रियेत्यर्थः, तथा च संयमयोगवितथाचरणे विदितजिनवचनसाराः साधवस्तत्क्रियाया वैतथ्यप्रदर्शनाय मिथ्याकारं कुर्वते, मिथ्याक्रियेयमिति, तथाकरणं तथाकारः, स च सूत्रप्रश्नगोचरो यथा भवद्भिरुक्तं तथेदमित्येवंस्वरूपः, अवश्यंपर्यायोऽवश्यशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति, ततोऽवश्यस्य—अवश्यंकर्त्तव्यस्य क्रिया आवश्यकी 'योपान्त्यगुरूपान्त्यमादुञि'ति वुञ् आवश्यकी, चः समुच्चये, तथा निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी, आपृच्छनमापृच्छा विहारभूमिगमनादिषु प्रयोजनेषु गुरोः कार्या, चः पूर्ववत्, तथा प्रतिपृच्छा, सा च प्राग्नियुक्तेनापि करणकाले कार्या, निषिद्धेन वा प्रयोजनतः कर्त्तुकामेनेति, तथा छन्दना–प्राग्गृहीतेनाशनादिना आमन्त्रणा कार्या, तथा निमन्त्रणा–अगृहीतेनैवाशनादिना अहं भवदर्थमशनाद्यानयामीत्येवंभूता, उपसम्पच्च विधिना देया, एवं काले—कालविषया सामाचारी भवेदशविधा ॥ एवं तावत्समासत उक्ता, सम्प्रति प्रपञ्चतः प्रतिपदमभिधित्सुरिदमाह—एतेषां पदानां तुर्विंशेषणे विषयप्रदर्शनेन प्रत्येकं पृथक् पृथक् प्ररूपणां चक्ष्ये इति गाथाद्वयसमासार्थः ॥ तत्रेच्छाकारो येष्वर्थेषु क्रियते तत्प्रदर्शनार्थमाह—

जइ अब्भत्थिज्ज परं कारणजाए करिज्ज से कोइ । तत्थवि इच्छाकारो न कप्पइ बलाभिओगो उ ॥ ६६८ ॥

'यदि' इत्यभ्युपगमे, अन्यथा साधूनामकारणे अभ्यर्थनैव न कल्पते, ततश्च यदि अभ्यर्थयेत् परं–अन्यं साधुं ग्लानादौ कारणजाते समुत्पन्ने सति, ततस्तेनाभ्यर्थयमानेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः, यदिवा अनभ्यर्थितोऽपि कोऽप्यन्यः साधुः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'से' तस्य कर्तुकामस्य कस्यचित्साधोः कारणजातं कुर्यात् तत्रापि तेनानभ्यर्थितेन साधुना तस्य चिकीर्षितं कर्तुकामेन इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः, इह विरलाः केचिदनभ्यर्थिता एव परकार्यकर्त्तार इति कोऽपीति ग्रहणं, अथ कस्मादिच्छाकारप्रयोगः क्रियते ?, उच्यते, बलाभियोगो न कल्पते इति सूचनार्थः, उक्तं यतो–न कल्पते बलाभियोगः साधूनां, तत इच्छाकार-प्रयोगः कर्त्तव्यः, तुशब्दः क्वचित् बलाभियोगोऽपि कल्पते इति सूचनार्थः ॥ उक्तगाथावयवार्थप्रतिपादनार्थमाह—

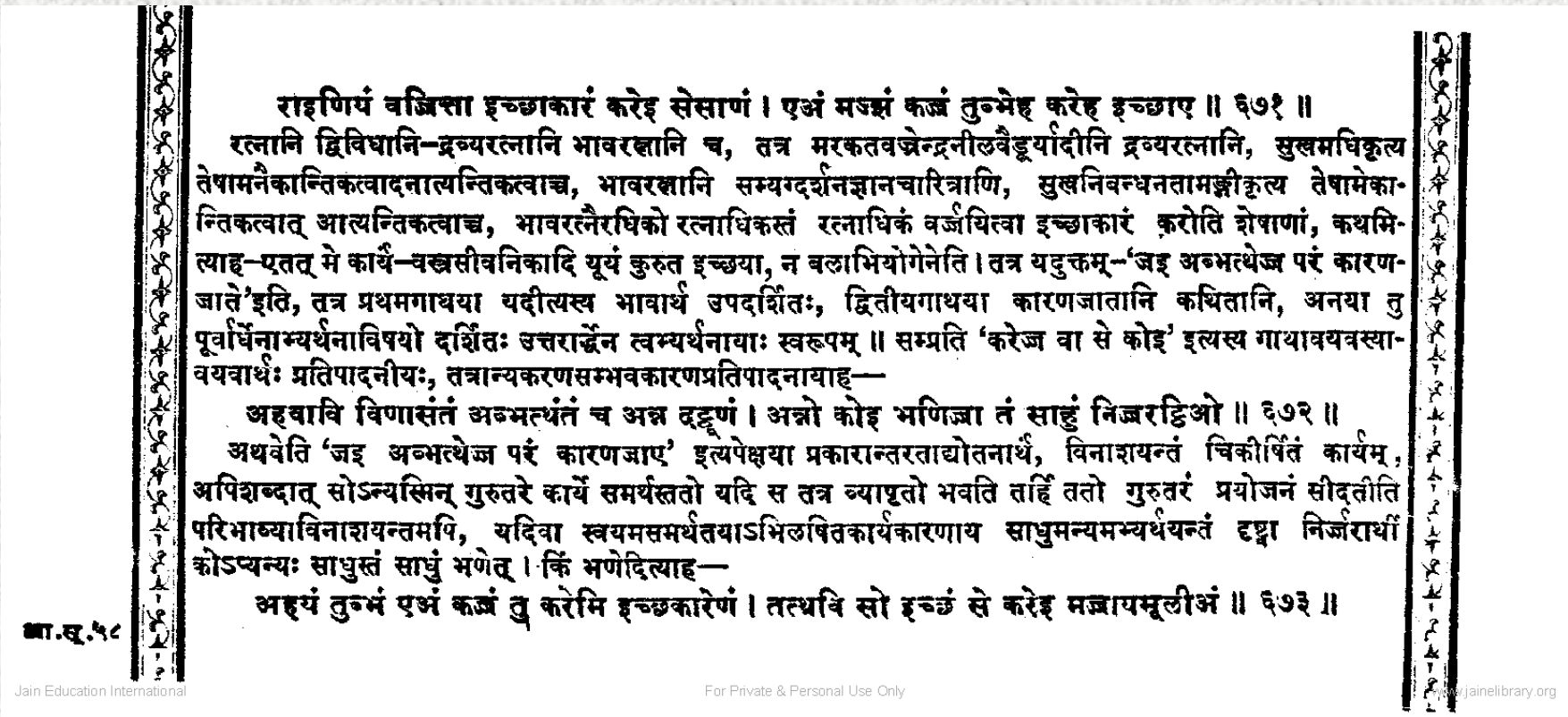
अब्भुवगयम्मि नज्जइ अब्भत्थेउं न वट्टइ परो उ(ओ)। अणिगूहिअबलविरिएण साहुणा ताव होअव्वं ॥६६९॥

यदि अभ्यर्थयेत् परमित्येतस्मिन् यदिशब्दप्रदर्शितेऽभ्युपगमे सति ज्ञायते, किमित्याह–अभ्यर्थयितुं न वर्त्तते–न युज्यते परः, किमित्यत आह–न निगूहते बलवीर्यं यस्तेन, बलं शारीरं वीर्यम्–आन्तरः शक्तिविशेषः, तावच्छब्दः प्रस्तुता-र्थप्रदर्शक एव, अनिगूहितबलवीर्येण तावत्साधुना भवितव्यं, पाठान्तरं वा "अणिगूहियबलविरिएण जेण साहूण होयव्वं" अस्यायमर्थः—येन कारणेन अनिगूहितबलवीर्येण साधुना भवितव्यमिति युक्तिः ततोऽभ्यर्थयितुं न युज्यते पर इति ॥ आह–इत्थं तर्ह्यभ्यर्थनाविषयेच्छाकारोपन्यासोऽनर्थकः, उच्यते—

जइ हुज्ज तस्स अनलो कज्जस्स वियाणइ न वा वाणं । गेलन्नाइहिवि हुज्जा वावडो करणेहिं सो ॥ ६७० ॥

यदि भवेत्तस्य—प्रस्तुतस्य कार्यस्यानलः–असमर्थः, यदिवा न विजानाति तत्कार्यं कर्त्तुं, वाणमिति निपातः पूरणार्थः, ग्लानादिभिर्वा भवेत् व्यापृतः कारणैरसौ तदा सञ्जातद्वितीयपदोऽभ्यर्थनागोचरमिच्छाकारं रत्नाधिकं विहायान्येषां करोति ॥ तथाचाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



राइणियं वज्जित्ता इच्छाकारं करेइ सेसाणं । एअं मज्झं कज्जं तुब्भेह करेह इच्छाए ॥ ६७१ ॥

रत्नानि द्विविधानि–द्रव्यरत्नानि भावरत्नानि च, तत्र मरकतवज्रेन्द्रनीलवैडूर्यादीनि द्रव्यरत्नानि, सुखमधिकृत्य तेषामनैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च, भावरत्नानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, सुखनिबन्धनतामङ्गीकृत्य तेषामेकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च, भावरत्नैरधिको रत्नाधिकस्तं रत्नाधिकं वर्जयित्वा इच्छाकारं करोति शेषाणां, कथमित्याह–एतत् मे कार्यं–वस्त्रसीवनिकादि यूयं कुरुत इच्छया, न बलाभियोगेनेति । तत्र यदुक्तम्–'जइ अब्भत्थेज्ज परं कारणजाते'इति, तत्र प्रथमगाथया यदीत्यस्य भावार्थ उपदर्शितः, द्वितीयगाथया कारणजातानि कथितानि, अनया तु पूर्वार्धेनाभ्यर्थनाविषयो दर्शितः उत्तरार्द्धेन त्वभ्यर्थनायाः स्वरूपम् ॥ सम्प्रति 'करेज्ज वा से कोइ' इत्यस्य गाथावयवस्यावयवार्थः प्रतिपादनीयः, तत्रान्यकरणसम्भवकारणप्रतिपादनायाह—

अहवावि विणासंतं अब्भत्थंतं च अन्न दट्ठूणं । अन्नो कोइ भणिज्जा तं साहुं निज्जरट्ठिओ ॥ ६७२ ॥

अथवेति 'जइ अब्भत्थेज्ज परं कारणजाए' इत्यपेक्षया प्रकारान्तरताद्योतनार्थं, विनाशयन्तं चिकीर्षितं कार्यम्, अपिशब्दात् सोऽन्यस्मिन् गुरुतरे कार्ये समर्थस्ततो यदि स तत्र व्यापृतो भवति तर्हि ततो गुरुतरं प्रयोजनं सीदतीति परिभाव्याविनाशयन्तमपि, यदिवा स्वयमसमर्थतयाऽभिलषितकार्यकारणाय साधुमन्यमभ्यर्थयन्तं दृष्ट्वा निर्जरार्थी कोऽप्यन्यः साधुस्तं साधुं भणेत् । किं भणेदित्याह—

अहयं तुब्भं एअं कज्जं तु करेमि इच्छकारेणं । तत्थवि सो इच्छं से करेइ मज्झायमूलीअं ॥ ६७३ ॥

आ.सू.५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

अहमित्यात्मनिर्देशे, युष्माकमेतत्कर्तुमभीष्टं कार्यं करोमीच्छाकारेण–युष्माकमिच्छाक्रिययाऽ, न बलादित्यर्थः, तत्रापि स कारापकः साधुः 'इच्छ'न्ति इच्छाकारं 'से' तस्य स्वयमिच्छाकारेण कर्तुमभ्युद्यतस्य करोति, नन्वसौ तेनेच्छाकारेण याचितः किमर्थं इच्छाकारं करोतीत्यत आह–'मर्यादामूलीयं' मर्यादा–साधूनां व्यवस्था तस्यां मूलं मर्यादामूलं तत्र भवो मर्यादामूलीयः इच्छाकारस्तं, 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शन'मिति हेतौ द्वितीया, ततोऽयमर्थः–मर्यादामूलभूत इच्छाकारः, तथाहि—साधूनामियं मर्यादा–न किञ्चिदिच्छाव्यतिरेकेण कश्चित्कारयितव्यः ॥ तदेवं व्याख्यातोऽधिकृतो गाथावयवः, सम्प्रति 'तत्थवि इच्छाकारो' इत्यत्र योऽपिशब्दस्तस्य विषयं प्रदर्शयति—

अहवा सयं करंतं किंची अन्नस्स वावि दट्ठूणं । तस्सवि करेइ इच्छं मज्झंपि इमं करेहत्ति ॥ ६७४ ॥

अथवा स्वकम्–आत्मीयं पात्रलेपनादि किञ्चित्कुर्वन्तमन्यस्य वा किञ्चित् कुर्वन्तं दृष्ट्वा तथापि, आस्तां प्रागुक्तस्येत्यपिशब्दार्थः, आपन्नप्रयोजनः सन् इच्छाकारं कुर्यात्, कथमित्याह–ममापीदं–पात्रलेपनादि इच्छाकारेण कुरुतेति ॥ इदानीमभ्यर्थितसाधुविषयं विधिं प्रदर्शयति—

तत्थवि सो इच्छं से करेइ दीवेइ कारणं वावि । इहरा अणुग्गहत्थं कायवं साहुणो किच्चं ॥ ६७५ ॥

तत्रापि–एवमभ्यर्थकेऽपि साधावभ्यर्थितः साधुरिच्छाकारं करोति, इच्छाम्यहं तव करोमि, अनेन गुर्वादिसत्कं कार्यान्तरं कर्त्तव्यं तर्हि दीपयति कारणं वापि, इतरथा–गुर्वादिकार्यकर्त्तव्याभावे सत्यनुग्रहार्थमवश्यं साधोः कृत्यं कर्त्तव्यमिति ॥ अपिशब्दाक्षिप्तेच्छकारविषयविशेषप्रदर्शनायैवाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहवा नाणाईणं अट्ठाए जइ करिज्ज किचाणं । वेआवचं कोई तत्थवि तेसिं भवे इच्छा ॥ ६७६ ॥

अथवा ज्ञानादीनाम्, आदिशब्दाद्दर्शनचारित्रपरिग्रहः, अर्थात् यदि कुर्यात् कृत्यानाम्–आचार्यादीनां वैयावृत्त्यं कश्चित्साधुः, पाठान्तरं वा 'किञ्ची'ति किञ्चिद्—विश्रामणादीति, अत्रापि तेषां कृत्यादीनां साधुं वैयावृत्त्ये नियोजतां 'भवे इच्छ'त्ति भवेदिच्छाकारः, इच्छाकारपुरस्सरं योजनीय इत्यर्थः ॥ किमित्यत आह–यस्मात्

आणा बलाभिओगो निग्गंथाणं न कप्पए काउं । इच्छा पउंजिअवा सेहे रायाणिए य तहा ॥ ६७७ ॥

आज्ञापनमाज्ञा–भवतेदं कार्यमेवेत्येवंरूपा, तथा विवक्षितं कार्यमाज्ञापितस्याप्यकुर्वतो बलात्कारेण नियोजनं बलाभियोगः, एतौ द्वावपि निर्ग्रन्थानां–साधूनां न कल्पते कर्तुं, किन्तु 'इच्छ'त्ति इच्छाकारः प्रयोक्तव्यः प्रयोजने उत्पन्ने सति, शैक्षके तथा रत्नाधिके च–आत्माधिके च आलापादिप्रष्टुकामेन, 'आद्यन्तग्रहणान्मध्यस्यापि ग्रहण'मिति न्यायादन्येषु च ॥ एष तावदुत्सर्ग उक्तः, अपवादतस्त्वाज्ञाबलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ, तेन च सहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते, बहुस्वजनादिकारणप्रतिबद्धतया स्वपरित्याज्ये अयं विधिः–प्रथममिच्छाकारेण योज्यते, अकुर्वन्नाज्ञया, पुनर्बलाभियोगेनेति, आह च—

जह जच्चवाहलाणं आसाणं जणवएसु जायाणं । सयमेव खलिणगहणं अहवावि बलाभिओगेणं ॥ ६७८ ॥

पुरिसज्जाणवि तहा विणीअविणयम्मि नत्थि अभिओगो।सेसम्मि अ(उ)अभिओगो जणवयजाए जहा आसे ६७९

यथा जात्यवाह्लीकानामश्वानां जनपदेषु–मगधादिषु जातानां च, चशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, स्वयमेव खलीनग्रहणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवति अथवाऽपि बलाभियोगेन, खलीनं–कविकं, किमुक्तं भवति ?–यथा जात्यबाह्लीकानामश्वानां स्वयमेव खलीनग्रहणं भवति, जनपदजातानां च बलाभियोगेन, एवं पुरुषजातेऽपि–जातशब्दः प्रकारवचनः पुरुषप्रकारेऽपि, कथम्भूते इत्याह–'विणीयविणयंमि'त्ति विविधम्–अनेकप्रकारं नीतः–प्रापितो विनयो येन स विनीतविनयस्तस्मिन् नास्त्यभियोगः, स्वयमेव विनये प्रवर्त्तनात्, खलीनग्रहणे जात्यबाह्लीकाश्ववत्, 'सेसम्मि उ अभिओगो'त्ति शेषे–विनयरहिते अभियोगो–बलाभियोगः प्रवर्त्तते, जनपदजाते यथा अश्वे। एष गाथाद्वयसमुदायार्थः, अवयवार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–बाहलविसए एगो आसकिसारो, सो दमिज्जिउकामो वेयालियवेलाए अहिवासिऊण पभाए अग्घेऊण वाहियालीए नीओ, खलिणं से ढोइयं, सयमेव तेण गहियं, विणीयत्ति, ततो राया सयमेवारूढो, सो य हियइच्छियं वूढो, रण्णा ओयरिऊण आहारलयणादिणा सम्मं पडियरिओ, पइदियहं च सुद्धत्तणतो एवं वहति, न तस्स बलाभियोगो पवत्तइ। अवरो पुण मगहादिजणवयजाओ आसो, सो दमिज्जिउकामो वियालवेलाए अहिवासितो, मायरं पुच्छति–'किमेयंति'?, तीए भणितं–कल्ले वाहिज्जिहिसि, तं सयमेव खलिणं गहाय वहंतो नरिंदं तोसेज्जासि, तेण तहा कयं, रण्णावि आहाराइगो सवो से उवयारो कतो, माऊए सिट्ठं, तीए भणियं–पुत्त! नियगुणफलं ते एयं, कल्लं पुण मा खलिणं पडिच्छिहिसि मा वा वहसि, तेण तहेव कयं, रण्णावि खोरेण पिट्टित्ता बला कवियं दाऊण वाहिओ, पुणो जवसं से निरुद्धं, तेण माऊए कहियं, सा भणइ–पुत्त! दुवहियफलमिणं, तो दिट्ठोभयमग्गो जो ते रुच्चइ तं करेहिसि। एस दिट्ठंतो, अयमुवणतो–जो सयं न करेइ वेयावच्चादि तत्थ बलाभियोगो पयट्टाविज्जइ जणवयजाए जहा आसे इति । तस्मात् बलाभि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगान्तरेणैव मोक्षार्थिना स्वयमेव प्रत्युपेक्षाकरं दत्त्वा अनभ्यर्थितेनैव वैयावृत्त्यं कार्यं ॥ आह–तथापि अनभ्यर्थितस्य स्वयमिच्छाकारकरणं न युक्तमित्याशङ्क्याह—

अब्भत्थणाह मरुओ वानरओ चेव होइ दिट्ठंतो । गुरुकरणे सयमेव उ वाणिअगो दुन्नि दिट्ठंता ॥ ६८० ॥

अभ्यर्थनायां मरुको दृष्टान्तः, पुनः शिष्यचोदनायां वानरकश्चैव भवति दृष्टान्तः, गुरुकरणे स्वयमेव तु द्वौ वणिजौ दृष्टान्तः, एष गाथासमासार्थो, व्यासार्थः कथानकेभ्योऽवसातव्यः, तानि चामूनि–एगस्स साहुस्स लद्धी अत्थि, सो न करेइ वेयावच्चं बालवुड्ढाणं, आयरिएण चोइओ भणइ–को मं अब्भत्थेइ ?, आयरिएण भणितो–तुमं अब्भत्थणं मग्गंतो चुक्किहिसि जहा सो मरुओ, एगो मरुओ नागसमत्तो कत्तियपुण्णिमाए नरिंदजणवएसु दाणं दाउमब्भुट्ठिएसु न तत्थ वच्चइ, भज्जाए भणितो–जाहि, सो भणइ–एवं ताव मुद्दाणं परिग्गहं करेमि, त्रिइयं घरं तेसिं गच्छामि, जस्स आसत्तमस्स कुलस्स कज्जं सो मम आणेत्ता देइ, एवं सो जावज्जीवाए दरिद्दो जातो, एवं तुमंपि अब्भत्थणं मग्गमाणो चुक्किहिसि निज्जराए, एएसिं बालवुड्ढाणं अण्णे अत्थि करेंतस्स, तुज्झ एस लद्धी एवं चेव जाहिई, ततो सो एवं भणितो भणइ–एवं सुंदरं जामह ता अप्पणा कीस न करेह ?, आयरिया भणंति–सरिसो तुमं तस्स वानरस्स, जहा एगो वानरो रुक्खे अच्छइ, वासासु सीयवाएहिं अभिहुज्जमाणो सुघराए सउणियाए भणिओ–वानरगा पुरिसो सि तुमं निरत्थयं वहसि बाहुदंडाइं । जो वायवस्स सिद्धरे न करेसि कुडिं पडालिं वा ॥ १ ॥ केइ पुण एवं भणंति–'वासेण झडिज्जंतं दट्ठूणं वानरं भरभरेंतं । सुघरा नाम सउणिया भणइ तयं निदुए संती ॥ १ ॥ छिन्नूणिमे तणाइं आणेऊणं च रुक्खसिहरंमि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसहीकया निवाया तत्थ वसामी निरुवसग्गा ॥ २ ॥ तत्थ रमामि रमामि य वासारत्ते य नवियउल्लामि । अंदोलयामि वानर ! वसंतमासं विलंबेमि ॥ ३ ॥ हत्था तव माणुसगे जारिस तारिस हियम्मि विण्णाणं । जीविय चऽम्मोहफलं तुवि सहसि धारवातेहिं ॥ ४ ॥ (छिंदेऊण तणाइं) इच्छसि वसहिं न अप्पणो काउं । वानर ! तुमे असुहिए अम्हेवि धिइं न विंदामो ॥ ५ ॥ इति, एवं सो तीए भणितो तुण्हिक्को अच्छइ, ताहे सा दोच्चंपि तच्चंपि भणइ, सो रुट्ठो तं रुक्खं दुरुहिउमारद्धो, सा नट्ठा, तेण तीसे घरगं सूयं सूयं विक्खित्तं, अण्णे एवं भणंति–जह पढमं तह बिइयं तह तइयं तह चउत्थयं भणियं । पंचमयं रोसविओ संदिट्ठो वानरो पावो ॥ १ ॥ कुद्धो संदट्ठोट्ठो लंकादाहे य जह स हणुमंतो । रोसेण धमधमेंतो उप्फिडितो भंगिउं मालं ॥ २ ॥ आकंपियंमि तो पायवंमि फिरिडित्ति निग्गया सुघरा । अण्णंमि दुमंमि ठिया झडिज्जए सीयवाएणं ॥ ३ ॥ इयरोवि य तं निड्डुं घेत्तूणं पायवस्स सिहरातो । सूयं एक्केक्कं छिंदिऊण तो उज्झई कुविओ ॥ ४ ॥ भूमिगयंमि य तो नेड्डुयंमि अह भणइ वानरो पावो । सुघरे ! अवहियहियए सुण ताव जहा अहिरियासि ॥ ५ ॥ नवऽसि ममं मयहरिया न वऽसि ममं सोहिया व निद्धा वा । सुघरे ! अच्छसु विघरा जा वट्टसि लोगतत्तीसु ॥ ६ ॥ निब्भग्गे ! इयाणिं सुहं अच्छ, एवं तुमंपि मम चेव उवरिएण जातो, किं च–ममं अन्नंपि निज्जरादारं अत्थि तेण अहं वडुतरियाए निज्जराए लाभातो चुक्कामि जहा सो वाणियगो, दो वाणियगा ववहरंति–एगो पढमपाउसे मोलं दावेयव्वं होहिइत्ति सयमेव आसाढपुन्निमाए घरं पच्छइउं लग्गतो, बिइएण रूवयं दाऊण छायावियं, सयं ववहरति, तेण तद्दिवसं बिउणो लाभो लद्धो, इयरो चुक्को, एवं चेव जइ अहं अप्पणा वेयावच्चं करेमि तो अचिंतंतेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

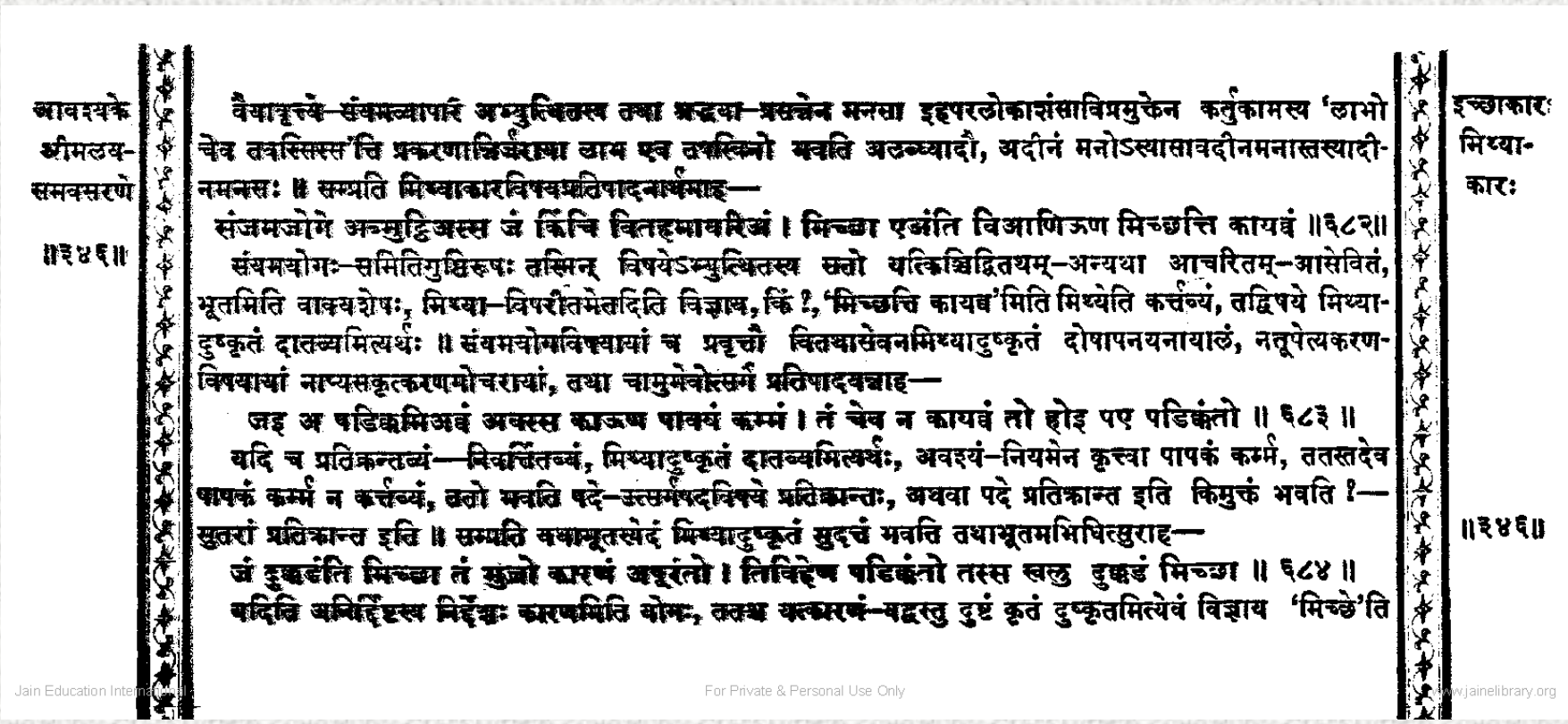
सुत्तत्था नस्संति, तेहि य नट्ठेहिं गच्छसारवणाभावेण गच्छस्स अपडियप्पणे बहुतरं से नासइ इति, तथा चाह–सुत्तत्थेसु अचिंतण आदेसे बुड्ढ सेहगगिलाणे । बाले खमए वाई इड्ढीमाई अणिड्ढीया ॥ १ ॥ एएहिं कारणेहिं तुम्बभूतो उ होइ आयरिओ । वेयावच्चकरेणं कायवं तस्स सेसेहिं ॥ २ ॥ जेण कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण रक्खेज्जा । नहि तुंबंमि विणट्ठे अरया साहारया होंति ॥ ३ ॥ आदेशे–प्राघूर्णके वृद्धे शैक्षके ग्लाने तथा बाले–लघुवयसि क्षपके च, यद्वा आचार्यः स्वयं वैयावृत्त्यं करोति तर्हि सूत्रार्थयोरचिन्तनं भवति, तथा वादिनि आगते ऋद्धिमति च नगरश्रेष्ठ्यादौ, आदिशब्दात् राजादिपरिग्रहः, आचार्ये वेयावृत्त्याय पानकादिगते प्रवचनलाघवं भवति, यथा—अनर्द्धिका एते, अनीश्वरप्रव्रजिता एते इत्यर्थः, तत एतैः कारणैराचार्यः शेषसाधूनामरकप्रायाणां तुम्बभूतो भवति ततो वैयावृत्त्ये–वैयावृत्त्यविषये यत्करणं–करणीयं तत् तस्याशेषैः कर्त्तव्यं, न पुनः स स्वविषये परविषये वा वैयावृत्त्ये प्रवर्त्तमान उपेक्षणीयः । एतदेवाह—

जेण कुलं आयत्तं तं पुरिसं आयरेण रक्खेह । नहु तुंवम्मि विणट्ठे अरगा साहारगा हुन्ति ॥ १३३ ॥

येन पुरुषेण कुलमायत्तं तं पुरुषमादरेण रक्षेत्, यतो 'नहु' नैव तुम्बे विनष्टे अरकाः साधारकाः–साधारा भवन्ति ॥ आह–इच्छाकारेणाहं तव मम च प्रथमालिकादिकमानयामीत्याद्यभिधाय यदा लब्ध्यभावान्न सम्पादयति तदा निर्जरालाभविकलस्तस्येच्छाकारः, ततः किं तेनेत्याशङ्क्याह—

वेयावचे अब्भुट्ठिअस्स सद्धाइ काउकामस्स । लाभो चेव तवस्सिस्स होइ अदीणमणसस्स ॥ ६८१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे

॥३४६॥

वैयावृत्त्ये संयमव्यापारे अभ्युत्थितस्य तथा श्रद्धया प्रसन्नेन मनसा इहपरलोकाशंसाविप्रमुक्तेन कर्तुकामस्य 'लाभो चेव तवस्सिस्स'त्ति प्रकरणान्निर्जराया लाभ एव तपस्विनो भवति अलब्ध्यादौ, अदीनं मनोऽस्यासावदीनमनास्तस्यादी-नमनसः ॥ सम्प्रति मिथ्याकारविषयप्रतिपादनार्थमाह—

संजमजोगे अब्भुट्ठियस्स जं किंचि वितहमायरियं । मिच्छा एअंति विआणिऊण मिच्छत्ति कायव्वं ॥६८२॥

संयमयोगः–समितिगुप्तिरूपः तस्मिन् विषयेऽभ्युत्थितस्य सतो यत्किञ्चिद्वितथम्–अन्यथा आचरितम्–आसेवितं, भूतमिति वाक्यशेषः, मिथ्या–विपरीतमेतदिति विज्ञाय, किं ?, 'मिच्छत्ति कायव्व'मिति मिथ्येति कर्त्तव्यं, तद्विषये मिथ्या-दुष्कृतं दातव्यमित्यर्थः ॥ संयमयोगविषयायां च प्रवृत्तौ वितथासेवनमिथ्यादुष्कृतं दोषापनयनायालं, नतूपेत्यकरण-विषयायां नाप्यसकृत्करणगोचरायां, तथा चामुमेवोत्सर्गं प्रतिपादयन्नाह—

जइ अ पडिक्कमिअव्वं अवस्स काऊण पावयं कम्मं । तं चेव न कायव्वं तो होइ पए पडिक्कंतो ॥ ६८३ ॥

यदि च प्रतिक्रन्तव्यं—निवर्त्तितव्यं, मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमित्यर्थः, अवश्यं–नियमेन कृत्वा पापकं कर्म, ततस्तदेव पापकं कर्म न कर्त्तव्यं, ततो भवति पदे–उत्सर्गपदविषये प्रतिक्रान्तः, अथवा पदे प्रतिक्रान्त इति किमुक्तं भवति ?— सुतरां प्रतिक्रान्त इति ॥ सम्प्रति यथाभूतस्येदं मिथ्यादुष्कृतं सुदत्तं भवति तथाभूतमभिधित्सुराह—

जं दुक्कडंति मिच्छा तं खलु कारणं अपूरंतो । तिविहेण पडिक्कंतो तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा ॥ ६८४ ॥

यदिति अनिर्दिष्टस्य निर्देशः कारणमिति योगः, ततश्च यत्कारणं–यद्वस्तु दुष्टं कृतं दुष्कृतमित्येवं विज्ञाय 'मिच्छे'ति

इच्छाकारः मिथ्या-कारः

॥३४६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूचनात्सूत्रमितिकृत्वा मिथ्यादुष्कृतं (दत्तं तत्) कारणमपूरयन्—अकुर्वन् अनाचरन्निति भावः, यो वर्त्तत इति वाक्यशेषः, तत्र स्वयं कायेनाप्यकुर्वन् पूरयन्नभिधीयते तत आह—'तिविहेण पडिक्कंतो तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा।' 'त्रिविधेन' मनोवाक्कायलक्षणेन योगेन कृतकारितानुमतिभेदयुक्तेन प्रतिक्रान्तो–निवृत्तः तस्माद्–दुष्कृतकारणात् तस्यैव खलुशब्दोऽवधारणे दुष्कृतं—प्रागुक्तं दुष्कृतं फलदातृत्वमधिकृत्य मिथ्या, भवतीति क्रियाध्याहारः, अथवा तस्यैव मिथ्यादुष्कृतं भवति, नान्यस्येति ॥ साम्प्रतं यस्य मिथ्यादुष्कृतं दत्तमपि न सम्यग्भवति तत्प्रतिपादनार्थमाह—

जं दुक्कडंति मिच्छा तं चेव निसेवए पुणो पावं। पच्चक्खमुसावाई मायानिअडीपसंगो अ ॥ ६८५ ॥

यत् पापरूपं किञ्चिदनुष्ठानं दुष्कृतमिति विज्ञाय 'मिच्छ'त्ति मिथ्यादुष्कृतदानविषयीकृतं, यस्तदेव निषेवते पुनः पापं स प्रत्यक्षमृषावादी, कथम् ?, दुष्कृतमेतदित्यभिधाय पुनरासेवनात्, तथा तस्य मायानिकृतिप्रसङ्गश्च, स हि दुष्टान्तरात्मा निश्चयतश्चेतसा अनिवृत्त एव गुर्वादिरञ्जनार्थं मिथ्यादुष्कृतं प्रयच्छति, कुतः ?, पुनरासेवनात्, तत्र मायैव निकृतिः तस्याः प्रसङ्गो मायानिकृतिप्रसङ्गः ॥ कः पुनरस्य मिथ्यादुष्कृतपदस्यार्थ इत्याह–

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते 'छ'त्ति अ दोसाण छायणे होइ। 'मि' त्ति अ मेराइ ठिओ 'दु' त्ति दुगुंछामि अप्पाणं॥६८६॥
'क' त्ति कडं मे पावं 'ड' त्ति अ डेवेमि तं उवसमेणं। एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो समासेणं ॥ ६८७ ॥

मीत्ययं वर्णो मृदुमार्दवे वर्त्तते, तत्र मृदुत्वं–कायनम्रता [मृदु] मार्दवं च–भावनम्रता मृदुमार्दवे ते अस्य स्त इति मृदुमार्दवः, अभ्रादिभ्य इतिमत्वर्थीयोऽप्रत्ययस्तद्भावस्तत्त्वं तस्मिन्, तथा छ इत्ययं वर्णो दोषाणाम्—असंयमयोगलक्षणाना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्छादने—स्थगने भवति, मित्त्ययं वर्णो मर्यादायां–चारित्ररूपायां स्थितोऽहमित्यस्यार्थस्याभिधायकः, दुरित्ययं वर्णो जुगुप्से–निन्दामि दुष्कृतकारिणमात्मानमित्यस्मिन्नर्थे वर्त्तते, क इत्ययं वर्णः कृतं मया पापमित्येवमभ्युपगमार्थे वर्त्तते, ड इत्ययं वर्णो डेवेमि—लंघयामि अतिक्रामामि तत्–कृतं पापं, केनेत्याह—उपशमेनेत्यस्मिन्नर्थे, एषः–अनन्तरोक्तः प्राकृतशैल्या मिथ्यादुष्कृतपदस्यार्थः, 'समासेन' सङ्क्षेपेण ॥ आह—कथं प्रत्येकमक्षराणामुक्तार्थता ?, पदवाक्ययोरेवार्थदर्शनात्, उच्यते, इह यथा वाक्यैकदेशत्वात् पदस्यार्थोऽस्ति तथा पदैकदेशत्वाद्वर्णस्यापीत्यदोषः, अन्यथा पदस्याप्यर्थशून्यत्वप्रसङ्गोऽक्षरेष्वर्थाभावात्, प्रयोगश्च—यत् यत्र प्रत्येकं न विद्यते तत्समुदायेऽपि न भवति, यथा सिकतासु तैलं, इष्यते च वर्णसमुदायात्मकस्य पदस्यार्थस्तस्मादन्यथानुपपत्तेर्वर्णानामप्यर्थः प्रतिपत्तव्य इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ साम्प्रतं तथाकारो यस्य दीयते तत्प्रतिपादनार्थमाह—

कप्पाकप्पे परिनिट्ठिअस्स ठाणेसु पंचसु ठिअस्स । संजमतवद्धगस्स उ अविगप्पेणं तहक्कारो ॥ ६८८ ॥

कल्पो विधिराचार इति पर्यायाः, कल्पविपरीतस्त्वकल्पः, जिनस्थविरकल्पादि वा कल्पः चरकादिदीक्षा पुनरकल्पः, कल्पश्चाकल्पश्चेति समाहारो द्वन्द्वः कल्पाकल्पं तस्मिन् कल्पाकल्पे परि–समन्तात् निष्ठितः परिनिष्ठितो—ज्ञाननिष्ठां प्राप्तः तस्य, तथा तिष्ठन्त्येतेषु सत्सु शाश्वते स्थाने प्राणिन इति स्थानानि–महाव्रतान्यभिधीयन्ते, तेषु स्थानेषु पञ्चसु स्थितस्य, महाव्रतयुक्तस्येत्यर्थः, संयमतपोभ्यामाढ्यः–संपन्नः संयमतपआढ्यः, अनेनोत्तरगुणयुक्ततामाह, तस्य किमित्याह–'अविकल्पेन' निश्चयेन तथाकारः, कर्त्तव्य इति क्रियाध्याहारः ॥ सम्प्रति तथाकारविषयप्रतिपादनार्थमाह—

मिथ्याकारः तथाकारश्च ॥ ३४७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

वायणपडिसुणणाए उवएसे सुत्तअत्थकहणाए । अवितहमेअंति तहा पडिसुणणाए अ तहकारो ॥ ६८९ ॥

वाचना—सूत्रदानलक्षणा तस्याः प्रतिश्रवणा तस्यां वाचनाप्रतिश्रवणायां तथाकारः कार्यः, एतदुक्तं भवति–गुरौ वाचनां प्रयच्छति सति सूत्रं गृह्णता तथाकारः प्रयोक्तव्यः, तथा सामान्येनोपदेशे चक्रवालसामाचारीप्रतिबद्धे गुरोरन्यस्य वा सम्बन्धिनि तथाकारः कार्यः, तथा सूत्रार्थकथनायां, व्याख्याने इत्यर्थः, किं?–तथाकारः कार्यः, तथाकार इति कोऽर्थ इत्याह–अवितथमेतत् यद् ब्रूथ यूयमिति, न केवलममीष्वेवार्थेषु तथाकारः प्रयोक्तव्यः, किन्तु 'तहा पडिसुणणाए' इति प्रतिपृच्छोत्तरकालमाचार्ये कथयति सति प्रतिश्रवणायां च तथाकारः कार्यः, चशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः ॥ साम्प्रतं स्वस्थाने स्वस्थाने इच्छाकारादिप्रयोक्तुः फलं प्रतिपादयति—

जस्स य इच्छाकारो मिच्छाकारो अ परिचिआ दोवि । तइओ अ तहक्कारो न दुल्लहा सुग्गई तस्स ॥६९०॥

यस्येच्छाकारो मिथ्याकारश्च द्वावपि परिचितौ तृतीयस्तु तथाकारः तस्य सुगतिर्न दुर्लभा ॥ साम्प्रतमावश्यकीनैषेधिकीद्वारद्वयावयवार्थमभिधित्सुः पातनिकागाथामाह—

आवस्सयं च निन्तो जं च अइन्तो निसीहिअं कुणइ । एअं इच्छं नाउं गणिवर ! तुज्झंतिए निउणं ॥६९१॥

आवश्यकी पूर्वोक्तशब्दार्थां तां आवश्यकीं 'निंतो' निर्गच्छन् यां च 'अइंतो' आगच्छन्, प्रविशन् इत्यर्थः, नैषेधिकीं करोति, एतत्–आवश्यकीनैषेधिकीरूपं द्वयमपि स्वरूपादिभेदभिन्नं इच्छामि ज्ञातुं हे गणिवर ! युष्मदन्तिके निपुणं–सूक्ष्मं एतज्ज्ञातुमिच्छामीति क्रियाविशेषणं ॥ एवं शिष्येणोक्ते सत्याहाचार्यः—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवस्सइं च निंतो जं च अइंतो निसीहिअं कुणइ । वञ्जणमेअं तु दुहा अत्थो पुण होइ सो चेव ॥६९२॥

आवश्यकीं निर्गच्छन् यां च प्रविशन्नैषेधिकीं करोति एतद् व्यञ्जनं–शब्दरूपं द्विधा, किमुक्तं भवति ?–आवश्यकीति नैषेधिकीति चेति द्वयं शब्दत एव भिन्नम्, अर्थः पुनर्भवत्यावश्यकीनैषेधिक्योः स एव–एक एव, यस्मादवश्यकर्त्तव्ययोगक्रिया आवश्यिकी निपिद्धात्मनश्चातिचारेभ्यः क्रिया नैषेधिकी, न ह्यसावप्यवश्यकर्त्तव्यं व्यापारमुल्लङ्घ्य वर्त्तते, आह–यद्येवं भेदोपन्यासः किमर्थः ?, उच्यते, गमनस्थितिक्रियाभेदात् ॥ आह–'आवश्यकीं निर्गच्छ'न्नित्युक्तं तत्र साधोः किमवस्थानं श्रेय उताटनमिति ?, उच्यते, अवस्थानं ?, कथं ?, यत आह—

एगग्गस्स पसंतस्स न हुंति इरिआदओ गुणा हुंति । गंतव्वमवस्सं कारणम्मि आवस्सिआ होइ ॥ ६९३ ॥

एकमग्रम्—आलम्बनं यस्येत्यसावेकाग्रस्तस्य, स चाप्रशस्तालम्बनोऽपि भवति तत आह—'प्रशान्तस्य' क्रोधरहितस्य सतस्तिष्ठतः, किं ?–न भवन्ति ईर्यादयः, ईरणमीर्या गमनमित्यर्थः, इह ईर्याकार्यं कर्म्म ईर्याशब्देन गृह्यते, कारणे कार्योपचारात्, ईर्या आदिर्येषामात्मसंयमविराधनादीनां दोषाणां ते ईर्यादयो न भवन्ति, तथा गुणाश्च—स्वाध्यायध्यानादयो भवन्ति, प्राप्तं तर्हि संयतस्य अगमनमेव श्रेय इत्यपवादमाह—न चावस्थाने खलूक्तगुणसम्भवान्न गन्तव्यमेव, किन्तु गन्तव्यमवश्यं—नियोगतः कारणे गुरुग्लानादिसम्बन्धिनि, यतस्तत्रागच्छतो दोषाः, ततः कारणे गच्छत आवश्यकी भवति ॥ आह—कारणेन गच्छतः किं सर्वस्यैवावश्यकी भवति उत नेति ?, उच्यते, नेति, कस्य तर्हि ?, तदुच्यते–

आवस्सिआ उ आवस्सएहिं सव्वेहिं जुत्तजोगिस्स । मणवयणकायगुत्तिंदियस्स आवस्सिया होइ ॥ ६९४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकी आवश्यकैः–प्रतिक्रमणादिभिः सर्वैर्युक्तयोगिनो भवति, शेषकालमपि निरतिचारस्य क्रियास्थस्येति भावार्थः, तस्य च गुरुनियोगादिना प्रवृत्तिकालेऽपि 'मण' इत्यादि मनोवाक्कायेन्द्रियैः गुप्तस्य, किम्?–आवश्यकी भवति, सूत्रे इन्द्रियशब्दस्य गाथाभङ्गभयाद् व्यवहित उपन्यासः, कायात् पृथगिन्द्रियग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्, अस्ति चायं न्यायः 'सामान्यग्रहणे सत्यपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपन्यासो' यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति ॥ उक्ता आवश्यकी, साम्प्रतं नैषेधिकीं प्रतिपादयन्नाह—

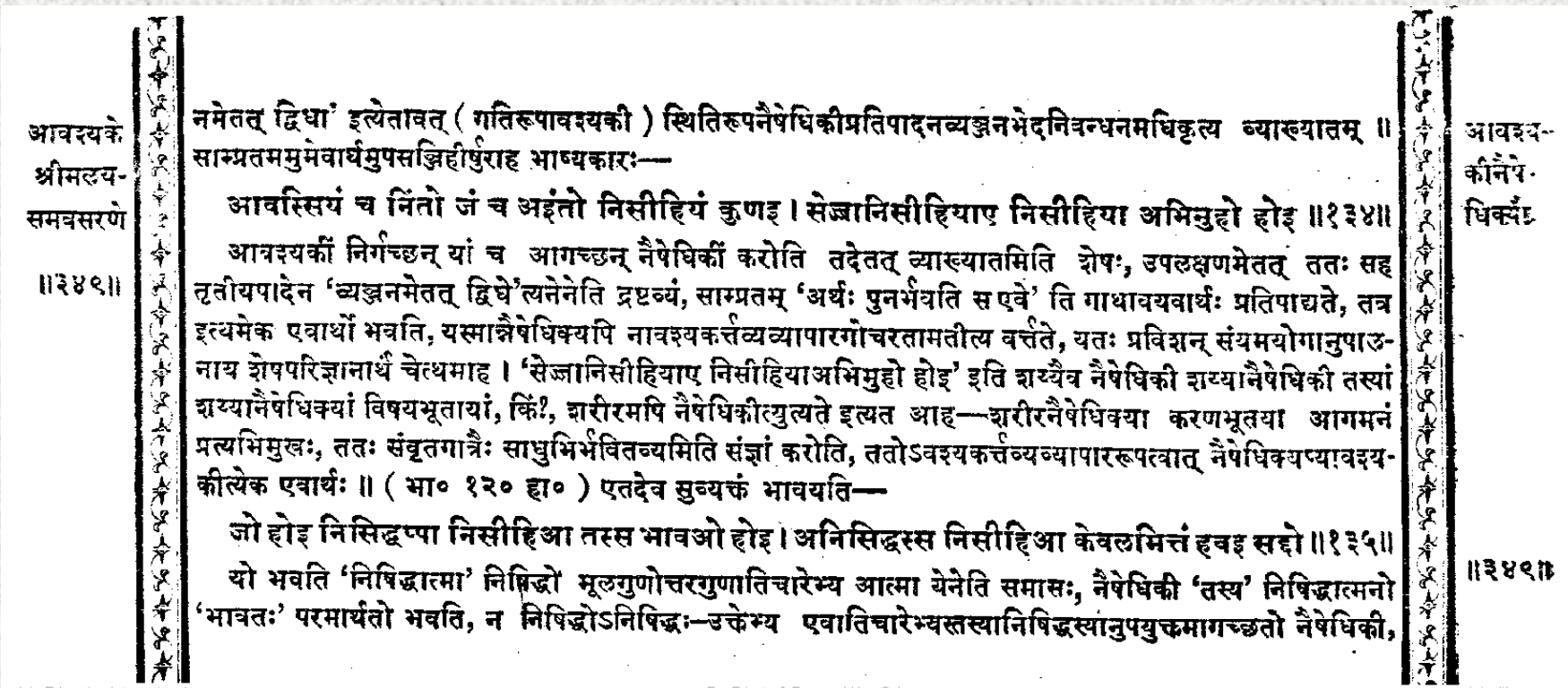
सिज्जं ठाणं च जहिं चेएइ तहिं निसीहिआ होइ । जम्हा तत्थ निसिद्धो तेणं तु निसीहिआ होइ ॥ ६९५ ॥

शेरते अस्यामिति शय्या–शयनस्थानं तां शय्यां 'स्थानं चे' ति स्थानम्–ऊर्ध्वस्थानं, कायोत्सर्ग इत्यर्थः, यत्र चेतयते 'चिती संज्ञाने' अनुभवरूपतया विजानाति, वेदयते इत्यर्थः, अथवा चेतयते–करोति धातूनामनेकार्थत्वात्, शयनक्रियां च कुर्वता निश्चयतः शय्या कृता भवति, ततश्च यत्र स्वपितीत्यर्थः, चशब्दो वीरासनाद्यनुक्तसमुच्चयार्थः, अथवा तुशब्दार्थे द्रष्टव्यः, स च विशेषणार्थः, किं विशिनष्टीति चेत्, उच्यते, कृतप्रतिक्रमणाद्यशेषावश्यकः सन् अनुज्ञातो गुरुणा शय्यां स्थानं च चेतयते तत्र–एवंविधस्थितिक्रियाविशिष्टे स्थाने नैषेधिकी भवति, नान्यत्र, किमित्यत आह–यस्मात्तत्र निषिद्धोऽसौ तेन कारणेन नैषेधिकी भवति, निषेधात्मकत्वात् तस्या इति, पाठान्तरं वा—

सेज्जं ठाणं च जया चेते तइया निसीहिया होइ । तम्हा तया निसेहो निसेहमइया य सा जेण ॥ ६९६ ॥

इयमुक्तार्थत्वात् सुगमैव, अनेन ग्रन्थेन मूलगाथाया 'आवश्यकीं निर्गच्छन् यां च आगच्छन् नैषेधिकीं करोति व्यक्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥३४९॥

नमेतत् द्विधा' इत्येतावत् (गतिरूपावश्यकी) स्थितिरूपनैषेधिकीप्रतिपादनव्यञ्जनभेदनिबन्धनमधिकृत्य व्याख्यातम् ॥ साम्प्रतममुमेवार्थमुपसञ्जिहीर्षुराह भाष्यकारः—

आवस्सियं च नितो जं च अइंतो निसीहियं कुणइ । सेज्जानिसीहियाए निसीहिया अभिमुहो होइ ॥१३४॥

आवश्यकीं निर्गच्छन् यां च आगच्छन् नैषेधिकीं करोति तदेतत् व्याख्यातमिति शेषः, उपलक्षणमेतत् ततः सह तृतीयपादेन 'व्यञ्जनमेतत् द्विधे'त्यनेनेति द्रष्टव्यं, साम्प्रतम् 'अर्थः पुनर्भवति स एवे' ति गाथावयवार्थः प्रतिपाद्यते, तत्र इत्यमेक एवार्थो भवति, यस्मान्नैषेधिक्यपि नावश्यकर्त्तव्यव्यापारगोचरतामतीत्य वर्त्तते, यतः प्रविशन् संयमयोगानुपालनाय शेषपरिज्ञानार्थं चेत्थमाह । 'सेज्जानिसीहियाए निसीहियाअभिमुहो होइ' इति शय्यैव नैषेधिकी शय्यानैषेधिकी तस्यां शय्यानैषेधिक्यां विषयभूतायां, किं?, शरीरमपि नैषेधिकीत्युत्यते इत्यत आह—शरीरनैषेधिक्या करणभूतया आगमनं प्रत्यभिमुखः, ततः संवृतगात्रैः साधुभिर्भवितव्यमिति संज्ञां करोति, ततोऽवश्यकर्त्तव्यव्यापाररूपत्वात् नैषेधिक्यप्यावश्यकीत्येक एवार्थः ॥ (भा० १२० हा०) एतदेव सुव्यक्तं भावयति—

जो होइ निसिद्धप्पा निसीहिआ तस्स भावओ होइ । अनिसिद्धस्स निसीहिआ केवलमित्तं हवइ सद्दो ॥१३५॥

यो भवति 'निषिद्धात्मा' निषिद्धो मूलगुणोत्तरगुणातिचारेभ्य आत्मा येनेति समासः, नैषेधिकी 'तस्य' निषिद्धात्मनो 'भावतः' परमार्थतो भवति, न निषिद्धोऽनिषिद्धः—उक्तेभ्य एवातिचारेभ्यस्तस्यानिषिद्धस्यानुपयुक्तमागच्छतो नैषेधिकी,

आवश्यकीनैषेधिकीसंद

॥३४९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** इह मूल संपादने यत् भाष्य-क्रम १३४ आगत, सा गाथाया: क्रम हारिभद्रिय-वृतौ १२० अस्ति

किम्?–'केवलमेत्तं हवइ सद्दो'केवलं शब्दमात्रमेव भवति, न भावत इति गाथार्थः (भा०१२१हा०) ॥ यदि नामैवं तत एकार्थतायाः किमायातमिति?, उच्यते, निषिद्धात्मनो नैषेधिकी भवतीति उक्तं, स च—

आवस्सयम्मि जुत्तो निअमनिसिद्धत्ति होइ नायव्वो। अहवावि निसिद्धप्पा नियमा आवस्सए जुत्तो ॥१३६॥

आवश्यके–मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानरूपे युक्तो 'नियमनिसिद्धत्ति होइ नायव्वो' इति नियमेन निषिद्ध इत्येवं भवति ज्ञातव्यः, आवश्यक्यपि चावश्यकयुक्तस्यैवेत्यत एकार्थता, अथवेति प्रकारान्तरदर्शनार्थः, अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, निषिद्धात्माऽपि नियमादावश्यके युक्तोऽतोऽप्येकार्थतेति, पाठान्तरं 'अहवावि निसिद्धप्पा सिद्धाणं अंतियं जाइ' इति, अस्यायमर्थः–तदेवं तावत् क्रियाया अभेदेन एकार्थता उक्ता, इह तु कार्याभेदेनैकार्थतोच्यते–अथवेति प्रकारान्तरे, निषिद्धात्मापि सिद्धानामन्तिकं–समीपं याति–गच्छति,अपिशब्दादावश्यकयुक्तोऽपि,अतः कार्याभेदादेकार्थता(भा०१२२हा०)॥ साम्प्रतमापृच्छादिद्वारचतुष्टयमेकगाथयैव प्रतिपादयन्नाह—

आपुच्छणा य कज्जे पुव्वनिसिद्धेण होइ पडिपुच्छा। पुव्वगहिएण छंदण निमंतणा होअगहिएणं ॥ ६९७ ॥

आपृच्छनमापृच्छा, सा तु कर्त्तुमभीष्टे कार्ये प्रवर्त्तमानेन गुरोः कार्या–अहमिदं करोमीति। द्वारं। तथा पूर्वनिषिद्धेन सता यथा भवतेदं न कार्यमिति, उत्पन्नेऽथ प्रयोजने कर्त्तुकामेन 'होइ पडिपुच्छ' त्ति भवति प्रतिपृच्छा कर्त्तव्या, पाठान्तरं 'पुव्वनिउत्तेण होइ पडिपुच्छा'पूर्वनियुक्तेन सता यथा भवतेदं कार्यमिति, तत् कर्त्तुकामेन गुरोः प्रतिपृच्छा भवति कर्त्तव्या-अहं तत्करोमि, तत्र हि कदाचिदसौ कार्यान्तरमादिशति समाप्तं वा तेन प्रयोजनमिति। द्वारं। तथा पूर्वगृहीतेनाश-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

नादिना छन्दना शेषसाधुभ्यः कर्त्तव्या, यथेदं मया अशनाद्यानीतं यदि कस्यचिदुपयुज्यते ततोऽसाविच्छाकारेण ग्रहणं करोत्विति। द्वारं। तथा निमन्त्रणा भवत्यगृहीतेनाशनादिना, यथाऽहं भवतेऽशनाद्यानयामीति ॥ इदानीमुपसम्पद्द्वारावयवार्थः प्रतिपाद्यते, सा चोपसम्पद् द्विधा भवति–गृहस्थोपसम्पत् साधूपसंपच्च, तत्रास्तां गृहस्थोपसम्पत्, साधूपसंपत् प्रोच्यते, सा च त्रिविधा–ज्ञानादिभेदात्, तथा चाह—

उवसंपया य तिविहा नाणे तह दंसणे चरित्ते अ। दंसणनाणे तिविहा दुविहा य चरित्तअट्ठाए ॥ ६९८ ॥

उपसम्पत्तिः त्रिधा, तद्यथा–'ज्ञाने' ज्ञानविषया, एवं दर्शनविषया चारित्रविषया च, तत्र दर्शनज्ञानयोः सम्बन्धिनी त्रिविधा, द्विविधा च चारित्रार्थायेति। तत्र यदुक्तम् 'दर्शनज्ञानयोस्त्रिविधे'ति तत्प्रतिपादनार्थमाह—

वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थतदुभए। वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाइ अ ॥ ६९९ ॥

वर्त्तना सन्धना चैव ग्रहणमित्येतत् त्रितयं 'सुत्तत्थतदुभए'त्ति सूत्रार्थोभयविषयमवगन्तव्यमित्येतदर्थमुपसम्पद्यते, तत्र वर्त्तना प्राग्गृहीतस्यैव सूत्रादेरस्थिरस्य गुणनमिति, सन्धना तस्यैव प्रदेशान्तरे विस्मृतस्य मेलना योजना घटनेत्येकोऽर्थः, ग्रहणं पुनस्तस्यैव तत्प्रथमतया आदानं, एतत्त्रितयं सूत्रार्थोभयविषयं द्रष्टव्यम्, एवं ज्ञाने नव भेदाः, दर्शनेऽपि दर्शनप्रभावनीयशास्त्रविषया एत एव भेदा द्रष्टव्याः, अत्र सन्दिष्टः सन्दिष्टस्यैवोपसंपद्यते इत्यादिचतुर्भङ्गिका, तत्र प्रथमो भङ्गः शुद्धः, शेषास्त्वशुद्धाः, 'द्विविधा चारित्रार्थे'ति यदुक्तं तदुपदर्शयन्नाह–'वेयावच्चे खवणे काले आवकहाइ य'इति चारित्रोपसम्पत् वैयावृत्त्यविषया क्षपणविषया च, इयं कालतो यावत्कथिका च भवति, चशब्दादित्वरा च, एतदुक्तं भवति–चारि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रार्थमाचार्याय कश्चित् वैयावृत्त्यकरत्वं प्रतिपद्यते, स च कालत इत्वरो यावत्कथिकश्च, क्षपकोऽपि उपसम्पद्यते द्विधा–इत्वरो यावत्कथिकश्चेति गाथासङ्क्षेपार्थः। साम्प्रतमयमेवार्थो विशेषतः प्रतिपाद्यते, तत्रापि सन्दिष्टेन सन्दिष्टस्योपसम्पद्दातव्येति मौलोऽयं गुणः, एतत्प्रभवत्वादुपसम्पद इत्यतोऽमुमेवार्थमभिधित्सुराह—

संदिट्ठो संदिट्ठस्स चेव संपज्जई उ एमाई। चउभंगो इत्थं पुण पढमो भङ्गो हवइ सुद्धो ॥ ७०० ॥

सन्दिष्टो–गुरुणाऽभिहितः सन्दिष्टस्यैवाचार्यस्य, यथा अमुकस्य सम्पद्यस्व, उपसम्पदं प्रयच्छतेत्यर्थः, एवमादिश्चतुर्भङ्गी, तद्यथा—संदिष्टः सन्दिष्टस्य, एष भङ्ग उक्त एव, सन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्य अन्यस्याचार्यस्येति द्वितीयः, असन्दिष्टः संदिष्टस्य, न तावदिदानीं गन्तव्यं गन्तव्यं त्वमुकस्येति तृतीयः, असन्दिष्टोऽसन्दिष्टस्य, न तावदिदानीं न चामुकस्येति, अत्र पुनः प्रथमो भङ्गो भवति शुद्धः, पुनःशब्दस्य विशेषणार्थत्वात् द्वितीयपदेनाव्यवच्छित्तिनिमित्तमन्येऽपि द्रष्टव्याः। सम्प्रति वर्त्तनादिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

अथिरस्स पुव्वगहिअस्स वत्तणा जं इहं थिरीकरणं। तस्सेव पएसंतरनट्ठस्सऽणुसंधणा घडणा ॥ ७०१ ॥

गहणं तप्पढमतया सुत्ते अत्थे तदुभए चेव। अत्थगहणम्मि पायं एस विही होइ नायव्वो ॥ ७०२ ॥

पूर्वगृहीतस्य सूत्रादेरस्थिरस्य यत् स्थिरीकरणं सा वर्त्तना, तस्यैव सूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य या घटना मीलनं साऽनुसन्धवा, तत्प्रथमतया च सूत्रे–षष्ठी उभयोरर्थं प्रत्यभेदात् सूत्रस्य, एवमर्थस्य तदुभयस्य–सूत्रार्थोभयस्य यदादानमिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

शेषः यद्ग्रहणं । 'अत्थग्गहणंमी' त्यादि, अर्थग्रहणे प्रायो–बाहुल्येन एष वक्ष्यमाणलक्षणो विधिर्भवति ज्ञातव्यः, प्रायोग्रहणं सूत्रग्रहणेऽपि कश्चिद्भवत्येव प्रमार्जनादिरिति ज्ञापनार्थं । साम्प्रतमधिकृतविधिप्रदर्शनाय द्वारगाथामाह—

मज्जण निसिज्ज अक्खा किइकम्मुस्सग्गु वंदणं जिट्ठे । भासं तु होइ जिट्ठो न उ परिआएण तो वंदे ॥ ७०३ ॥

प्रथमतो यत्र स्थाने व्याख्यानं कर्त्तव्यं तस्य प्रमार्जनं कार्यं, ततो निसिज्ज अक्खो इति प्राकृतत्वात् षष्ठ्यर्थे प्रथमा, अक्षाणामुपलक्षणमेतत् गुरूणां च चेलम् , अकृतसमवसरणेन गुरुणा व्याख्या न कर्त्तव्येत्युत्सर्गज्ञापनार्थं अक्षाणामुपादानं, तथा कृतिकर्म्म दातव्यं, तदनन्तरं वन्दनं ज्येष्ठे, ज्येष्ठश्चात्र भाषमाणो द्रष्टव्यो, न तु पर्यायेणेति द्वारगाथासमासार्थः । अवयवार्थं तु स्वत एवाह—

ठाणं पमज्जिऊणं दुन्नि निसिज्जा य हुंति कायव्वा । इक्का गुरुणो भणिया बिइआ पुण होइ अक्खाणं ॥ ७०४ ॥

यत्र व्याख्या कर्त्तव्या तत् स्थानं प्रमार्ज्य द्वे निषद्ये भवतः कर्त्तव्ये, एका गुरोर्भणिता कर्त्तव्या, द्वितीया पुनर्भवत्यक्षाणां समवसरणस्थ ॥ सम्प्रति कृतिकर्म्मद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दो चेव मत्तगाइं खेले तह काइयाए बीयं तु । जावइया य सुणंती सव्वेविय ते उ वंदंति ॥ ७०५ ॥

द्वे एव मात्रके–समाधिस्थानरूपे खलु गुरुयोग्ये व्याख्यानमण्डल्यां प्रगुणीकर्त्तव्ये, तद्यथा–एकं खेलस्य–श्लेष्मणो द्वितीयं तथा कायिक्याः, अन्यथा अर्द्धकृतव्याख्यानोत्थानानुत्थानाभ्यां पलिमन्थात्मविराधानादिदोषप्रसङ्गः, ननु कृतकायिक्यादिव्यापारेणैव गुरुणा प्रायो व्याख्या प्रारभ्यते, ततो व्याख्याप्रबन्धे क्व कायिक्या अवकाशो येनोच्यते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

'काइयाए बीयं तु' इति ?, उच्यते, यदि नाम रोगवशतः पुनः पुनः कायिकी समागच्छति तथापि तदवस्थेनापि गुरुणा शिष्याणामनुग्रहाय सूत्रं व्याख्येयमिति ज्ञापनार्थमेतदुक्तं, तथा चायमेवार्थ उक्तः पञ्चवस्तुके "दो चेव मत्तगाइं खेले तह काइयाए बीयं तु । एवंविहोऽवि सुत्तं वक्खाणिज्जत्ति भावत्थो ॥ १ ॥" (१००३) कृतिकर्म्मद्वारे एतदभिधानं विधि-विशेषख्यापनार्थमित्यदुष्टं, यावन्तश्च शृण्वन्ति तावन्तस्ते सर्वेऽपि द्वादशावर्त्तवन्दनेन वन्दन्ते । अधुना कायोत्सर्गद्वारं व्याचिख्यासुराह—

सव्वे काउस्सग्गं करेंति सव्वे पुणोऽवि वंदंति । नासन्नि नाइदूरे गुरुवयणपडिच्छगा हुंति ॥ ७०६ ॥

सर्वे श्रोतारः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिकृत्वा तद्विघातायानुयोगप्रारम्भे कायोत्सर्गं कुर्वन्ति, तं चोत्सार्य सर्वे पुनरपि वन्दन्ते, ततो नासन्ने नाप्यतिदूरे व्यवस्थिताः सन्तो गुरुवचनप्रतीच्छका भवन्ति, शृण्वन्तीत्यर्थः । सम्प्रति श्रवणवि-धिप्रतिपादनार्थमाह—

निद्दा–विगहापरिवज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं । भत्तिबहुमाणपुव्वं उवउत्तेहिं सुणेअव्वं ॥ ७०७ ॥
अभिकंखंतेहिं सुभासिआइं वयणाइं अत्थसाराइं । विम्हिअमुहेहिं हरिसागएहिं हरिसं जणंतेहिं ॥७०८॥

निद्राविकथापरिवर्जितैः, परिवर्जितनिद्राविकथैरित्यर्थः, गुप्तैः–मनोवाक्कायगुप्तैः 'पंजलिउडेहिं' इति निष्ठान्तस्य प्राकृत-त्वात्परनिपात इति कृतप्राञ्जलिभिः भक्तिः–यथोचिता बाह्या प्रतिपत्तिः बहुमानम्–आन्तरः प्रीतिविशेषस्तत्पूर्वम्, उपयुक्तैः–श्रवणैकनिष्ठैस्ततो गुरुमुखाद्विनिर्गतानि वचनानि सुभाषितानि–शब्दार्थदोषरहितानि अर्थसाराणि–विपुलार्थसमन्वितानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ श्रवण एवं व्याख्यान-विधि: प्रतिपाद्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आवश्यके श्रीमलय-समवसरणे ॥३५२॥

अभिकाङ्क्षद्भिरपूर्वार्थश्रवणतो हर्षागतैः, आगतहर्षैरित्यर्थः, हर्षोत्कर्षवशादेव विस्मितमुखैः तथा अन्येषां संवेगकरणादिना हर्षं जनयद्भिः श्रोतव्यम् । एवं च तैः शृण्वद्भिर्गुरोरतीव परितोषप्रकारेण प्रकृष्टेन आपाद्यते, ततः किमित्याह—

गुरुपरितोसगएणं गुरुभत्तीए तहेव विणएणं । इच्छियसुत्तत्थाणं खिप्पं पारं समुवयंति ॥ ७०९ ॥

गुरुपरितोषगतेन–परितोषप्रकारेण, प्रकृष्टेन गुरुपरितोषेणेत्यर्थः, सोऽपि कथमित्याह–गुरुभक्त्या–आन्तरप्रीतिविशेषरूपया तथैव विनयेन च–देशकालाद्यपेक्षया यथोचितप्रतिपत्तिकरणलक्षणेन, किमित्याह–सम्यक् सद्भावप्ररूपणया ईप्सितसूत्रार्थयोः क्षिप्रं–शीघ्रं पारं समुपयाति ॥

वक्खाणसमत्तीए जोगं काऊण काइआईणं । वंदंति तओ जिट्ठं अन्ने पुव्वं चिय भणंति ॥ ७१० ॥

व्याख्यानसमाप्तौ श्रोतारः कायिक्यादीनां योगं–व्यापारं कृत्वा ततो ज्येष्ठम्–अनुभाषकं, चिन्तापकमित्यर्थः, वन्दन्ते द्वादशावर्त्तवन्दनकेन, अन्ये आचार्याः पुनरेवमभिदधति–किल पूर्वमेव व्याख्यानारंभकाले गुरुवन्दनानन्तरं ज्येष्ठं वन्दन्ते इति । द्वारगाथापश्चार्द्धमाक्षेपद्वारेण प्रपञ्चतो व्याचिख्यासुराह—

चोएइ जओ (जइहु) जिट्ठो कहंचि सुत्तत्थधारणाविगलो । वक्खाणलद्धिहीणो निरत्थयं वंदणं तस्मि ॥७११॥

चोदयति यदि हु–निश्चितं ज्येष्ठः कथञ्चित्—कथमपि 'सूत्रार्थधारणाविकलः' गुरुव्याख्यातार्थसूत्रार्थावधारणाशक्तिरहितः, सूत्रार्थधारणशक्तिमानपि यदि व्याख्यानलब्धिहीनस्ततस्तस्मिन् निरर्थकं वन्दनकं, तत्फलस्य प्रत्युच्चारणश्रवणस्वभावादिति ॥

व्याख्यान-विधिः

॥३५२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

अह वयपरियाएहिं लहुओऽवि हु भासओ इहं जिट्ठो। रायणियवंदणे पुण तस्सवि आसायणा भंते!॥७१२॥

अथ मन्येथा–वयःपर्यायाभ्यां लघुरपि भाषक एवेह ज्येष्ठः परिगृह्यते, ननु तर्हि भदन्त! रत्नाधिकवन्दने पुनस्तस्याप्याशातना प्राप्नोति, तथाहि—न युज्यत एव चिरकालप्रव्रजितान् लघोः वन्दनं दापयितुमिति गाथार्थः॥ इत्थं पराभिप्रायमाशङ्क्याह—

जइवि वयमाइएहिं लहुओ सुत्तत्थधारणापडुओ। वक्खाणलद्धिमं जो सुचिय इह विप्पए जिट्ठो॥७१३॥

यद्यपि वयआदिभ्यां–वयःपर्यायाभ्यां लघुस्तथापि यः सूत्रार्थधारणापटुः व्याख्यानलब्धिमांश्च, चशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, स एवेह–अनुभाषकप्रस्तावे ज्येष्ठः परिगृह्यते॥ आशातनादोषपरिहारार्थमाह—

आसायणावि नेवं पडुच्च जिणवयणभासिअं जम्हा। वंदणयं रायणिए तेण गुणेणं तु सो चेव॥७१४॥

जिनवचनभाषणं प्रतीत्य एवम्–उक्तेन प्रकारेणाशातनाऽपि तस्य नोपजायते, यस्माद्वन्दनकं रत्नाधिके, अर्हद्वचनव्याख्यानलक्षणेन तेन गुणेन सोऽप्यनुभाषको रत्नाधिक एव। सम्प्रति प्रसङ्गतो वन्दनविषय एव निश्चयव्यवहारनयमतप्रदर्शनायाह–

न वओ इत्थ पमाणं न य परिआओऽवि निच्छयनएणं। ववहारओ उ जुज्जइ उभयनयमयं पुण पमाणं॥७१५॥

न वयः–अवस्थाविशेषलक्षणं अत्र–वन्दनकविधौ प्रमाणं, न च पर्यायोऽपि–प्रव्रज्याप्रतिपत्तिलक्षणो निश्चयनयमतेन–निश्चयनयाभिप्रायेण, ज्येष्ठवन्दनादिव्यवहारलोपातिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमाह–व्यवहारतस्तु युज्यते, किमत्र प्रमाणमितिसंदेहापनोदार्थमाह–उभयनयमतं पुनः–द्वावपि प्रमाणमिति भावः। प्रकृतमेवार्थं समर्थयमान आह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निच्छयओ दुन्नेयं को भावे कम्मि वट्टए समणो ?। ववहारओ अ कीरइ जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥ ७१६ ॥

निश्चयतो दुर्ज्ञेयं-कः कस्मिन् प्रशस्तेऽप्रशस्ते वा भावे वर्त्तते श्रमण इति, भावश्चेह ज्येष्ठः, ततोऽनतिशयिनो वन्दन-करणाभाव एव प्राप्त इत्यतो विधिमभिधित्सुराह–व्यवहारतस्तु क्रियते वन्दनं 'यः पूर्वस्थितश्चारित्रे' यः प्रथमं प्रव्रजितः सन् अनुपलब्धातिचार इति ॥ आह–सम्यक्तद्भावापरिज्ञाने सति किमित्येवं क्रियते ?, उच्यते, व्यवहारप्रामाण्यात्, तस्यापि च बलवत्त्वात्, तथा चाह भाष्यकारः—

ववहारोऽवि हु बलवं जं छउमत्थंपि वंदई अरिहा । जा होइ अणाभिन्नो जाणंतो धम्मयं एयं ॥ १३७ ॥

व्यवहारोऽपि बलवान् यत्–यस्मात् छद्मस्थमपि पूर्वरत्नाधिकं गुर्वादिं अर्हन्नपि–केवल्यपि वन्दते, अपिशब्दः अत्रापि संबध्यते, किं सदा ?, नेत्याह–'जा होइ अणाभिन्नो' त्ति यावद् भवत्यनभिज्ञातः यथाऽयं केवलीति, किमिति वन्दते इत्या-ह–जानन् धर्म्मतामेतां, व्यवहारनयबलातिशयलक्षणामिति ॥ (भा०१२३ हा०)॥ आह–यद्येवं सुतरां वयःपर्यायहीनस्य तदधिकान् वन्दापयितुमयुक्तं आशातनाप्रसङ्गात्, उच्यते—

इत्थ उ जिणवयणाओ, सुत्तासायणबहुत्तदोसाओ । भासंतजिट्ठगस्स उ कायव्वं होइ किइकम्मं ॥ ७१७ ॥

अत्र तु–व्याख्याप्रस्तावे वन्दनाधिकारे जिनवचनात्–तीर्थकरोक्तत्वात्, तथा अवन्द्यमाने सूत्राशातनादोषबहुत्वात् भाषमाणज्येष्ठस्य, तुरेवकारार्थः, स चैवं योज्यः–प्रत्युच्चारणसमर्थस्यैव, किम्?–कर्त्तव्यं भवति, कृतिकर्म–वन्दनकमिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थः ॥ एवं तावत् ज्ञानोपसम्पद्विधिः उक्तः, दर्शनोपसंपद्विधिरप्यनेनैवोक्तो द्रष्टव्यः, तुल्ययोगक्षेमत्वात्, तथाहि–दर्शनप्रभावकशास्त्रपरिज्ञानार्थमेव दर्शनोपसम्पदिति ॥ सम्प्रति चारित्रोपसम्पद्विधिमभिधित्सुराह—

दुविहा य चरित्तम्मि वेयावच्चे तहेव खमणे य । निअगच्छा अन्नम्मि उ सीअणदोसाइणा होइ ॥ ७१८ ॥

द्विविधा चारित्रे–चारित्रविषय उपसम्पत्, तद्यथा–वैयावृत्त्यविषया क्षपणविधिविषया च, किमत्रोपसम्पदा कार्या ? स्वगच्छ एव तत् कस्मान्न क्रियते ?, उच्यते, निजगच्छादन्यस्मिन् गमनं सीदनदोषादिना भवति, आदिशब्दादन्यभावादिपरिग्रहः ॥

इत्तरिआइ विभासा वेयावच्चे तहेव खमणे अ । अविगिट्ठविगिट्ठम्मी गणिणा गच्छस्स पुच्छाए ॥ ७१९ ॥

इह चारित्रार्थमाचार्यस्य कश्चिद् वैयावृत्त्यकरत्वं प्रतिपद्यते, स च कालत इत्वरो यावत्कथिकश्च भवति, आचार्यस्यापि वैयावृत्त्यकरोऽस्ति वा न वा, तत्रायं विधिः–यदि नास्ति ततोऽसाविष्यत एव, अथास्ति स द्विविधः–इत्वरो वा स्याद्यावत्कथिको वा, आगन्तुकोऽप्येवं द्विभेद एव, तत्र यदि द्वावपि यावत्कथिकौ ततो यो लब्धिमान् स कार्यते, इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते, अथ द्वावपि लब्धियुक्तौ ततो वास्तव्य एव कार्यते, इतरस्तूपाध्यायादिभ्यो दीयते इति, अथ नेच्छति ततो वास्तव्य एव प्रीतिपुरस्सरं तेभ्यो दीयते, आगन्तुकस्तु कार्यते इति, अथ प्राक्तनोऽप्युपाध्यायादिभ्यो नेच्छति तत आगन्तुको विसर्ज्यत एव, अथ वास्तव्यो यावत्कथिक इतरस्त्वितर इत्यत्राप्येवमेव भेदाः यावदागन्तुको विसृज्यते, नानात्वं तु वास्तव्य उपाध्यायादिभ्योऽनिच्छन्नपि प्रीत्या विश्राम्यते, यदि सर्वथा नेच्छति ततो विसृज्यते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आगन्तुकः, अथ वास्तव्यः खल्वित्वरः आगन्तुकस्तु यावत्कथिकस्ततो वास्तव्योऽवधिकालं यावदुपाध्यायादिभ्यो दीयते, शेषं पूर्ववत्, अथ द्वावपीत्वरौ तत्राप्येक उपाध्यायादिभ्यो दीयते, अन्यस्तु कार्यते, शेषं पूर्ववत्, अन्यतमो वाऽवधिकालं यावत् म्रियते इत्येवं यथाविधि विभाषा कार्या, उपाध्यायादिभ्य इत्यत्रादिशब्दात् स्थविरग्लानशैक्षकादिपरिग्रहः। उक्ता वैयावृत्त्योपसम्पत्, सम्प्रति क्षपणोपसम्पत् प्रतिपाद्यते–'अविगिट्ठे'त्यादि, कश्चित् क्षपणार्थमुपसम्पद्यते, स क्षपको द्विविधः–इत्वरो यावत्कथिकश्च, यावत्कथिक उत्तरकाले अनशनकर्त्ता, इत्वरस्तु द्विधा–विकृष्टक्षपकः अविकृष्टक्षपकश्च, तत्राष्टमादिक्षपको विकृष्टक्षपकः, चतुर्थषष्ठक्षपकस्त्वविकृष्टक्षपकः, तत्रायं विधिः–अविकृष्टक्षपकः खल्वाचार्येण पृच्छ्यते–हे आयुष्मन्! पारणके त्वं कीदृशो भवसि?, यद्यसावाह–ग्लानोपमः, ततोऽसावभिधातव्यः–अलं तव क्षपणेन, स्वाध्याय-वैयावृत्त्यकरणे यत्नं कुरु, इतरोऽपि पृष्टः सन् एवमेव प्रज्ञाप्यते, अन्ये तु व्याचक्षते–विकृष्टक्षपकः पारणककाले ग्लानकल्पतामनुभवन्नपि इष्यत एव, यस्तु मासादिक्षपको यावत्कथिको वा स इष्यते एव, तत्राप्याचार्येण गच्छः प्रष्टव्यो, यथाऽयं क्षपक उपसम्पद्यते इति, अनापृच्छ्य गच्छं संयच्छतः सामाचारीविराधना, यतस्ते सन्दिष्टा अपि उपधिप्रत्युपेक्षणादि तस्य न कुर्वन्ति, अथ पृष्टा ब्रुवते–यथाऽस्माकमेकः क्षपकोऽस्त्येव, तस्य क्षपणपरिसमाप्तावस्य करिष्यामः, ततोऽसौ म्रियते, अथ नेच्छन्ति ततस्त्यज्यते, अथ गच्छस्तमप्यनुवर्त्तते, ततोऽसाविष्यत एव, तस्य च विधिना प्रतीच्छितस्य उद्वर्त्तनादि कार्यं, यदा पुनः प्रमादतोऽनाभोगतो वा न कुर्वन्ति शिष्यास्तदा आचार्येण चोदनीयाः, इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ सम्प्रति चारित्रोपसम्पद्विधिविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

उवसंपन्नो जं कारणं तु तं कारणं अपूरंतो । अहवा समाणिअम्मि सारणया वा विसग्गो वा ॥ ७२० ॥

यत्कारणं–यन्निमित्तमुपसम्पन्नः, तुशब्दादन्यत्सामाचार्यन्तर्गतं किमपि गृह्यते, तत्कारणं–वैयावृत्त्यादि अपूरयन्–अकुर्वन्, यदा वर्त्तते इत्यध्याहारः, तदा किमित्याह–'सारणया वा विसग्गो वा' इति तदा तस्य सारणा–चोदना क्रियते, अविनीतस्य पुनर्विसर्गो वा–परित्यागः क्रियते, तथा न अनापूरयन्नेव यदा वर्त्तते तदा सारणा वा विसर्गो वा, किन्तु 'अहवा समाणियम्मि' न्ति अथवा समाप्तिं नीते–परिसमाप्तिं नीतेऽभ्युपगतप्रयोजने स्मारणा वा क्रियते, यथा–परिसमाप्तं, तद्यदि ऊर्ध्वमपि इच्छति ततो भव्यं, अथ नेच्छति गच्छति तस्य वा न साम्मत्यं ततो विसर्गो वेति, उक्ता संयतोपसम्पत् । सम्प्रति गृहस्थोपसम्पदुच्यते, तत्रेयं साधूनां सामाचारी–सर्वत्रैवाध्वादिषु वृक्षाद्यधोऽप्यनुज्ञाप्य स्थातव्यं, यत आह—

इत्तिरिअंपि न कप्पइ अविदिन्नं खलु परुग्गहाईसु । चिट्ठित्तु निसीइत्तुं तइअवयरक्खणट्ठाए ॥ ७२१ ॥

इत्वरमपि–स्वल्पमपि, कालमिति गम्यते, न कल्पते अविदत्तं खलु परावग्रहादिषु, आदिशब्दः परावग्रहानेकभेदप्रख्यापकः, किं न कल्पते इत्याह–स्थातुं–कार्योत्सर्गं कर्त्तुं, निषेत्तुम्–उपवेष्टुं, किमित्यत आह–'तइयवयरक्खणट्ठाए' अदत्तादानविरत्याख्यतृतीयव्रतरक्षणार्थं, तस्मात् भिक्षाटनादावपि व्याघातसम्भवे क्वचित्स्थातुकामेनानुज्ञाप्य स्वामिनं विधिना स्थातव्यम्, अटव्यादिष्वपि विश्रमितुकामेन पूर्वस्थितमनुज्ञाप्य स्थातव्यं, तदभावे देवतां यस्याः सोऽवग्रह इति ॥ उक्ता दशविधा सामाचारी ॥ साम्प्रतमुपसंहरन्नाह—

एवं सामायारी कहिआ दसहा समासओ एसा । संजमतवड्ढगाणं निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ७२२ ॥

आ.सू. ६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

एवमेषा सामाचारी दशधा–दशविधा समासतः–सङ्क्षेपेण कथिता, केभ्य इत्याह–संयमतपोभ्यामाढ्याः–समृद्धाः संयमतपआढ्यास्तेभ्यो निर्ग्रन्थेभ्यो महर्षिभ्यः । सामाचार्यासेवकानां फलमुपदर्शयति—

एअं सामायारिं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचिअमणंतं ॥ ७२३ ॥

एताम्–अनन्तरोदितस्वरूपां दशधा सामाचारीं यथाविधि युञ्जानाः, तथा चरणकरणायुक्ताः–चरणं–व्रतादि, उक्तं च–"वय ५ समणधम्म १० संजम १७ वेयावच्चं १० च बंभगुत्तीतो ९ । नाणाइतियं ३ तव १२ कोहनिग्गहा ४ चेव चरणं तु ॥१॥" करणं पिण्डविशुद्ध्यादि, तदुक्तं–"पिंडविसोही ४ समिई ५ भावण ११ पडिमा १२ य इन्दियनिरोहो ५ । पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३ अभिग्गहा ४ चेव करणं तु॥१॥"तयोः चरणकरणयोरायुक्ताः–सम्यग् आ–समन्तात् उपयुक्ताः साधवः क्षपयन्ति कर्म्म अनेकभवसञ्चितमनन्तमिति ॥ इदानीं पदविभागसामाचार्याः प्रस्तावः, सा च कल्पव्यवहाररूपा बहुविस्तरा, ततः स्वस्थानादवसेया, इत्युक्तः सामाचार्युपक्रमकालः ॥ साम्प्रतं यथायुष्कोपक्रमकालः प्रतिपाद्यः, स च सप्तधा, तथा चाह—

अज्झवसाण निमित्ते आहारे वेअणा पराघाए । फासे आणापाणू सत्तविहं भिज्जए आउं ॥ ७२४ ॥

अध्यवसानं रागस्नेहभयभेदात् त्रिधा, तस्मिन्नध्यवसाने सति, तथा दण्डादिके निमित्ते सति, आहारे प्रचुरे सति, वेदनायां नयनादिसम्बन्धिन्यां सत्यां, तथा पराघातो गर्त्तपातादिसमुत्थस्तस्मिन् सति, स्पर्शे भुजङ्गमादिसम्बन्धिनि, 'आणापाणु' त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् प्राणापानयोर्निरोधे, किमित्यत आह–एवं सप्तविधं–सप्तप्रकारं भिद्यते आयुः, एष गाथासमुदायार्थः । अवयवार्थस्तूदाहरणेभ्योऽवसेयः, तानि चामूनि–रागाध्यवसायेऽपि भिद्यते आयुर्यथा–एगस्स गावीओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ अध्यवसानादि-निमित्त आयुष्य-उपक्रम वर्णयते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

हरियातो, ताहे कुढिया पच्छतो लग्गा, तेहिं नियत्तियाओ, तत्थ एगो तरुणो अतिसयदिव्वरूवधारी तिसिओ गामं पविट्ठो, तस्स तरुणीए नीणियमुदगं, सो पत्रीतो, सा तस्स अणुरत्ता, होक्कारंतस्सवि न ठाइ, सो उट्ठित्ता गतो, सावि तं पलोयंती तहेव उयत्तेइ, जाहे अदिस्सो जातो ताहे तहट्ठिया चेव रागसंमोहियमणा मया, एवं रागज्झवसाणे भिज्जइ आउंति। तथा स्नेहाध्यवसाये सति भिद्यते आयुर्यथा–एगस्स वाणियगस्स तरुणी महेला, ताणि परोप्परमतीवमणुरत्ताणि, ताहे सो वाणिज्जेण गतो, पडिनियत्तो, एगाए वसहीए नियट्ठाणं न पावइ, ताहे वयंसगा से भणंति–पेच्छामो किं सच्चं अणुरातो न वत्ति?, तओ एगेण गंतूण भणिया–सो मतोत्ति, तीए भणियं–किं सच्चं ?, सच्चं सच्चंति, ततो तिवारे पुच्छित्ता मया, इयरस्स कहियं, सो तहच्चेव मतो, एवं स्नेहाध्यवसाने सति भिद्यते आयुः।आह–रागस्नेहयोः कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, रूपाद्याक्षेपजनितः प्रीतिविशेषो रागः, सामान्यसत्त्वमत्यादिगोचरः स्नेहः । भयाध्यवसाने भिद्यते आयुर्यथा–सोमिलस्य, तेणं कालेणं तेणं समएणं बारमई नामं नगरी होत्था, पाईणपडिणायता उदीणदाहिणविच्छिन्ना नवजोयणपिहुला बारसजोयणायामा धणवतिमइनिम्मिया चामीकरपागारा नाणामणिपंचवण्णकविसीसगसोभिया पच्चक्खदेवलोगभूता, तीसे बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे रेवते नामं पव्वते, तस्स णं पव्वतस्स अदूरसामंते नंदणवणे नामं उज्जाणे, तस्स णं मज्झभागे सुरप्पिए नामं जक्खाययणे, तत्थ णं नयरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया, से णं समुद्दविजयपामोक्खाणं दसण्हं दसाराणं बलदेवपामोक्खाणं पंचण्हं महावीराणं सोलसण्हं राईसहस्साणं पज्जुन्नपामोक्खाणं अद्धट्ठाणं कुमारकोडीणं संबपामोक्खाणं सट्ठीए दुइंतसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एक्कवीसाए वीरसाहस्सीणं महासेणपामोक्खाणं छप्पन्नाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** 'सोमिल' (गजसुकुमालस्य श्वसूर) स्य कथानक

वलयगसाहस्सीणं रुप्पिणीपामोक्खाणं बत्तीसाए महिलासाहस्सीणं अणंगसेणापामोक्खाणं अणेगगणिगासाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं ईसरतलवरजावसत्थवाहप्पभिईणं वेयड्ढगिरिसागरपेरंतस्स दाहिणड्ढभरहस्स बारवतीए नगरीए आहेवच्चं० पालेमाणे विहरइ, तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहा अरिट्ठनेमी समोस्सरितो, भयवतो अरिट्ठनेमिस्स अन्तेवासी छब्भायरो अणगारा चोद्दसपुव्वी चउण्णाणोवगया एगंतस्सरिसगा नीलुप्पलप्पगासा सिरिवच्छंकियवच्छा बत्तीसलक्खणधरा पव्वज्जदिवसादारब्भ छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं विहरंति, ते पढमाए पोरिसीए सज्झाएत्ता बीतीयाए झाणं झाइत्ता तइयाए पोरिसीए तिहिं संघाडगेहिं बारवतीए अडंति, तत्थ एगे संघाडगे उच्चणीयमज्झिमाइं कुलाइं अडमाणे वसुदेवस्स देवईए घरमणुपविट्ठे, सा य तं पासित्ता हट्ठतुट्ठा भद्दासणातो उट्ठित्ता पाउया ओमुयइ, ओमुइत्ता अंजलिमउलियग्गहत्था सत्तट्ठपए गंतूण वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता सयं मोयगाईहिं पडिलाभेइ, ततो पुणो वंदइ, तयणंतरं दोच्चे संघाडए पविट्ठो, सोऽवि तहेव पडिलाभितो, एवं तच्चोवि, नवरं तच्चं संघाडं पडिलाभित्ता एवं वयासी–किण्णं भंते ! किण्हस्स वासुदेवस्स इमीसे बारवईए नयरीए देवलोगभूताए निग्गंथा अडमाणा भत्तं पाणं अलहंते जेणं ताइं चेव कुलाइं भत्तपाणाए भुज्जो२ अणुपविसंति ?, तत्थ णं देवजसे नामं अणगारे एवं वयासी–नो खलु देवाणुप्पिए ! एवं एयं, किंतु अम्हे छब्भायरो सरिसगा तिहिं संघाडगेहिं अडमाणा तुम्हं गेहमणुपविट्ठा, तं नो चेव णं ते अम्हे अण्णे अम्हेत्ति भणिऊण गया, तए णं तीसे इमे एयारूवे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था–एवं खलु अहं पोलासपुरे नगरे अइमुत्तेणं कुमारसमणेणं बालत्तणे वागरिया–तुम्हं अट्ठ पुत्ते पयाहिसि सरिसे नलकुबरसमाणे, नो चेव णं भारहे वासे केवइ कालातो अण्णा महिला एया-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

रिसी य होहिसि, तण्णं मिच्छा, इवं पच्चक्खमेव दीसइ अन्नाओवि एयातो, तं गच्छामि णं सामिं पुच्छामित्ति सामिअंतिकमुवगया, सामिणा तीसे अब्भत्थियं कहियं जाव एअमट्ठे !, हंता अत्थि, ततो सामी वागरइ, तेणं कालेणं तेणं समएणं भद्दिलपुरे नगरे नागस्स गाहावइस्स सुलसा भारिया नेमित्तिकेण निंदू वागरिया, तए णं सा बालप्पभिई चेव हरिणेगमेसिं देवं भत्तिबहुमाणेणं आराहिया, तुमंपि सावि सममेव दारए पसवह, ततो सो देवो तीए अणुकंपणट्ठाए तीसे मयगपुत्ते गेण्हित्ता तव अंतियं साहरइ, जेविय णं ते तव पुत्ता तेवि य तीए साहरइ, ते चेव णं ते पुत्ता, नो सुलसाए, ततो सामिं वंदति, वंदित्ता जत्थ अणगारा तत्थ उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वंदइ, आगतपण्हुया पप्फुल्ललोयणा ऊसवियरोमकूवा छप्पिय अणगारे निद्धाए दिट्ठिए सुचिरं निरिक्खइ, पुणो वंदति, ततो सामिं वंदित्ता सगिहमागया एवं चिंतेइ–अहं सत्त पुत्ते पयाता, नो चेव णं मए एगस्सवि बालत्तणं समणुभूतं, धण्णाओ णं ताओ अंबगाओ जाओ नियकुच्छिसंभूयाइं थणदुद्धलुद्धाइं मंमणजंपिराइं बालाइं कमलकोमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हिऊण उच्छंगे निवेसित्ता थणं पायंति, अहं अधण्णा एवं जाव चिंतेइ ताव कण्हो पायवंदगो समागतो तं झियायंतं पासइ,पायवडणं करेइ, करेत्ता एवं वयासी–अण्णया णं तुज्झे ममं पासित्ता हट्ठा आसि, अज्ज किंनु झियाह !, ताहे सा सवं परिकहेइ, ततो कण्हो भणइ–अम्मो ! मा झियाह, अहं णं तहा घत्तिस्सं जहा ममं सहोयरगे भवइ, ततो एवं समासासित्ता पोसहसालाए गंतूण अट्ठमं पगिण्हित्ता हरिणेगमेसिं देवं आराहेइ, सोऽवि अट्ठमभत्ते परिणममाणे पच्चक्खीभूय तव देवलोगचुए सहोयरगे भविस्सइत्ति वोत्तूण पडिगतो, कण्होवि बीयदिवसे तं सवं देवईए परिकहित्ता सभवणं गतो,अन्नया सा देवई गवं सुमिणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पासित्ता पडिबुद्धा, तए णं नवण्हं मासाणं अद्धट्ठमाण राईदियाणमतिक्कमे जासुयणरत्तबंधुजीवगसमप्पभं सव्वनयणकंतं सुकुमालगयतालुयसमाणं सुरूवं दारगं पयाया, ततो बारसमे दिवसे जम्हा णं इमे दारगे गयतालुयसमाणे सुमिणे य गतो दिट्ठो तं होउ एयस्स नामधेज्जं गयसुकुमालोत्ति, सो सव्वजायवप्पिओ सुहंसुहेणं परिवड्ढइ। तीसे य बारवईए सोमिलो नामं माहणो धणकणगसमिद्धो, तस्स सोमसिरि नाम माहणी, तीसे सोमा नामं दारिया, रूवेण जोव्वणेण लावण्णेण उक्किट्ठसरीरा, अन्नया कयाई विभूसिया बहूहिं दासचेडीहिं परिक्खित्ता सयातो गिहातो पडिनिक्खमित्ता रायमग्गंसि कणगतिंदूसगेण कीलमाणा चिट्ठति, तया य अरहा अरिट्ठनेमी समोसढे, परिसा निग्गया, कण्होऽवि इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे सभाए सुहम्माए कोमुइं भेरिं ताडावेत्ता सव्वड्ढीए गयसुकुमालेण सद्धिं विजयगंधहत्थिखंधवरगए बारमईए नगरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, तं सोमदारियं पासइ, पासित्ता कोडुंबितिए पुच्छति–कस्सेसा? किं नामेण?, ततो णं कोडुंबियपुरिसा साहंति–देव! सोमिलस्स माहणस्स दारिया सोमानामंति, ततो णं कण्हे ते कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे सोमिलं जाइत्ता सोमं कन्नं अंतेउरंसि पक्खिवह, एसा गयसुकुमालस्स पढमपत्ती भविस्सइ, ते तहा करेंति, जाव सा कण्णंतेउरे पक्खित्ता, कण्होऽवि सहसंबवणे सामिं पज्जुवासित्ता भवणमागतो, गयसुकुमालोऽवि सामिसगासे धम्मं सोच्चा पडिबुद्धो एवं वयासी–भयवं! अम्मापियरो आपुच्छित्ता पव्वइस्सामि, भगवया भणियं–अहासुहं मा पडिबंधं करेहत्ति, ततो सामिं वंदित्ता सगिहमागतो, तए णं से सुकुमाले अम्मापिऊणं पायवडणं करेत्ता एवं वयासी–अम्मताता! मए सामिस्स अंतिए धम्मो निसन्तो, स अभिरुइए, तो इच्छामि णं पव्वइउंति, ततो णं सा देवई तं अणिट्ठं फरुसं गिरं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

सोच्चा भणोमाणसिएणं दुक्खेण अभिभूया कुट्टिमतलंसि धसत्ति सव्वंगेहिं निवडिया, तए णं अंतेउरपरिजणेणं आसासिया समाणी दीणविमणा कलुणं रोयमाणी गयसुकुमालं एवं वयासी–तुमं सि णं जाया ! अम्हं एगे पुत्ते रयणभूते, तं नो खलु अम्हे इच्छामो तुब्भं खणमवि विओगं सहित्तए, तं अच्छाहि जाया !, भुंजाहि विउले माणुस्सए कामभोगे जाव वयं जियामो, ततो पच्छा अम्हेसु कालमएसु परिणयवए वड्ढियकुलवंसतंतुकज्जे निरवेक्खे पव्वहिसि, एवं गयसुकुमालमणेगप्पगारांहिं बहूहिं पण्णवणाहिं पण्णवेति, नो चेव णं संचाइए धरिउं, तए णं से कण्हे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव गयसुकुमालो तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता गयसुकुमालं आलिंगइ, आलिंगित्ता उच्छंगे निवेसेइ, ततो एवं वयासी–तुमं मम सहोयरे कणीयसे भाया तं मा इयाणिं पव्वयाहि, अहं णं तुमं बारवतीए नयरीए महया रायाभिसेणं अभिसिंचामि, तए णं से गयसुकुमाले एवं कण्हेण वुत्ते समाणे नो आढाइ नो परियाणाति, एवं दोच्चंपि तच्चंपि, ततो णं अम्मापियरो अकामगाइं चेव एवं भणंति–तं इच्छामो ते जाया ! एगदिवसमवि रज्जसिरिं पासित्ता, तए णं से गयसुकुमाले कण्हं अम्मापियरो य अणुयत्तमाणे तुसिणीए चिट्ठइ, तए णं से कण्हे कोडुंबियपुरिसे सद्दावित्ता महया विभूतीए रायाभिसेयं करेइ, बिइयदिवसे महाविभूईए निक्खमणमहिमं करेइ, तए णं से गयसुकुमाले सामिस्स पासे पवइए, तए णं से जं चेव दिवसं पवइए तस्सेव दिवसस्स अवरण्हकालसमए जेणेव अरहा अरिट्ठनेमिसामी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तिक्खुत्तो वंदइ २ एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए महाकालंसि सुसाणंसि एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया !, तए णं से हट्ठतुट्ठे सामिं वंदित्ता तंमि मसाणे थंडिलं पडिलेहित्ता ईसीपब्भारगएणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

काएण दोवि पाए साहट्टु एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । सोमिले य माहणे समीधयस्स अट्ठाए बारवतीए बहिया पुव्वनिग्गए आसि, तं गहेऊण पडिनियत्तमाणे संझाकालसमयंसि पविरलमणूसंसि गयसुकुमालं तहापडिमट्ठियं पासइ, पासित्ता आसुरुत्तो एवं चिंतेइ–एस भो गयसुकुमाले अपत्थियपत्थिए जेण मम धूयं सोमं बालं पडिपुन्नं अकयवेमणस्सं विप्पजहित्ता पव्वइए, तं सेयं खलु मम एयस्स वेरनिज्जायणं करेत्तए, एवं चिन्तित्ता दिसाओ अवलोइऊण सरसं मत्तियं गेण्हेइ, गेण्हित्ता तस्स मत्थए मट्टियापालिं बंधइ, जलंतियाओ य चियगाओ फुलकिंसुयसमाणे खादिरंगारे कवल्लेणं गिण्हित्ता तस्स मत्थए पक्खिवइ, ततो भीतो खिप्पामेव अवक्कमित्ता सगिहमागतो । तए णं तस्स गयसुकुमालस्स सरीरगंमि वेयणा दुरहियासा पादुब्भूया, तं सोमिलस्स उवरिं मणसावि अप्पदुस्समाणे सम्मं अहियासंतएणं तस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं चउण्हं घाइकम्माणं खएण अणंते केवलवरनाणदंसणे उप्पण्णे, ततो पच्छा सिद्धे, अहासंनिहिएहिं वाणमंतरेहिं दिव्वसुरभिगंधोदयवासे वुट्ठे दसद्धवन्ने य कुसुमप्पगरे निवातिते । बीयदिवसे कण्हे बारवईए मज्झंमज्झेण सामिं वंदतो निगच्छमाणो अंतरा जरापरिकलिबं जुन्नमेगं पुरिसं महइमहालियातो इट्टगरासीतो एगमेगं इट्टगं गहाय रत्थापहातो अंतो गिहंसि अणुपविसमाणं पासइ, ततो णं कण्हे तस्सऽणुकंपणट्ठाए हत्थिखंधवरगते चेव एगं इट्टगं गहाय गिहंसि अणुप्पवेसेइ, ततो अणेगेहिं पुरिससहस्सेहिं इट्टगरासी खिप्पामेव अणुप्पविसितो, ततो कण्हे समोसरणे गंतूण सामीं वंदइ, वंदित्ता अवसेसे अणगारे वंदइ, ततो गयसुकुमालं अपासिंतो सामिं वंदिऊण पुच्छइ–कहि णं भंते ! मम सहोयरए भाया जेण वंदामि ?, ततो सामी वागरी—कण्हा ! गयसुकुमालेणं अणगारेणं अप्पणो अट्ठे साहिए, कहं ?, सामी भणइ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कण्हा ! गयसुकुमाले ममं आपुच्छिऊण महाकाले सुसाणे पडिमं ठिते, तं एगे पुरिसे पासित्ताणं आसुरुत्ते सरसं मट्टियं गेण्हित्ता पालिं बंधइ, जाव सिद्धे, एवं खलु कण्हा ! गयसुकुमालेणं अप्पणो अट्ठे साहिए, ततो कण्हो भणइ–केस णं भंते ! से पुरिसे अपत्थियपत्थिए जेण मम सहोयरे अणगारे एवं कए?, सामी आह–मा णं कण्हा ! तस्स पदोसमावज्जाहि, एवं खलु कण्हा ! तेणं तस्स साहिज्जे पदिन्ने, कहं णं भंते ?, सामी आह–कण्हा ! तुम मम वंदए आगच्छमाणे अंतरा जरापरिकलितं चेव जाव सज्जोवि इट्टगरासी खिप्पामेव गिहंमि अणुपवेसितो, जहा णं तुमं तस्स साहिज्जं दिन्नं एवामेव गयसुकुमालस्सवि अणेगभवसहस्ससंचियं कम्मं उदीरमाणेणं बहुकम्मनिज्जराए साहेज्जं दिण्णं, से णं भंते! पुरिसे मए कहं जाणियवे ?, सामी भणइ–तस्स णं कण्हा ! तुमं नगरिं अणुपविसमाणं पासित्ता भएण सीसं फुट्टीहिइ तं जाणिज्जासि एस सोत्ति, सो य तहाकालं काऊण अप्पइट्ठाणे नरए उववज्जिहित्ति, तए णं से कण्हे सामिं वंदित्ता जेणेव सए गेहे तेणेव पहारित्था गमणयाए, सोमिलोवि य णं पभाए चिंतेइ–एवं खलु कण्हे अरहतो वंदगे निग्गए, तं नियमतो अरिहया सिट्ठमेयं भविस्सइत्ति भीते सयातो गिहातो पडिनिक्खमति २ बारवतीए इतो ततो पधावमाणे कण्हस्स पुरतो पडिदिसिं हवमागते, तए णं तस्स भयसंतसंतस्स सीसं तडत्ति सयसिक्करं फुट्टं, ततेणं कण्हे तं तहाकालगयं पासिऊण आसुरुत्ते कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी–एएणं भो अप्पत्थियपत्थिएण मम सहोयरे अणगारे अकाले चेव जीवियातो ववरोविए, तं बारवतीए एयं घोसित्ता पाणेहिं एयं अंछविअंछियं कारवेत्ता तं ठाणं पाणिएणं अक्खावेह, ते तहेव करेंति, ततो कण्हे तस्स सबस्सहरणं करेइ, पुत्तदारे य निबिसए करेति, समुद्दविजयाईणं अंतिए गंतूण सबं परिकहेइत्ति, तए णं तं दसारकुलं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

आऊलीभूतं महया महया सद्देणं पारुण्णं, कालंतरेण अप्पसोगं जायं, एवं भयाध्यवसाने सति भिद्यते आयुः, यदुक्तम्–'निमित्ते सति भिद्यते आयु' रिति तत्र निमित्तमनेकप्रकारं तद्दर्शयति—

दंडकससत्थरज्जू अग्गी उदगपडणं विसं वाला । सीउण्हं अरइ भयं खुहा पिवासा य वाही अ ॥ ७२५ ॥
मुत्तपुरीसनिरोहे जिण्णाजिण्णं च भोअणं बहुसो । घंसणघोलणपीलण आउस्स उवक्कमा एए ॥ ७२६ ॥

दण्डकशशस्त्ररज्जवः अग्निरुदकपतनं विषं व्यालाः शीतोष्णं अरतिभयं क्षुत्पिपासा च व्याधिश्च मूत्रपुरीषनिरोधः जीर्णाजीर्णे च भोजने बहुशः घर्षणघोलनपीडनानि आयुष उपक्रमहेतुत्वात् उपक्रमा एते, कारणे कार्योपचारात्, यथा तन्दुलान् वर्षति पर्जन्य इति। कथं दण्डादय उपक्रमहेतव इति चेत्, दण्डेन (कशेन च) गाढमभिघाते, शस्त्रेण–खड्गादिना, रज्जवा गलादौ बन्धे, अग्निना परिदाहे, उदके सर्वस्रोतसामन्तःपूरणेन, विषे भक्षिते, व्यालाः–सर्प्पाः तैर्दशने, शीतेनोष्णेन च संस्पर्शतः, अरत्या भयेन चान्तर्मनसि पीडासमुत्पत्तौ, क्षुधा धातुभक्षणेन, पिपासया हृदयगलतालुशोषेण, मूत्रपुरीषनिरोधे शरीरक्षोभतः, जीर्णाजीर्णे नाम अर्द्धजीर्णे तस्मिन् सति अनेकशो भोजने रसोपचयतः, घर्षणं चन्दनस्येव घोलनं अङ्गुष्ठ-काङ्गुलिगृहीतचाल्यमानयूकाया इव तस्मिन्, पीडनमिक्ष्वादेरिव तस्मिन्नपि सति, भिद्यते आयुरित्येते सर्वेऽप्युपक्रमहेतवः ॥ द्वारं ॥ तथा आहारे सत्यसति वा भिद्यते आयुर्यथा–एगो मरुगो अट्ठारस वारे भुंजिऊण सूलेण मतो, अन्नो पुण छुहाए मतोत्ति ॥ द्वारं ॥ वेदनायां सत्यां भिद्यते आयुर्यथा शिरोनयनवेदनादिभिरनेके मृताः ॥ द्वारम् ॥ तथा परोपघाते सति भिद्यते आयुर्यथा दुस्तटीतः पतितस्य । तथा स्पर्शे सति भिद्यते आयुर्यथा तयाविसेणं सप्पेणं छित्तस्स, जहा वा वंभदत्तस्स इत्थि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रयणं, तम्मि मए से पुत्तेण भणियं–मए सद्धिं भोगे भुंजाहि, तीए भणियं–न तरसि मज्झं फरिसं विसहित्तए,सो न पत्तियइ, ताहे आसो आणावितो, सो तीए मुहातो आरब्भ कडिं जाव हत्थेणं छिन्नो, सो गलिऊण सुक्कखएण मतो, तहावि अप्पत्तियंतो लोहमओ पुरिसो तीए अवगुंडितो, सोऽवि विलीनो ॥ द्वारं ॥ प्राणापाननिरोधे सत्यायुर्भिद्यते, यथा छगलाणं जन्नवाडाइसु मारिज्जंताणं॥ एवं सप्तविधं भिद्यते आयुः, न चैतत्सर्वेषामेव, किन्तु सोपक्रमायुषां, तत्र 'देवा नेरइया वा असंखवासाउया य तिरिमणुया। उत्तिमपुरिसा य तहा चरमसरीरा य निरुवकमा ॥ १ ॥ सेसा संसारत्था भइया सोवक्कमा व इयरे वा। सोवक्कमनिरुवक्कमभेयो भणितो समासेण॥ २॥' आह–अध्यवसायादीनां निमित्तत्वात् परिभोगाद्भेदेनोपन्यासो न युक्तः, न, आन्तरविचित्रोपाधिभेदेन निमित्तभेदानामेवोपन्यासतोऽदोषः, आह–यद्येवमुपक्रम्यते आयुः ततः कृतनाशः, येन च कर्म्मणा तदुपक्रम्यते तस्याकृतस्यैवाभ्यागम इति, अत्रोच्यते–इह यथा वर्षशतोपभोगाय कल्पितं धान्यं भस्मकव्याधिपीडितस्याल्पेन कालेनापि भुञ्जानस्य न कृतनाशो नाप्यकृताभ्यागमस्तद्वदत्रापीति। तथा चाह भाष्यकारः– "कम्मोवक्कमिज्जइ अपत्तकालंपि जइ ततो पत्ता। अकयागमकयनासा मोक्खाणासासया दोसा॥१॥(वि.२०४७) न य दीहकालियस्सवि नासो तस्साणुभूइतो खिप्पं। बहुकालाहारस्स व दुयमग्गियरोगिणो भोगा ॥२॥(२०४८) सवं च पदेसतया भुज्जइ कम्ममणुभावतो भइयं। तेणावस्साणुभवे के कयनासादयो तस्स? ॥ ३ ॥ (२०४९) किंचिदकालेऽवि फलं पाइज्जइ पचए य कालेण। तह कम्मं पाइज्जइ कालेण य पचए अन्नं ॥ ४ ॥ (२०५०) जह वा दीहा रज्जू डज्झइ कालेण पुंजिया खिप्पं। विततो पडओ सुस्सइ पिंडीभूतो उ कालेणं॥५॥(२०६१)इत्यादि,"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततो यथोक्तदोषानुपपत्तिः । इति द्वारगाथावयवार्थः, व्याख्यात उपक्रमकालः, सम्प्रति देशकालद्वारमभिधातव्यं, तत्र देशकालो नाम प्रस्तावः, स च द्विधा–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, तत्र प्रशस्तस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

निद्धूमगं च गामं महिलाथूभं च सुन्नयं दट्ठुं । नीअं च कागा ओलिंति जाया भिक्खस्स हरहरा ॥ ७२७ ॥

ओदनादिपाकपरिसमाप्तौ निर्द्धूमं ग्रामं महिलास्तूपञ्च, कूपतटमित्यर्थः, महिलाभिः शून्यं दृष्ट्वा, तथा नीचैश्च काका ओलेंति–अवलोयन्ते–गृहाणि प्रति परिपतन्ति, एतच्च दृष्ट्वा, पाठान्तरं नीयं च कागे ओलेंते दृष्ट्वेत्यनुवर्त्तते, विद्यते यथा भैक्षस्य हरहरा–अतीव भिक्षाप्रस्ताव इत्यर्थः । अप्रशस्तदेशकालस्वरूपमभिधित्सुराह—

निम्मच्छिअं मद्दु पायडो निही खज्जगावणो सुन्नो । जायंगणे पसुत्ता पउत्थवइआ य मत्ता य ॥ ७२८ ॥

निर्मक्षिकम्–अपगतमक्षिकं मधु तथा प्रकटः–आकाशीभूतो निधिः खाद्यकापणः–कल्लूरिकापण इति भावार्थः, अतो मध्वादीनां ग्रहणप्रस्तावः, तथा जाया चाङ्गणे प्रसुप्ता प्रोषितपतिका च मत्ता च, तस्या अपि ग्रहणं प्रति प्रस्ताव एव, आसवेन मदनाकुलीभूतत्वात् । सम्प्रति कालकालः प्रतिपाद्यः, कालो–मरणं तस्य कालः कालकालः, तथा चाह–"कालोत्ति मयं मरणं जहेह मरणं गतोत्ति कालगतो । तम्हा स कालकालो जो जस्स मओ मरणकालो ॥ १ ॥ (वि. २०६६)" अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह—

कालेण कओ कालो अम्हं सज्झायदेसकालम्मि । तो तेण हतो कालो अकालि कालं करंतेण ॥ ७२९ ॥

कालेन शुना कृतः कालः–कृतं मरणं अस्माकं स्वाध्यायदेशकाले–स्वाध्यायप्रस्तावे, ततस्तेन शुना हतो–भग्नः कालः–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

स्वाध्यायकरणकालः, अकाले–अप्रस्तावे मरणं कुर्वतेति, तदनेन कालशब्दस्य मरणवाचित्वमुपदर्शितं ॥ सम्प्रति प्रमाण-कालः प्रतिपाद्यः, तत्राद्धाकालविशेष एव मनुष्यलोकान्तर्वर्त्ती विशिष्टव्यवहारहेतुरहर्निशारूपः प्रमाणकालः, तथा चाह भाष्यकृत्–"अद्धाकालविसेसो पत्थयमाणं व माणुसे खेत्ते । सो संववहारत्थं पमाणकालो अहोरत्तं ॥१॥ (२०६८)" अत्र 'पत्थयमाणं व'त्ति यथा सामान्येन मानावयवभूतं प्रस्थकरूपं मानं संव्यवहाराय कल्प्यते तथाऽहर्निशारूपः प्रमाणका-लोऽद्धाकालस्यैव विशेषः सन् पृथक् संव्यवहाराय प्ररूप्यते इति । अमुमेव प्रमाणकालं भेदत आह–

दुविहो पमाणकालो दिवसपमाणं च होइ राई अ । चउपोरिसिओ दिवसो राई चउपोरिसी चेव ॥ ७३० ॥

प्रमीयतेऽनेन जीवादीनामायुःप्रभृतिरिति प्रमाणं तदेव कालः प्रमाणकालः,स द्विविधः, दिवसप्रमाणं भवति रात्रिश्च–दिव-सप्रमाणकालो रात्रिश्च, चतुष्पौरुषीको दिवसो रात्रिश्च चतुष्पौरुषी, पौरुषीप्रमाणं चानियतं, दिवसनिशाहानिवृद्धिभावात्, तत्र यदा सर्वजघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसस्तदा सर्वोत्कृष्टाऽष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तदा च दिवसस्य पौरुषी मुहूर्त्तत्रयमाना रात्रेश्च अर्द्धपञ्चममुहूर्त्तप्रमिता, यदा तु सर्वोत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसस्तदा सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः, तदा च पौरुषी दिवसस्यार्द्धपञ्चममुहूर्त्तमाना रात्रेश्च मुहूर्त्तत्रयमाना, एवं दिवसस्य रात्रेर्वा पौरुष्यस्त्रयो मुहूर्त्ता जघन्यं मानं अर्द्धपञ्चमा उत्कृष्टं, उक्तं च–"पोरिसिमाणमनिययं दिवसनिसावुद्धिहाणिभावातो । हीणं तिन्नि मुहुत्तस्सद्धपञ्चमा माण-मुक्कोसं ॥ १ ॥ (वि.२०७०)" सर्वजघन्यश्च दिवसः सर्वोत्कृष्टा च रात्रिर्दक्षिणायनचरमदिवसे, सर्वोत्कृष्टो दिवसः सर्वज-घन्या च रात्रिरुत्तरायने, प्रथमदिवसादारभ्य प्रतिचरमवासरशेषेषु तु दिवसेषु दक्षिणायने प्रथमदिवसादारभ्य प्रतिदिवसं

आ.सू. ६१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र 'प्रमाण-काल'स्य वर्णनं क्रियते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

दिवसपौरुष्या द्वाविंशशततमेन मुहूर्त्तभागेन वृद्धिः, रात्रिपौरुष्या हानिः, कथमेतदवसेयमिति चेत्, उच्यते, इह दिवसपौरुष्या रात्रिपौरुष्या वृद्धौ हानौ वा सकलेनायनेन सार्द्धौ मुहूर्त्तौ दृष्टः, अयनपरिमाणं च त्र्यशीत्यधिकं दिनशतं, ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावतारः–यदि त्र्यशीत्यधिकेन दिनशतेन पौरुष्या वृद्धौ हानौ सार्द्धौ मुहूर्त्तौ लब्धः ततः प्रतिदिवसं किं लभामहे?, राशित्रयस्थापना १८३–१॥–१, अत्रान्त्येन राशिना त्र्यशीत्यधिकेन दिनशतेन पौरुष्या वृद्धौ मध्यराशे-र्गुणनं, जातस्तावानेव, 'एकेन गुणितं तदेव भवती'ति न्यायात्, तत आद्येन राशिना भागहरणं, भागहारश्च न पूर्यते, ततस्तृतीयांशेन छेद्यच्छेदकराश्योरपवर्त्तना, जात उपरि एककोऽधस्तात् द्वाविंशं शतं १२२, आगतमेकैकस्मिन् दिने पौरुष्या वृद्धौ हानौ वा मुहूर्त्तस्य द्वाविंशशततमो भागो लभ्यत इति, उक्तं च–"वुड्ढी वावीसुत्तरसयभागो पइदिणं मुहुत्तस्स। एवं हाणीवि मया अयणस्स विभागतो नेया ॥१॥ (वि.२०७१)"। इदानीं वर्णकालस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

पंचण्हं वण्णाणं जो खलु वन्नेण कालओ वण्णो। सो होइ वण्णकालो वण्णिज्जइ जो व जंकालं ॥ ७३१ ॥

पञ्चानां शुक्लादीनां वर्णानां यः खलु वर्णेन–छायया कालको वर्णः खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् कालक एव वर्णः, अनेन गौरादेर्नीलकृष्णस्य व्यवच्छेदः, स भवति वर्णकालः, वर्णश्चासौ कालश्च वर्णकालः, 'वण्णिज्जइ जो व जंकाल'मिति, वर्णनं वर्णः प्ररूपणमित्यर्थः, ततश्च वर्ण्यते–प्ररूप्यते यो वा कश्चित्पदार्थो यत्कालं स वर्णकालः, वर्णप्रधानः कालो वर्ण-कालः। इदानीं भावकालः प्रतिपाद्यः, भावानामौदयिकादीनां स्थितिः भावकालः, तथा चाह—

साई सपज्जवसिओ चउभंगविभागभावणा इत्थं। उदईआईआणं तं जाणसु.भावकालं तु ॥ ७३२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सादिः सपर्यवसान इत्येवं चतुर्भङ्गविभङ्गभावनाऽत्र कार्या, केषामित्याह–औदयिकादीनां भावानां, ततश्च योऽसौ विभागभावनाविषयस्तं जानीहि भावकालम्, इयमक्षरगमनिका, भावार्थस्त्वयं–औदयिको भावः सादिः सपर्यवसानः सादिरपर्यवसानः अनादिः सपर्यवसानः अनादिरपर्यवसानः, एवमौपशमिकादिष्वपि चतुर्भङ्गिका द्रष्टव्या, इयं पुनरत्र विभागभावना–औदयिकचतुर्भङ्गिकायां द्वितीयो भङ्गो न घटते, शेषास्तु घटन्ते, तेषामयं विषयः–नारकादीनां नारकादिभवः स्वल्वौदयिको भावः सादिसपर्यवसानः, मिथ्यात्वादयो भव्यानामौदयिकोऽनादिसपर्यवसानः, स एवाभव्यानां चरमभङ्गे इत्युक्त औदयिकः, औपशमिकचतुर्भङ्गिकायामाद्य एव भङ्गो घटते, तद्व्यादयस्तु शून्याः, प्रथमभङ्गस्त्वेवम्–औपशमिकसम्यक्त्वादिरौपशमिको भावः सादिः सपर्यवसान इत्युक्त औपशमिकः, क्षायिकचतुर्भङ्गिकायां तु तृतीयचतुर्थौ भङ्गौ न घटेते, प्रथमद्वितीयौ तु घटेते, तथाहि–क्षायिकं चारित्रं दानादिलब्धिपञ्चकं च क्षायिको भावः सादिः सपर्यवसानः, सिद्धस्य चारित्र्यचारित्र्यादिविकल्पातीतत्वात्, क्षायिकज्ञानदर्शने तु सादिअपर्यवसानः, अन्ये तु द्वितीयभङ्ग एव सर्वमिदं प्रतिपादयन्ति, उक्तः क्षायिकः, क्षायोपशमिकचतुर्भङ्गिकायां द्वितीयभङ्गाभावः, शेषभङ्गानामयं विषयः–चत्वारि ज्ञानानि क्षायोपशमिको भावः सादिः सपर्यवसानः, मत्यज्ञानश्रुताज्ञाने भव्यानामनादिः सपर्यवसानः, एते एवाभव्यानामनादिरपर्यवसानः, उक्तः क्षायोपशमिकः, पारणामिकचतुर्भङ्गिकायामपि द्वितीयभङ्गाभावः, शेषभङ्गकानामयं गोचरः–द्व्यणुकादिपारिणामिको भावः सादिसपर्यवसानः, भव्यत्वं भव्यानामनादिसपर्यवसानः, जीवत्वं पुनरनादिरपर्यवसानः, उक्तः पारिणामिकः, उक्तार्थसङ्ग्रहगाथा–जो नारगाइ भावो तह मिच्छत्तादओऽवि भवाणं। ते चेवाभवाणं ओदइए बिइयवज्जोऽयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ १ ॥ सम्मत्तचरित्ताइं साईसंतो य ओवसमिओ य । दाणाइलद्धिपणगं चरणं चिय खाइओ भावो ॥ २॥ सम्मत्तनाणदंसणसिद्धत्ताइं तु साइओऽणंतो । नाणं केवलवज्जं साईसंतो खओवसमो ॥३॥ मइअन्नाणाईया भवाभवाण तइयचरमोऽयं । सवो पोग्गलधम्मो पढमो परिणामिओ होइ ॥ ४ ॥ भवत्तं पुण तइओ जीवाभवाइ चरमभंगो उ । भावाणमयं कालो (वि.२०७७–८१) इति ॥

एत्थं पुण अहिगारो पमाणकालेण होइ नायवो । खेत्तम्मि कंमि कालम्मि भासियं जिणवरिंदेण ? ॥ ७३३ ॥

अत्र पुनः–अनेकविधकालप्ररूपणायामधिकारः–प्रयोजनं प्रमाणकालेन भवति ज्ञातव्यः, आह–'दवे अद्ध अहाउय' इत्यादिद्वारगाथायामिदमुक्तम् 'पगयं तु भावेणं'ति, सम्प्रति पुनरेवमुक्तम्–'अत्र पुनरधिकारः प्रमाणकालेन भवति ज्ञातव्य इत्युक्तं', ततः कथं न पूर्वापरविरोधः ?, उच्यते, क्षायिकभावकाले वर्त्तमानेन भगवता सामायिकमध्ययनं भाषितमिति चेतसि परिभाव्य प्रागिदमुक्तं–'पगयं तु भावेण'मिति, तथा पूर्वाह्णकाललक्षणे प्रमाणकाले च भगवता भाषितं सामायिकमिति तद्विवक्षायामत्रोक्तं प्रमाणकालेनाधिकार इति, तत उभयसङ्ग्रहपरं पूर्वमिदं च वाक्यमित्यदोषः अथवा प्रमाणकालोऽप्यद्धाकालपर्यायत्वात् भावकाल एवेत्यविरोधः ॥ तदेवं 'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे' इत्युपोद्घातनिर्युक्तिप्रतिबद्धद्वारगाथाद्वयस्य व्याख्यातं कालद्वारम्, अधुना यत्र क्षेत्रे भाषितं सामायिकं तदजानन् प्रमाणकालस्य चानेकरूपत्वात्तद्विशेषमजानानो गाथापश्चार्द्धमाह चोदकः–'खेत्तम्मि' इत्यादि, कस्मिन् वा काले प्रमाणकाले पूर्वाह्णे पराह्णे वा । एवं चोदकप्रश्नानन्तरमुत्तरमाह–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वइसाहसुद्धइक्कारसीइ पुव्वण्हदेसकालम्मि । महसेणवणुज्जाणे अणंतर परंपरं सेसं ॥ ७३४ ॥

वैशाखे मासि शुद्धे–शुक्लपक्षे एकादश्यां पूर्वाह्नदेशकाले, प्रथमपौरुष्यामित्यर्थः, कालस्यान्तरङ्गत्वख्यापनार्थमेवं प्रश्नव्यत्ययेन निर्देशः, महासेनवनोद्याने क्षेत्रेऽनन्तरनिर्गमः सामायिकस्य, 'परंपरं सेसं'ति शेषं–गुणशिलकाद्युद्यानादि क्षेत्रजातमधिकृत्य परम्परं निर्गमनं सामायिकस्य, उक्तं च भाष्यकृता—"खेत्ते महसेणवणोवलक्खियं जत्थ निग्गयं पुव्वं । सामाइयमन्नेसु उ परंपरविणिग्गमो तस्स ॥ १ ॥" गतं मूलद्वारगाथाद्वयप्रतिबद्धं क्षेत्रद्वारम्, इह च क्षेत्रकालपुरुषद्वाराणां निर्गमाङ्गतैव प्राक्, ततश्च निर्गमद्वारव्याचिख्यासया "नामं ठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य । एसो उ निग्गमस्सा निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ १ ॥" त्ति येयं गाथोपन्यस्ता तस्यां क्षेत्रकालनिर्गमावुक्तौ, अथ भावनिर्गमप्रतिपादनार्थमाह—

खइयम्मि वट्टमाणस्स निग्गयं भगवओ जिणिंदस्स । भावे खओवसमिअम्मि वट्टमाणेहिं तं गहिअं ॥ १३५ ॥

क्षायिके भावे वर्त्तमानस्य भगवतो जिनेन्द्रस्य–श्रीमन्महावीरस्य सकाशाद् विनिर्गतं सामायिकं, भावशब्द उभयत्रापि सम्बध्यते, भावे क्षायोपशमिके वर्त्तमानैस्तत्सामयिकमन्यच्च श्रुतं गृहीतं, गणधरादिभिरिति गम्यते, तत्र भगवता गौतमस्वामिना निषद्यात्रयेण चतुर्दश पूर्वाणि गृहीतानि, प्रणिपत्य पृच्छा निषद्योच्यते, भगवान् वर्द्धमानस्वाम्युक्तवान्–'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' उत्पन्न इति–उत्पत्तिस्वभावः विगम इति–विनाशधर्मा इति भावः, ध्रुव इति–स्थितिधर्म्मा, एता एव तिस्रो गणभृतां निषद्याः, तथाहि–एतासामेव सकाशात् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति गणभृतां प्रतीतिरुपजायते, अन्यथा सत्ताया अनुपपत्तेरिति, ततस्ते पूर्वभवभावितमतयो द्वादशाङ्गमुपरचयन्ति, ततो भयवं अणुण्णं मणसी करेंति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ १३५ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७३५ ॥ एव वर्तते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

ताहे सक्को दिवं वइरामयं थालं दिव्वचुण्णाणं भरेऊण सामिमुवागच्छइ, ताहे सामी सीहासणातो उट्ठित्ता पडिपुन्नं मुट्ठिं केसराणं गेण्हइ, ताहे गोयमसामिप्पमुहा एक्कारसवि गणहरा ईसिओणया परिवाडीए ठायंति, ताहे देवा आतोज्जगीय-सद्दं निरुंभंति, ताहे सामी पुव्वं गोयमसामिस्स तित्थं दव्वेहिं गुणेहिं पज्जवेहि य अणुजाणामित्ति भणइ, चुण्णाणि य सीसे छुइह, ततो देवावि चुण्णवासं पुप्फवासं उवरि वासंति, गणं च सुहम्मसामिस्स धुरे ठावित्ता अणुजाणइ, एवं सामाइयस्स अत्थो भयवतो निग्गतो, सुत्तं गणहरेहिंतो निग्गयमित्यलं विस्तरेण ॥ सम्प्रति पुरुषद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

दव्वाऽभिलावचिंधे वेए धम्मत्थभोग भावे अ । भावपुरिसो उ जीवो भावे पगयं तु भावेणं ॥ १३६ ॥

इह नामस्थापनापुरुषौ सुप्रतीतत्वान्नोक्तौ, 'दव्वत्ति' द्रव्यपुरुषः, स द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतः पुरुष-पदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तः, 'अनुपयोगो द्रव्य'मिति वचनात्, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरपुरुषौ सुप्रतीतौ, ज्ञशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्तस्त्रिधा, तद्यथा–एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च, तत्र एकेन भवेन पुरुषो भावी स एकभविकः, एष पूर्वस्मिन् भवे अवद्धपुरुषायुरपि प्रथमदिवसादारभ्य प्रोच्यते, बद्धायुष्को नाम पूर्वभव एव वर्त्तमानो निबद्धपुरुषायुष्कः-अभिमुखनामगोत्रोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रव्यवधानेनोदयमधिकृत्य पुरुषायुर्नामगोत्रः, अथवा ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्य-पुरुषो द्विधा–मूलगुणनिर्मित उत्तरगुणनिर्मितश्च, तत्र मूलगुणनिर्मितः पुरुषप्रायोग्याणि द्रव्याणि, उत्तरगुणनिर्मितस्तु तान्येव तदाकारवन्तीति, तथाऽभिलप्यते तेनेत्यभिलापः–शब्दस्तत्राभिलापपुरुषः पुँल्लिङ्गाभिधानमात्रं घटः पट इति, चिन्हे–चिन्हविषयः पुरुषः–अपुरुषोऽपि पुरुषचिन्होपलक्षितो, यथा नपुंसकं श्मश्रुचिन्हमित्यादि, तथा त्रिष्वपि लिङ्गेषु स्त्रीपुंनपुं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ १३६ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७३६ ॥ एव वर्तते

सकेषु वर्त्तमानः प्राणी तृणज्वालोपमवेदानुभवकाले वेदपुरुषः स्त्र्यादिरप्युच्यते, तथा धर्मार्जनव्यापारपरः साधुर्धर्मपुरुषः, अर्थार्जनव्यापारपरस्त्वर्थपुरुषः मम्मणवणिग्वत्, भोगपुरुषः सम्प्राप्तसमस्तविषयसुखभोगोपभोगसमर्थश्चक्रवर्तिवत्, 'भावे य'त्ति भावपुरुषः, चशब्दो वामाद्यनुक्तभेदसमुच्चयार्थः, 'भावपुरिसो उ जीवो भावे'त्ति पूः–शरीरं पुरि शेते इति निरुक्तवशात् भावपुरुषो जीवः, 'भावे'त्ति भावद्वारे निरूप्यमाणे, भावचिन्तायामिति भावः, अथवा भावे इति भाव-निर्गमप्ररूपणायामधिकृतायां, किं ?–'पगयं तु भावेणं'ति प्रकृतम्–उपयोगस्तु भावेन पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात भावपुरुषेण शुद्धेन जीवेन, तीर्थकरेणेत्यर्थः, तुशब्दाद्वेदपुरुषेण च गणधरेण, यतोऽर्थतस्तीर्थकराद्विनिर्गतं सूत्रतो गणधरेभ्य इति, एवमन्येऽपि यथासम्भवं पुरुषा आयोज्याः ॥ गतं पुरुषद्वारम् । साम्प्रतं कारणद्वारं व्याचिख्यासुराह—

निक्खेवु कारणम्मी चउविहो दुविह होइ दव्वम्मि । तद्दवमन्नदव्वे अहवावि निमित्तनेमित्ती ॥ ७३७ ॥

करोति–निर्वर्त्तयति कार्यमिति कारणं तस्मिन् कारणे–कारणविषयो निक्षेपो–न्यासः चतुर्विधः–चतुर्भेदः, तद्यथा–नाम-कारणं स्थापनाकारणं द्रव्यकारणं भावकारणं च, तत्र नामस्थापने सुज्ञाने, द्रव्यकारणं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्विधा, तथा च द्विविधो भवति द्रव्ये, निक्षेप इति वर्त्तते, किमुक्तं भवति ?–ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यकारणविषयो निक्षेपो द्विधेति, तदेव द्वैविध्यं दर्शयति–'तद्दवमन्नदवे' इति तद्द्रव्यकारणमन्यद्द्रव्यकारणं च, तस्यैव पटादेः द्रव्यं–तन्त्वादि तदेव कारणं तद्द्रव्यकारणं, वेमाद्यन्यद्द्रव्यकारणं, अथवा अन्यथा व्यतिरिक्तकारणद्वैविध्यं–'निमित्तनैमित्तं' निमित्तकारणं नैमित्ति-कारणं चेत्यर्थः, अपिशब्दादन्यथापि कारणनानाता तां वक्ष्यामि, तत्र पटस्य निमित्तं तन्तवस्त एव कारणं निमित्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारणं, तद्व्यतिरेकेण पटानुत्पत्तेः, यथा तन्तुभिर्विना न भवति पटस्तथा तद्गतातानादिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवति, तस्याश्च चेष्टाया वेमादि कारणं, ततो निमित्तस्येदं नैमित्तं तदेव कारणं नैमित्तकारणमिति ।

समवाइअसमवाई छविह कत्ता य करण कम्मं च । तत्तो अ संपयाणाऽपयाण तह सन्निहाणे अ ॥ ७३८ ॥

सम्–एकीभावेऽवशब्दः–अपृथक्त्वे अय् गतौ इण् गतौ वा, ततश्च एकीभावेनापृथग्गमनं समवायः–संश्लेषः, स येषां विद्यते ते समवायिनः–तन्तवो, यस्मात्तेषु पटः समवैतीति, समवायिनश्च ते कारणं च समवायिकारणं, तन्तुसंयोगास्तु कारणरूपद्रव्यान्तरधर्म्मत्वेन पटाख्यकार्यद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः त एव कारणं असमवायिकारणं, आह–तद्व्यादिप्रकारत्रयेऽपि यथोक्तप्रकारेणार्थस्याभेद एव ततः किं भेदेनोपन्यासः ?, नैष दोषः, संज्ञाभेदेन तन्त्रान्तराभ्युपगमप्रदर्शनफलत्वादस्य, अथवा षड्विधं कारणं, अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, करोतीति कारणमिति व्युत्पत्तेः, स्वेन व्यापारेण यत् कार्येषूपयुज्यते तत् कारणं, तच्च षड्विधं–षट्प्रकारं, कथमित्याह–कर्त्ता च कारणं, तस्य कार्येण स्वातन्त्र्येणोपयोगात्, तमन्तरेण विवक्षितकार्यानुपपत्तेः, अभीष्टकारणं च तत्, ततश्च घटोत्पत्तौ कुलालः कारणमिति, तथा करणं–मृत्पिण्डदण्डसूत्रादिकं घटस्य कारणं, साधकतमत्वात्, तथा क्रियते, निर्वर्त्त्यते यत् तत्कर्म्म–क्रियाफलमित्यर्थः, उक्तं च–"निर्वर्त्त्यं वा विकार्यं वा, प्राप्यं वा यत्क्रियाफलम्। तद् दृष्टादृष्टसंस्कारं, कर्म्म कर्त्तुर्यदीप्सितम् ॥१॥" तदपि च कारणं, आह–तत्कथमेतदलब्धात्मलाभं तदा कारणमिति, उच्यते, कार्यनिर्वर्त्तनक्रियाविषयतया तस्योपचारात् कारणता, मुख्यवृत्त्या चासौ कार्यगुणमपेक्ष्य कर्म्मकारणं, तथा सम्प्रदानं तस्य कर्म्मणाऽभिप्रेतत्वात्, तमन्तरेण तस्याभावात्, तथा अपादानं कारणं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षितपदार्थापायेऽपि तस्य ध्रुवत्वेन कार्यकारकत्वात्, 'दो अवखण्डने' दानं–खण्डनं अपसृत्य मर्यादया दानं–खण्डनं वियोजनं मृत्पिण्डादेर्यत्तदपादानं, तथाहि–मृत्पिण्डस्यापायेऽपि भूर्ध्रुवेति तस्या अपादानता, सा च घटस्य कारणं, तामन्तरेण तस्यानुत्पादात्, तथा सन्निधानं च कारणं, तस्याधारतया कार्योपकारकत्वात्, सन्निधीयते यत्र कार्यं तत्सन्निधानं–अधिकरणं, तच्च घटस्य चक्रं, तस्यापि भूः, तस्या अप्याकाशं, आकाशस्य त्वधिकरणं नास्ति, स्वरूपप्रतिष्ठत्वात्, घटस्य चेदं कारणम्, एतदभावे घटानुत्पत्तेः। उक्तं द्रव्यकारणमिदानीं भावकारणप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहं च होइ भावे अपसत्थ पसत्थगं च अपसत्थं। संसारस्सेगविहं दुविहं तिविहं च नायव्वं ॥ ७३९ ॥

भवतीति भावः, स च औदायिकादिभावः, भाव एव कारणं संसारापवर्गयोरिति भावकारणं, तच्च द्विविधं च–द्विप्रकारं च भवति, भावे विचार्यमाणे, कारणमिति प्रक्रमाद्गम्यते, भावविषयं वा कारणं भावकारणमित्यर्थः, अप्रशस्तं–अशोभनं प्रशस्तं च–शोभनं, तत्राप्रशस्तं संसारस्य सम्बन्धि, तच्च एकविधम्–एकभेदं द्विविधं–द्विभेदमेवं त्रिविधं च ज्ञातव्यं, चशब्दश्चतुर्विधाद्यनुक्तकारणभेदसमुच्चयार्थः। यदुक्तं संसारस्यैकविधमित्यादि तदुपदर्शनायाह—

अस्संजमो य एक्को अण्णाणं अविरई य दुविहं तु। अन्नाणं मिच्छत्तं अविरई चेव तिविहं तु ॥ ७४० ॥

असंयमः–अविरतिलक्षणः, स ह्येक एव संसारकारणम्, अज्ञानादीनां तदुपष्टम्भकत्वेनाप्रधानत्वात्, तथा अज्ञानं अविरतिश्चेति द्विविधं संसारकारणं, तत्राज्ञानं कर्माच्छादितजीवस्य विपरीतोऽवबोधः; अविरतिः–सावद्ययोगानिवृत्तिः, तथा

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चेति त्रिविधं संसारकारणं, तत्र मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानं, शेषं गतार्थम्, एवं कषायादिसम्पर्कादन्येऽपि भेदाः प्रतिपादयितव्याः । उक्तमप्रशस्तं भावकारणम्, अधुना प्रशस्तमुच्यते—

होइ पसत्थं सुक्खस्स कारणं एग दुविह तिविहं वा । तं चेव य विवरीअं अहिगारु पसत्थएणित्थ ॥ ७४१ ॥

भवति प्रशस्तं भावकारणं मोक्षस्य कारणं, तच्च एकमिति–एकभेदं द्विविधं त्रिविधं वा, इदं पुनस्तदेव संसारकारणमसंयमादि विपरीतं द्रष्टव्यम्, एकविधं संयमः, द्विविधं ज्ञानसंयमौ, त्रिविधं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, अधिकारः–प्रयोजनं प्रशस्तेन भावकारणेन, अत्र–सामायिकव्याख्यानें, मोक्षाङ्गत्वादस्य, तथाहि–सामायिकाध्ययनं क्षायोपशमिकश्च प्रशस्तो भावो मोक्षकारणमतोऽधिकारः प्रशस्तेन भावकारणेनेति ॥ इत्थं कारणद्वारे अधिकारं प्रदर्श्य पुनः कारणद्वारसङ्गतमेव वक्तव्यताशेषमाशङ्काद्वारेणाभिधित्सुराह—

तित्थयरो किं कारण भासइ सामाइअं तु अज्झयणं ? । तित्थयरनामगुत्तं कम्मं मे वेइअवंति ॥ ७४२ ॥

तीर्थं पूर्वोक्तं तत्करणशीलस्तीर्थकरः, स किं कारणं–किं निमित्तं भाषते सामायिकमध्ययनं, तुशब्दादन्याध्ययनपरिग्रहः, तस्य कृतकृत्यत्वादिति हृदयं, उच्यते, तीर्थकरनामगोत्रं–तीर्थकरनामसंज्ञं, गोत्रशब्दः संज्ञायां, कर्म्म बद्धं मया वेदितव्यमित्यनेन कारणेन भाषते ।

तं च कहं वेइज्जइ ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं । बज्झइ तं तु भगवओ तइअभवोसक्कइत्ताणं ॥ ७४३ ॥

नियमा मणुयगईए इत्थी पुरिसेयरोव सुहलेसो । आसेवियबहुलेहिं वीसाए अन्नयरेहिं ॥ ७४४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथाद्वयस्यापि व्याख्या प्राग्वत्, इत्थं तीर्थकरस्य सामायिकभाषणकारणमभिधायाधुना गणभृतामाशङ्काद्वारेण तच्छ्रवणकारणं प्रतिपादयन्नाह—

गोअममाई सामाइयं तु किं कारणं निसामेंति ? । नाणस्स तं तु सुंदरमंगुलभावाण उवलद्धी ॥ ७४५ ॥

गौतमादयो गणधराः 'किं कारणं' किं निमित्तं–किं प्रयोजनं सामायिकं निशमयन्ति–शृण्वन्ति ?, उच्यते–'नाणस्स'त्ति प्राकृतत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, ततश्च ज्ञानाय–ज्ञानार्थं, तादर्थ्ये चतुर्थी, तेषां हि भगवद्वदनविनिर्गतसामायिकशब्दान् श्रुत्वा तदर्थविषयं ज्ञानमुत्पद्यते, ततो ज्ञानार्थं शृण्वन्ति, तत्तु ज्ञानं सुन्दरमङ्गुलभावानां–शुभेतरपदार्थानां 'उवलद्धी'ति उपब्धये–उपलब्धिनिमित्तं, सा च सुन्दरमङ्गुलभावोपलब्धिः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः कारणम् ॥ आह च–

होइ पवित्तिनिवित्ती संजमतव पावकम्मअग्गहणं । कम्मविवेगो अ तहा कारणमसरीरया चेव ॥७४६॥

शुभेतरभावपरिज्ञानाद्भवतः प्रवृत्तिनिवृत्ती, शुभेषु प्रवृत्तिर्भवति इतरेषु निवृत्तिरिति भावः, ते च प्रवृत्तिनिवृत्ती संयमतपसोः कारणं, प्रवृत्तिस्तपसः कारणं निवृत्तिः संयमस्येति हृदयं, तत्र निवृत्तिकारणकत्वेऽपि संयमस्य प्रागुपादानेन पूर्वकर्मागमनिरोधेऽस्य कारणप्राधान्यख्यापनार्थं, तत्पूर्वकं च वस्तुतः सफलं तप इति ज्ञापनार्थं च, संयमतपःकारणभूतप्रवृत्तिनिवृत्त्योस्तु प्रयोजनोपन्यासः संयमे सत्यपि तपसि प्रवृत्तिः कार्येत्यमुनांशेन तपसः प्राधान्यख्यापनार्थः, इत्यलं प्रसङ्गेन, तयोश्च संयमतपसोः कारणं–निमित्तं प्रयोजनं यथासङ्ख्यं 'पावकम्मअग्गहणं'ति पापकर्माग्रहणं तथा कर्मविवेकश्च,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा चोक्तं परममुनिभिः–"संजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले" अणण्हवः–अनाश्रवः, वोदाणं–कर्म्मनिर्जरा, कर्म्म-विवेकस्य च प्रयोजनमशरीरतैव च ॥ साम्प्रतं विवक्षितमर्थमुक्तानुवादेन प्रतिपादयन्नाह—

कम्मविवेगो असरीरयाइ असरीरयाऽणबाहाए । होअणबाहनिमित्तं अवेअणु अणाउलो निरुओ ॥ ७४७ ॥

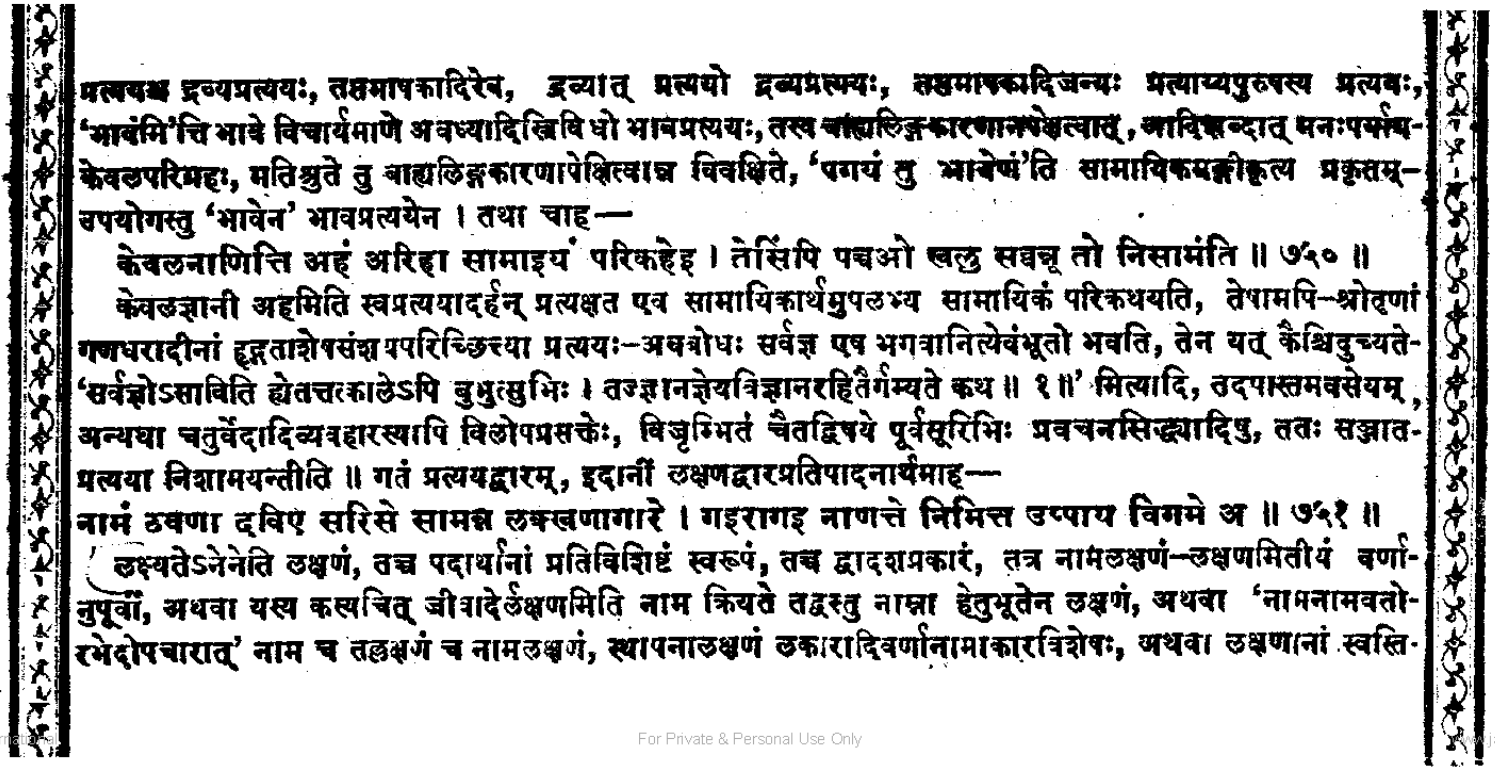
निरुअत्ताए अयलो अयलत्ताए अ सासओ होइ । सासयभावमुवगओ अबाबाहं सुहं लहइ ॥ ७४८ ॥

कर्म्मविवेकः–कर्म्मपृथग्भावः अशरीरतायाः कारणम्, अशरीरता 'अणाबाहाए' इति अनाबाधायाः कारणं भवति, 'अनाबाधानिमित्तं' अनाबाधाकार्यं, निमित्तशब्दः कार्यवाचकः, लोके च वक्तारो भवन्ति–अनेन निमित्तेन–अनेन कारणेन मयेदमारब्धं, अनेन कार्येणेत्यर्थः, ततश्च भवत्यनाबाधाकार्यमवेदनः–वेदनारहितो, जीव इति गम्यते, स चावेदनत्वादनाकुलः–अविह्वलः, अनाकुलत्वाच्च नीरुग् भवति, ततः स जीवो नीरुक्तया अचलो भवति, अचलतया च शाश्वतो भवति, शाश्वतभावमुपगतोऽव्याबाधं सुखं लभते, इत्थं पारम्पर्येण अव्याबाधसुखार्थं सामायिकश्रवणमिति गौतमादयः शृण्वन्ति ॥ गतं कारणद्वारम्, अधुना प्रत्ययद्वारमाह—

पच्चयनिक्खेवो खलु दव्वंमी तत्तमासगाईओ । भावंमि ओहिमाई तिविहो पगयं तु भावेणं ॥ ७४९ ॥

प्रत्याययतीति प्रत्ययः–अन्तर्भूतण्यर्थादतृप्रत्ययः प्रत्ययस्तस्य निक्षेपो–न्यासः प्रत्ययनिक्षेपः, खलुशब्दोऽनन्तरोक्तकारणनिक्षेपसाम्यप्रदर्शनार्थः, ततश्च नामादिचतुर्विधः प्रत्ययनिक्षेपः, तत्र नामस्थापने सुगमे, 'द्रव्ये' द्रव्यविषयो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तः प्रत्ययः तप्तमाषकादिः, आदिशब्दात् घटादिपरिग्रहः, द्रव्यं च तत् प्रत्याय्यप्रतीतिहेतुत्वाद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



प्रत्ययश्च द्रव्यप्रत्ययः, तत्समापकादिरेव, द्रव्यात् प्रत्ययो द्रव्यप्रत्ययः, तत्समापकादिजन्यः प्रत्याय्यपुरुषस्य प्रत्ययः, 'भावंमि'त्ति भावे विचार्यमाणे अवध्यादिस्त्रिविधो भावप्रत्ययः, तस्य बाह्यलिङ्गकारणानपेक्षत्वात्, आदिशब्दात् मनःपर्यायकेवलपरिग्रहः, मतिश्रुते तु बाह्यलिङ्गकारणापेक्षित्वान्न विवक्षिते, 'पगयं तु भावेणं'ति सामायिकमङ्गीकृत्य प्रकृतम्-उपयोगस्तु 'भावेन' भावप्रत्ययेन । तथा चाह—

केवलनाणित्ति अहं अरिहा सामाइयं परिकहेइ । तेसिंपि पवओ खलु सव्वन्नू तो निसामंति ॥ ७५० ॥

केवलज्ञानी अहमिति स्वप्रत्ययादर्हन् प्रत्यक्षत एव सामायिकार्थमुपलभ्य सामायिकं परिकथयति, तेषामपि–श्रोतृणां गणधरादीनां हृदताशेषसंशयपरिच्छित्त्या प्रत्ययः–अवबोधः सर्वज्ञ एष भगवानित्येवंभूतो भवति, तेन यत् कैश्चिदुच्यते-'सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथ ॥ १ ॥' मित्यादि, तदपास्तमवसेयम्, अन्यथा चतुर्वेदादिव्यवहारस्यापि विलोपप्रसक्तेः, विज्ञैश्चितं चैतद्विषये पूर्वसूरिभिः प्रवचनसिद्ध्यादिषु, ततः सञ्जातप्रत्यया निशामयन्तीति ॥ गतं प्रत्ययद्वारम्, इदानीं लक्षणद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

नामं ठवणा दविए सरिसे सामन्न लक्खणागारे । गइरागइ नाणत्ते निमित्त उप्पाय विगमे अ ॥ ७५१ ॥

लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, तच्च पदार्थानां प्रतिविशिष्टं स्वरूपं, तच्च द्वादशप्रकारं, तत्र नामलक्षणं–लक्षणमितीयं वर्णानुपूर्वी, अथवा यस्य कस्यचित् जीवादेर्लक्षणमिति नाम क्रियते तद्वस्तु नाम्ना हेतुभूतेन लक्षणं, अथवा 'नामनामवतोरभेदोपचारात्' नाम च तल्लक्षणं च नामलक्षणं, स्थापनालक्षणं ककारादिवर्णानामाकारविशेषः, अथवा लक्षणानां स्वस्ति-

आ.सू.६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

कशङ्खचक्रध्वजादीनां यो मङ्गलपट्टादावक्षतादिभिर्न्यासस्तत् स्थापनालक्षणं, ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं यत् यस्य द्रव्यस्यान्यतो व्यवच्छेदकं स्वरूपं यथा गत्यादि धर्मास्तिकायादीनां, इदमेव च किञ्चिन्मात्रविशेषात् सादृश्यसामान्यादिलक्षणभेदं निरूप्यते, तत्र 'सरिस'त्ति सादृश्यं लक्षणं, यथाऽस्मिन् देशे घटा ऊर्ध्वग्रीवा अधस्तात्परिमण्डला विपुलकुक्षयस्तथाऽन्येष्वपि देशेष्वित्यादि, 'सामन्नलक्खणं'ति सामान्यलक्षणं यथा सिद्धः सिद्धानां सद्द्रव्यजीवमुक्तत्वादिधर्मैः समान इति, 'आगारे'त्ति आक्रियते–अभिप्रेतं ज्ञायते अनेनेत्याकारो–बाह्यचेष्टारूपः स एवान्तराकूतगमकत्वाल्लक्षणमाकारलक्षणम्, अन्तराकूतगमकता चाकारस्य सुप्रसिद्धा, उक्तं च–"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ १ ॥" इति, 'गइरागइ'त्ति गत्यागतिलक्षणं, तत्र द्वयोर्द्वयोः पदयोर्विशेषणविशेष्यतयाऽनुकूलगमनं गतिः, यथा–'जीवे णं भंते ! देवे ? देवे भंते ! जीवे ?' इत्यत्र वाक्ये जीवो भदन्त ! देव इति जीवमनूद्य देवत्वं पृच्छ्यते, अत्र जीवपदाद्देवपदे आनुकूल्येन यथास्थित्या गतिः, प्रत्यावृत्त्या–प्रातिकूल्येन गमनमागतिः, यथा देवो जीव इत्यत्र देवमनूद्य जीवत्वं पृच्छ्यते इति, इह प्रत्यावृत्त्या देवपदाज्जीवपदे आगतिः, गतिश्चागतिश्च गत्यागती ताभ्यां ते वा लक्षणं गत्यागतिलक्षणं, उक्तं च–"अपरोप्परं पयाणं विसेसणविसेसणिज्जया जत्थ । गच्चाईए दोण्हं गइरागइलक्खणं तं तु ॥ १ ॥ (वि.२१५६) तच्चतुर्द्धा, तद्यथा–पूर्वपदव्याहतमुत्तरपदव्याहतं उभयपदव्याहतं उभयपदाव्याहतं च, तत्र पूर्वपदं व्याहतं–व्यभिचारि यत्र तत् पूर्वपदव्याहतं, पूर्वपदव्यभिचारीत्यर्थः, एवमन्येष्वपि यथायोगं समासः, तत्र पूर्वपदव्याहतं यथा–'जीवे भंते ! देवे ?, देवे जीवे ?,–गोयमा ! जीवे सिय देवे सिय नो देवे, देवे पुण नियमा जीवे" इति, अत्र

॥३६७॥

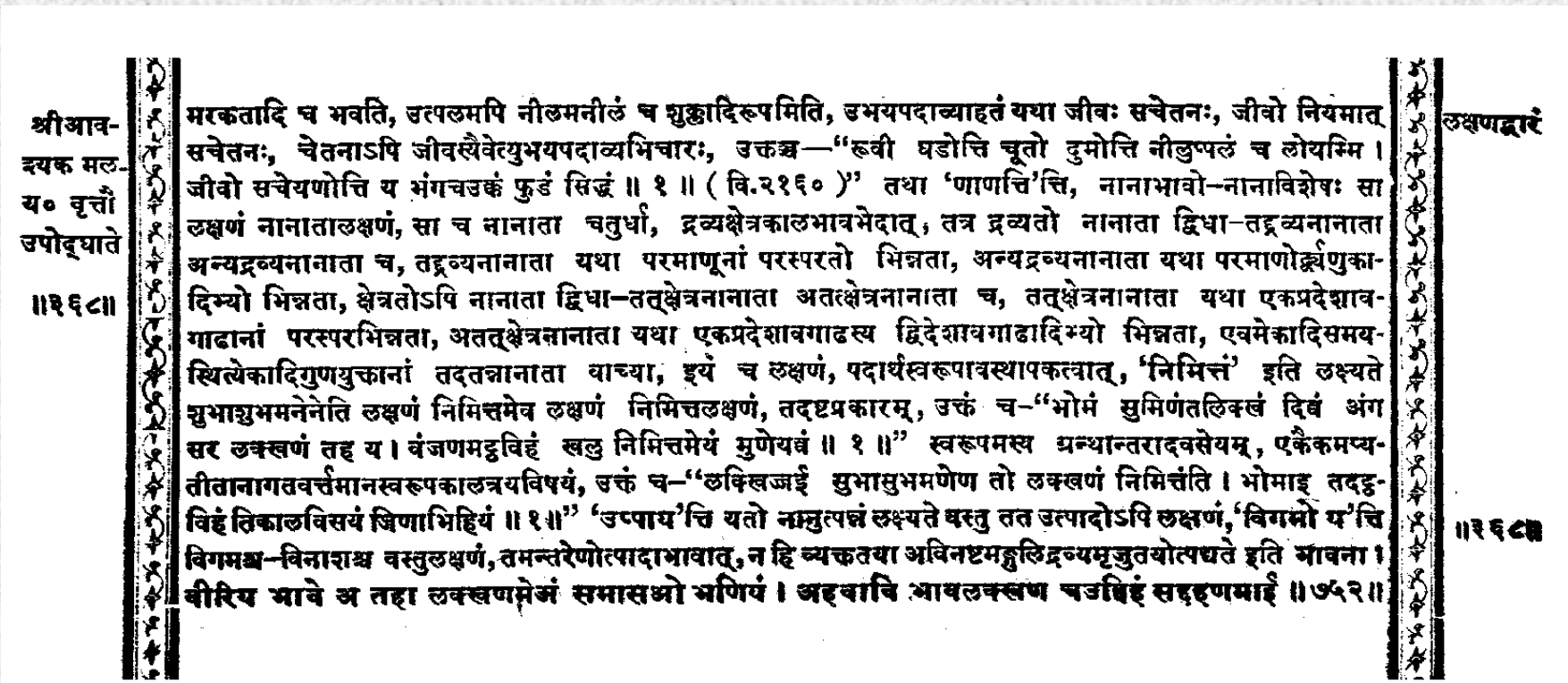
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

जीवो देव इति विशेषणविशेष्यभूतपदद्वये जीव इति पूर्वपदं देवत्वं व्यभिचरत्यपि, जीवस्य देवस्यादेवस्य च नारकादेर्दर्शनात्, देवो जीव इति प्रत्यावृत्तौ देवो जीवत्वं न व्यभिचरति, देवस्यावश्यं जीवत्वात्, ततः पूर्वपदव्याहतमेतत्, उत्तरपदव्याहतं यथा–'जीवइ भंते ! जीवे ?, जीवे जीवेइ ?, गोयमा ! जीवइ ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय जीवइ सिय नो जीवइ' इह जीव इति दशविधप्राणधारी भण्यते, स नियमात् जीवः, अजीवे दशविधप्राणासम्भवात्, जीवः पुनः स्यात् जीव इति स्यान्न जीव इति, सिद्धानां दशविधप्राणधारणासम्भवात्, तत इह उत्तरपदं व्याहतं, व्यभिचारात्, पूर्वपदं त्वव्याहतं, जीवनस्य जीवमन्तरेणाभावादिति, उभयपदव्याहतं यथा–'भवसिद्धिए णं भंते ! नेरइए ? नेरइए भवसिद्धिए ?, गोयमा ! नेरइए सिय भवसिद्धिए सिय अभवसिद्धिएवि, भवसिद्धिए सिय नेरइए सिय अनेरइए' अत्र पूर्वपदवर्ती भव्यो नैरयिकत्वं व्यभिचरति, अनैरयिकस्य देवादेरपि भव्यत्वभावात्, एवमुत्तरपदवर्ती नैरयिको भव्यत्वं व्यभिचरति, अभव्यस्यापि नैरयिकत्वभावात्, अत इदमुभयपदव्याहतं, उभयपदाव्याहतं यथा–'जीवे भंते ! जीवे ?, जीवे जीवे ?, गोयमा ! जीवे नियमा जीवे, जीवेऽवि नियमा जीवे' इह एकस्य जीवशब्दस्योपयोगो वाच्यः, अपरस्य जीवद्रव्यं, तत उपयोगो नियमात् जीवो, जीवोऽपि नियमादुपयोग इत्युभयपदाव्याहतमेतत्, लोकेऽपि चतुर्विधमिदं गत्यागतिलक्षणं प्रसिद्धं, तद्यथा–पूर्वपदव्याहतं यथा रूपी घट इति, रूपी हि घटो भवत्यघटश्च पटादिरिति पूर्वपदव्याहतिः, घटस्तु रूप्येवेत्युत्तरपदव्याघातः, उत्तरपदाव्याहतं यथा चूतो द्रुम इति, इह चूतो द्रुम एवेति पूर्वपदाव्याघातः, द्रुमश्च चूतोऽपि स्यादचूतोऽप्यश्वत्थादिरित्युत्तरपदव्याहतिः, उभयपदव्याहतं यथा नीलोत्पलं, नीलं ह्युत्पलं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआवश्यक मल० वृत्तौ उपोद्घाते

॥२६८॥

मरकतादि च भवति, उत्पलमपि नीलमनीलं च शुक्लादिरूपमिति, उभयपदाव्याहतं यथा जीवः सचेतनः, जीवो नियमात् सचेतनः, चेतनाऽपि जीवस्यैवेत्युभयपदाव्यभिचारः, उक्तञ्च—"रूवी घडोत्ति चूतो दुमोत्ति नीलुप्पलं च लोयम्मि। जीवो सचेयणोत्ति य भंगचउक्कं फुडं सिद्धं ॥ १ ॥ (वि.२१६०)" तथा 'णाणत्ति'त्ति, नानाभावो–नानाविशेषः सा लक्षणं नानातालक्षणं, सा च नानाता चतुर्धा, द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, तत्र द्रव्यतो नानाता द्विधा–तद्द्रव्यनानाता अन्यद्द्रव्यनानाता च, तद्द्रव्यनानाता यथा परमाणूनां परस्परतो भिन्नता, अन्यद्द्रव्यनानाता यथा परमाणोर्द्व्यणुकादिभ्यो भिन्नता, क्षेत्रतोऽपि नानाता द्विधा–तत्क्षेत्रनानाता अतत्क्षेत्रनानाता च, तत्क्षेत्रनानाता यथा एकप्रदेशावगाढानां परस्परभिन्नता, अतत्क्षेत्रनानाता यथा एकप्रदेशावगाढस्य द्विदेशावगाढादिभ्यो भिन्नता, एवमेकादिसमयस्थित्येकादिगुणयुक्तानां तदतन्नानाता वाच्या, इयं च लक्षणं, पदार्थस्वरूपावस्थापकत्वात्, 'निमित्तं' इति लक्ष्यते शुभाशुभमनेनेति लक्षणं निमित्तमेव लक्षणं निमित्तलक्षणं, तदष्टप्रकारम्, उक्तं च–"भोमं सुमिणंतलिक्खं दिव्वं अंग सर लक्खणं तह य। वंजणमट्ठविहं खलु निमित्तमेयं मुणेयव्वं ॥ १ ॥" स्वरूपमस्य ग्रन्थान्तरादवसेयम्, एकैकमप्यतीतानागतवर्त्तमानस्वरूपकालत्रयविषयं, उक्तं च–"लक्खिज्जई सुभासुभमणेण तो लक्खणं निमित्तंति। भोमाइ तदट्ठविहं तिकालविसयं जिणाभिहियं ॥ १॥" 'उप्पाय'त्ति यतो नासदुत्पन्नं लक्ष्यते वस्तु तत उत्पादोऽपि लक्षणं,'विगमो य'त्ति विगमश्च–विनाशश्च वस्तुलक्षणं, तमन्तरेणोत्पादाभावात्, न हि व्यक्ततया अविनष्टमद्रुलिद्रव्यमृजुतयोत्पद्यते इति भावना। वीरिय भावे अ तहा लक्खणमेअं समासओ भणियं। अहवावि भावलक्खण चउविहं सद्दहणमाई ॥७५२॥

लक्षणद्वारं

॥२६८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'वीरियं'ति वीर्यं–बलं, तच्च जीवस्य लक्षणं, तथाहि–तेन जीवो लक्ष्यते, अथवा सामर्थ्यं यत् यस्य वस्तुनश्चेतनस्याचेतनस्य वा तद्वीर्यं, तच्च विचित्ररूपं, तदेव लक्षणं पदार्थस्वरूपावच्छेदहेतुत्वात् वीर्यलक्षणम्, आह च भाष्यकारः—

विरियंति बलं जीवस्स लक्खणं जं च जस्स सामत्थं । दव्वस्स चित्तरूवं जह विरिय महोसहाईणं ॥ १ ॥

तथा भावानामौदयिकादीनां लक्षणं भावलक्षणं,यथा उदयलक्षण औदयिकः,उपशमलक्षणस्त्वौपशमिकः, अनुत्पत्तिलक्षणः क्षायिकः,मिश्रलक्षणः क्षायोपशमिकः,परिणामलक्षणः पारिणामिकः,संयोगलक्षणः सान्निपातिक इति, अथवा भावाश्च ते लक्षणं चात्मन इति भावलक्षणं, तत्र सामायिकस्य जीवगुणरूपस्य क्षयोपशमोपशमक्षयस्वभावत्वाद्वा लक्षणता, उपसंहारमाह–लक्षणमेतत् त्रयोदशभेदं समासतः–सङ्क्षेपेण भणितम्, अथवापि भावस्य सामायिकस्य लक्षणं, अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः, चतुर्विधं श्रद्धानादि ॥ एतदेव प्रतिदिदर्शयिषुराह—

सद्दहण जाणणा खलु विरई मीसा य लक्खणं कहइ । तेऽवि निसामंति तहा चउलक्खणसंजुअं चेव ॥७५३॥

इह सामायिकं चतुर्विधं भवति, तद्यथा–सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं चारित्रसामायिकं चारित्राचारित्रसामायिकं च, अस्य यथायोगं लक्षणं, 'सद्दहण'त्ति श्रद्धानं, लक्षणमिति योगः, सम्यक्त्वसामायिकस्य, 'जाणण'त्ति ज्ञानं ज्ञा संवित्तिरित्यर्थः, सा च लक्षणं श्रुतसामायिकस्य, खलुशब्दो निश्चयतः परस्परसापेक्षत्वविशेषणार्थः, तथा 'विरइ'इति विरमणं विरतिः–सर्वसावद्ययोगविनिवृत्तिः, सा च चारित्रसामायिकस्य लक्षणं, 'मीसा य' इति मिश्रा–विरत्यविरतिः, सा च चारित्राचारित्रसामायिकस्य लक्षणं, कथयतीत्यनेन स्वमनीषिकाऽपोहमाह, भगवान् जिन एवं कथयति, तस्य च कथयतस्तेऽपि गणधरादयो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

निश्चामयन्ति 'तथा' तेनैव प्रकारेण चतुर्लक्षणसंयुक्तमेव ॥ उक्तं लक्षणद्वारम्, अधुना नयद्वारं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह–

नेगम संगह ववहारुज्जुसुए चेव होइ बोद्धव्वे । सद्दे अ समभिरूढे एवंभूए अ मूलनया ॥ ७५४ ॥

अनेकधर्मकं वस्त्ववधारणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रातिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते–प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः, आह च–"एगेण वत्थुणोऽणेगधम्मुणो जमवधारणेण (इट्ठेण)। नयणं धम्मेण नओ होइ तओ सत्तहा सो य ॥१॥" अयमत्र तात्पर्यार्थः–इह यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमाण एवान्तर्भवति, वस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणावधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः, वस्त्वेकदेशपरिग्राहकत्वात्, अत एवोक्तमन्यत्र–"सव्वे नया मिच्छावाइणो," यत एव च नयवादो मिथ्यावादस्तत एव च जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्वपरिजिहीर्षया सर्वमपि स्यात्कारपुरस्सरं भाषन्ते, न तु जातुचिदपि स्यात्कारविरहितं, यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वत्र सर्वदा साक्षात् स्यात्पदं प्रयुञ्जते तथापि तत्राप्रयुक्तोऽपि सामर्थ्यात् स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः, प्रयोजकस्य कुशलत्वात्, उक्तं च–"अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते । विधौ निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥ १ ॥" अत्र अन्यत्रापीति–अनुवादातिदेशादिवाक्येषु, ननु यदि

१ एवं च स्यात्कारपुरोगं सावधारणं प्रमाणवाक्यं, स्यात्काररहितं सावधारणं तु नयवाक्यं, तथा च नयदुर्नयवाक्ययोरैक्यमाशङ्क्येत, परमाशङ्कितासद्धर्मव्यवच्छेदपरं नयवाक्यं संभवदनभिमतधर्मव्यवच्छेदपरं हि दुर्नयवाक्यं, स्थिते चैवं श्रुतवाक्यानामेकदेशविशिष्टवस्तुप्रकाशकत्वेन नयवाक्यरूपत्वं, परिपूर्णवस्तुप्रकाशकत्वेन च पूर्वापरवचनसापेक्षवस्तुप्रकाशकत्वेन स्याद्वादश्रुतरूपप्रमाणत्वं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ 'नय'-द्वार वर्णनं आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

सर्वत्र स्यात्पदप्रयोगानुसरणं तर्हि मूलत एवागमदवधारणविधिः, परस्परं विरोधात्, तथाहि–अवधारणमन्यनिषेधपरं स्याद्वादस्त्वन्यसंग्रहणशील इति, तदयुक्तं, सम्यक् तत्त्वापरिज्ञानात्, स्यात्पदप्रयोगो हि विवक्षितवस्त्वनुयायिधर्मान्तरसङ्ग्रहणशीलः,अवधारणविधिस्तु तत्तदाशङ्कितान्ययोगव्यवच्छेदादिफलः, तथाहि–ज्ञानदर्शनवीर्यसुखोपेतः किं जीवो भवति किं वा नेत्याशङ्कायां प्रयुज्यते–स्याज्जीव एव, अत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धनं जीवशब्दवाच्यत्वमभिधीयते, एवकारेण यदाशङ्कितं परेण जीवशब्दवाच्यत्वं तस्य निषेधः, स्यात्पदप्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखादिरूपा असाधारणा ये चामूर्त्तत्वासङ्ख्यातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्मा धर्म्माधर्म्मगगनास्तिकायपुद्गलैः साधारणाः येऽपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादयः सर्वपदार्थैः साधारणास्ते सर्वेऽपि प्रतीयन्ते, यदा तु ज्ञानदर्शनादिलक्षणो जीवः किंवाऽन्यलक्षण इत्याशङ्का तदैवमवधारणविधिः–स्यात् ज्ञानादिलक्षण एव जीवः, अत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यतामात्रं प्रतीयते, ज्ञानादिलक्षण एवेत्यन्यलक्षणव्युदासः, स्यात्पदप्रयोगात्तु साधारणासाधारणधर्म्मपरिग्रहः, यदा तु जगति जीवोऽस्ति किं वा नेत्यसम्भवाशङ्का तदैवमवधारणं–स्यादस्त्येव जीवः, अत्रापि जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यताऽधिगतिः, स्यात्पदप्रयोगात् साधारणासाधारणधर्म्मपरिग्रहः, अस्त्येवेत्यवधारणादभावाशङ्काव्यवच्छेदः, एवमन्यत्रापि साक्षात् गम्यमानतया वा स्यात्पदप्रयोगपुरःसरं यथायोगमवधारणविधिः सम्यक्प्रवचनार्थं जानानेन प्रयोक्तव्यः, अवधारणाभावे तु जीवादिवस्तुतत्त्वव्यवस्थाविलोपप्रसङ्गः, तथाहि–यद्यन्यव्यवच्छेदेन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव एवेति नावधार्यते तर्हि अजीवोऽपि तल्लक्षणः स्यादिति जीवाजीवव्यवस्थाविलोपः, तथा यदि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण एव जीव इत्ययोगव्यवच्छेदो नाभ्युपगम्येत ततोऽन्यत्किम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्यजीवानुगतमजीवसाधारणं वा तथालक्षणमाशङ्क्येत, तथा च जीवेतरविभागपरिज्ञानाभावः, ततो यथा सम्यग्वादित्वमिच्छता सर्वत्र स्यात्पदप्रयोगः साक्षात् गम्यो वाऽनुश्रियते तथा यथायोगमवधारणविधिरपि, अन्यथा यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रतिपत्त्यनुपपत्तेः,न चावधारणविधिः सिद्धान्ते नानुमत इति वक्तव्यं, तत्र तत्र प्रदेशेऽनेकशोऽवधारणविधिदर्शनात्, तथाहि–"किमियं भंते ! कालोत्ति पवुच्चइ ?, गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव"त्ति, स्थानाङ्गेऽप्युक्तम्–"जदत्थि च णं लोए तं सव्वं दुप्पडोयारं, तंजहा–जीवा चेव अजीवा चेव" तथा "जह चेव उ मोक्खफला, आणा आराहिया जिणिंदाण'मित्यादि, या त्ववधारणी भाषा प्रवचने निषिध्यते सा क्वचित् तथारूपवस्तुतत्त्वनिर्णयाभावात् क्वचिदेकान्तप्रतिपादिका वा, न तु सम्यग्यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिर्णये स्यात्पदप्रयोगावस्थायामिति । दिगम्बरी त्वियं प्रमाणनयपरिभाषा–सम्पूर्णवस्तुकथनं प्रमाणवाक्यं, यथा स्याज्जीवः स्याद्धर्मास्तिकाय इत्यादि, वस्त्वेकदेशकथनं नयवादः, तत्र यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षः स नय इति वा सुनय इति वोच्यते, यस्तु नयान्तरनिरपेक्षः स दुर्नयो नयाभास इति, तथा चाहाकलङ्कः–"भेदाभेदात्मके ज्ञेये, भेदाभेदाभिसन्धयः । यतोऽपेक्षानपेक्षाभ्यां, लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥ १ ॥" अस्याः कारिकाया लेशतो व्याख्या–भेदो–विशेषोऽभेदः–सामान्यं तदात्मके, सामान्यविशेषात्मके इत्यर्थः, ज्ञेये–प्रमाणपरिच्छेद्ये वस्तुनि ये भेदाभेदाभिसन्धयः–सामान्यविशेषविषयाः पुरुषाभिप्रायाः अपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते ते यथासङ्ख्यं नयदुर्नया ज्ञातव्याः, किमुक्तं भवति ?–विशेषसाकाङ्क्षः सामान्यग्राहको वाऽभिप्रायः सामान्यसापेक्षो विशेषग्राहको वा नयः, इतरेतराकाङ्क्षरहितस्तु दुर्नयः, नयचिन्तायामपि च ते दिगम्बराः स्यात्पदप्रयोगमिच्छन्ति, तथा चाकलङ्क एव प्राह–"नयोऽपि तथैव सम्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गेकान्तविषयः स्यादि" ति, अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता–नयोऽपि–नयप्रतिपादकमपि वाक्यं, न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपिशब्दार्थः, तथैव–स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्येव जीव इति, स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति, तदेतदयुक्तं, प्रमाणनयविभागाभावप्रसक्तेः, तथाहि–स्याज्जीव एवेति किल प्रमाणवाक्यं, स्यादस्त्येव जीव इति नयवाक्यं, एतच्च द्वयमपि लघीयस्त्रय्यलङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतं, अत्र चोभयत्राप्यविशेषः, तथाहि–स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्दवाच्यतायाप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूताकारशब्दप्रयोगादजीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्दप्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्मक्षेपः, स्यादस्त्येव जीव इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्दवाच्यतायाप्रतिपत्तिरस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगतिः एवकारप्रयोगात्तु यदाशङ्कितं सकलेऽपि जगति जीवस्य नास्तित्वं तद्व्यवच्छेदः, स्यात्पदप्रयोगाद् साधारणासाधारणप्रतिपत्तिरित्युभयत्राप्यविशेष एव, तथा च सिद्धव्याख्याता न्यायावतारविवृतौ स्यादस्त्येव जीव इति प्रमाणवाक्यमुपन्यस्तवान्, तथा च तद्गतो ग्रन्थः "यदा तु प्रमाणव्यापारमविकलं परामृश्य प्रतिपादयितुमभिप्रयन्ति तदा अङ्गीकृतगुणप्रधानभावाऽशेषधर्म्मसूचककथञ्चित्पर्यायस्याच्छब्दविभूषितया सावधारणया च वाचा स्यादस्त्येव जीव इत्यादिकया (वदेत् त) तोऽयं स्याच्छब्दसंसूचिताभ्यन्तरीभूतानन्तधर्म्मकस्य साक्षादुपन्यस्तजीवशब्दक्रियाभ्यां प्रधानीकृतात्मभावस्यावधारणव्यवच्छिन्नतदसम्भवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते, प्रमाणप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थकथनमिति यावदि"त्यादि, तस्मादस्मदुक्तैव प्रमाणनयव्यवस्था समीचीना, यथा यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षः परमार्थतः स्यात्पदप्रयोगमभिलषन् सम्पूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णान्तर्भावी, नयान्तरनिरपेक्षस्तु नयो नयः, स च नियमान्मिथ्यादृष्टिरेव, सम्पूर्णवस्तुग्राहकत्वाभावादिति, ते च नया मूलभेदापेक्षया सप्त, तथा चाह–नैगमः सङ्ग्रहः व्यवहारः ऋजुसूत्रश्चैव भवति बोद्धव्यः शब्दश्च समभिरूढः एवंभूतश्चेति मूलनया इति गाथासमुदायार्थो निगदसिद्धः ॥ अवयवार्थं तु प्रतिनयं नयाभिधाननिरुक्तिद्वारेण प्रतिपादयति—

णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ती णेगमस्स नेरुत्ती । सेसाणं तु नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं ॥ ७५५ ॥

न एकं नैकं, नायं नञ्, किन्तु न इति 'अन् स्वरे' इति न भवति, प्रभूतानीत्यर्थः, ततो नैकैः–प्रभूतसङ्ख्यैर्मानैः–महासामान्यावान्तरसामान्यविशेषादिविषयैः प्रमाणैर्मिमीते–परिच्छिनत्ति वस्तुजातमिति नैगमः, पृषोदरादय इतीष्टरूपनिष्पत्तिः, तथा चाह–'इति' इयं नैगमस्य निरुक्तिः–निर्वचनं, उपलक्षणमेतत्, तेन अन्यथाऽपि नैगमशब्दव्युत्पत्तिः परिभावनीया, तद्यथा–निश्चितो गमो निगमः–परस्परविविक्तसामान्यादिवस्तुग्रहणं स एव प्रज्ञादेराकृतिगणतया स्वार्थिकाण्प्रत्ययविधानात् नैगमः, यदिवा निगम्यन्ते–परिच्छिद्यंते इति निगमास्तेषु भवो योऽभिप्रायो नियतपरिच्छेदरूपः स नैगमः, अथवा गमाः–पन्थानो नैके गमा यस्य स नैगमः, पृषोदरादित्वात् ककारस्य लोपः, बहुविधवस्त्वभ्युपगमपर इत्यर्थः, तथाहि–एष सत्तालक्षणं महासामान्यम्, अवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्वगुणत्वकर्म्मत्वादीनि, तथा अन्त्यान् विशेषान् सकलासाधारणरूपान् अवान्तरविशेषांश्च पररूपव्यावर्त्तनक्षमान् सामान्यादल्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपान् प्रतिपद्यते, यतोऽसावेवमाह–संविन्निष्ठाः किल पदार्थव्यवस्थितयः, तत्र सर्वेष्वपि पदार्थेषु द्रव्यादिरूपेषु सत्सदित्यविशेषेण प्रत्यय उपजायते, वचनं च, न चैते तथारूपे प्रत्ययवचने द्रव्यादिमात्रनिबन्धने, द्रव्यादीनामसर्वव्यापकत्वात्, तथाहि–यदि द्रव्य-

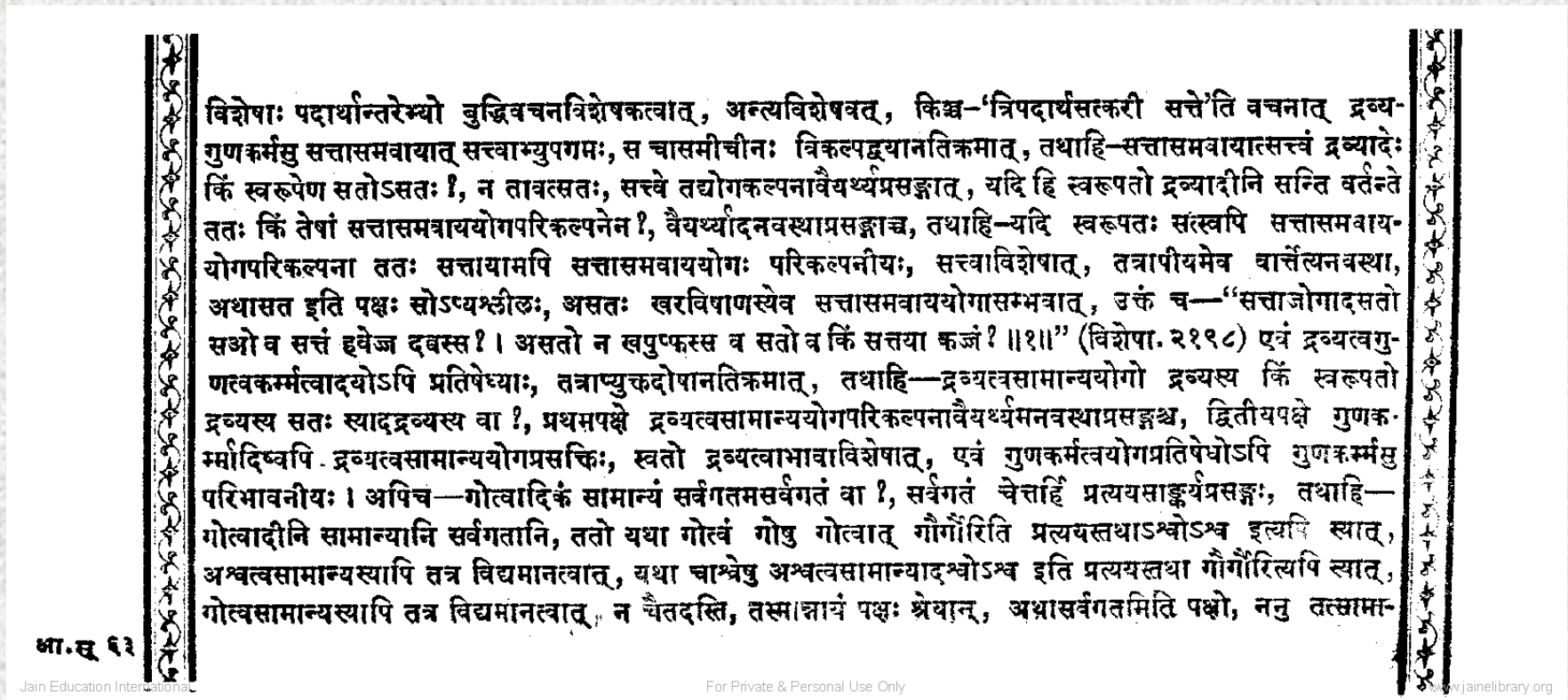
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्रनिबन्धनः सदिति प्रत्ययस्तर्हि स गुणादिषु न भवेत्, तत्र द्रव्यत्वाभावात्, गुणमात्रनिबन्धनत्वे द्रव्यादिषु न स्यात्, तत्र गुणत्वाभावात्, एवं सर्वत्रापि भावनीयम्, ततोऽस्ति द्रव्यादिभ्यो व्यतिरिक्तं महासत्ताख्यं नाम सामान्यं यद्वशादविशेषेण सर्वत्र सदिति प्रत्यय इति, तथा नवसु द्रव्येषु द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगताकारप्रत्ययदर्शनात् द्रव्यत्वं नामावान्तरसामान्यं प्रतिपत्तव्यम्, एवं गुणत्वकर्म्मत्वगोत्वाश्वत्वादीन्यपि, अमूनि चावान्तरसामान्यानि सामान्यविशेषा इत्युच्यन्ते, यत एतानि स्वस्वाधारविशेषेषु अनुगताकारप्रत्ययवचनहेतुत्वात् सामान्यानि विजातीयेभ्यो व्यावर्त्तमानत्वाच्च विशेषा इति सामान्यविशेषाः, तथा तुल्यजातिगुणक्रियाधाराणां नित्यद्रव्याणां परमाण्वाकाशदिगादीनामत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुभूता विशेषाः, ते च योगिनामेव प्रत्यक्षा अस्मदादीनां त्वनुमेयाः, तथाहि–तुल्यजातिगुणक्रियाधाराः परमाणवो व्यावर्त्तकधर्म्मसम्बन्धिनो व्यावृत्तिप्रत्ययविषयत्वात् मुक्ताफलाभास्यन्तर्गतचिह्नमुक्ताफलवत्, ये चावान्तरविशेषा घटपटादीनामितरेतरव्यावर्त्तनक्षमास्ते आबालगोपालाङ्गनादिजनानामपि प्रत्यक्षाः, एते च महासामान्यावान्तरसामान्यान्तविशेषावान्तरविशेषाः परस्परविशकलितस्वरूपाः, तथैव प्रतिभासमानत्वात्, तथाहि–न सामान्यग्राहिणि विज्ञाने विशेषावभासो नापि विशेषग्राहिणि सामान्यावभासः ततः परस्परविनिर्लुण्ठितस्वरूपाः, तथा चात्र प्रयोगः–यद्यथाऽवभासते तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यं, यथा नीलं नीलतया, अवभासन्ते च परस्परविसकलितस्वरूपाः सामान्यविशेषा इति नैगमः, नन्वेष यदि सामान्यविशेषाभ्युपगमपरस्तर्हि यत्सामान्यं तद्द्रव्यं ये तु विशेषास्ते पर्याया इति परमार्थतो द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयमतावलम्बित्वात् सम्यग्दृष्टिरेव, प्रतिपन्नजिनमतत्वात्, तथाविधसम्यग्जैनसाधुवत्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ततः कथं मिथ्यादृष्टिः ?, तदेतदयुक्तं, प्रतिपन्नजिनमतत्वासिद्धेः, परस्परविसंकलितसामान्यविशेषाभ्युपगमात्, तथाहि–एष परस्परमेकान्ततो विभिन्नावेव सामान्यविशेषाविच्छति, गुणगुणिनामवयव्यवयविनां क्रियाकारकाणां चात्यन्तभेदं, न पुनर्जैनसाधुरिव सर्वत्रापि भेदाभेदौ, अतो मिथ्यादृष्टिः, कणादेनापि हि सकलमप्यात्मीयं शास्त्रं द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयाभ्यां समर्थितं तथापि तन्मिथ्या, स्वविषयप्रधानतया परस्परमनपेक्षयोः सामान्यविशेषयोरभ्युपगमात्, उक्तं च–"जं सामन्नविसेसे परोप्परं वत्थुतो य सो भिन्ने । मन्नइ अच्चंतमतो मिच्छादिट्ठी कणादोव ॥ १ ॥ दोहिवि नएहिं नीयं सत्थमुलूगेण तहवि मिच्छत्तं । जं सविसयप्पहाणत्तणेण अन्नोन्ननिरवेक्खं ॥ २ ॥" (विशेषा.२१९४-५) अथ यदि सामान्यविशेषादिकं परस्परमेकान्तविभिन्नमिच्छति तथापि कथमसौ मिथ्यादृष्टिः ?, उच्यते, तदभ्युपगमस्य विचार्यमाणस्यायघटमानत्वात्, तथाहि–यदि परमपरं वा द्रव्यादिष्वनुगताकारप्रत्ययदर्शनादुपगम्यते तर्हि विशेषेष्वपि सामान्यं प्राप्नोति, तत्रापि विशेषो विशेष इत्यनुगताकारप्रत्ययदर्शनात्, न च तत्र तदभ्युपगम्यते, द्रव्यगुणकर्मस्वेव तदुपगमात्, अन्यच्च–गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिष्वपि सामान्येषु सामान्यं सामान्यमित्यनुगताकारप्रत्ययोऽनुभूयते ततस्तत्रापि सामान्याभ्युपगमः, न च सामान्येष्वपि सामान्यमस्ति, 'निःसामान्यानि सामान्यानी'ति वचनात्, यदपि च तेन विशेषलक्षणमकारि 'येन बुद्धिर्वचनं वा पदार्थान्तरेभ्यो विशिष्यते स विशेष' इति तत्परापरभेदभिन्नेषु सामान्येष्वपि लक्ष्यते, तथाहि–महासामान्यमपि सत्ताख्यं गोत्वादिभ्यो बुद्धिवचने विशेषयति, गोत्वादीन्यपि च सामान्यानि सत्ताख्यमहासामान्याश्वत्वाद्यवान्तरसामान्येभ्यः, अतः सामान्येष्वपि विशेषत्वप्रसङ्गः, तथा चात्र प्रयोगः–विवादाध्यासितानि सामान्यानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



विशेषाः पदार्थान्तरेभ्यो बुद्धिवचनविशेषकत्वात्, अन्त्यविशेषवत्, किञ्च–'त्रिपदार्थसत्करी सत्ते'ति वचनात् द्रव्य-गुणकर्मसु सत्तासमवायात् सत्त्वाभ्युपगमः, स चासमीचीनः विकल्पद्वयानतिक्रमात्, तथाहि–सत्तासमवायात्सत्त्वं द्रव्यादेः किं स्वरूपेण सतोऽसतः ?, न तावत्सतः, सत्त्वे तद्योगकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, यदि हि स्वरूपतो द्रव्यादीनि सन्ति वर्तन्ते ततः किं तेषां सत्तासमवाययोगपरिकल्पनेन ?, वैयर्थ्यादनवस्थाप्रसङ्गाच्च, तथाहि–यदि स्वरूपतः सत्स्वपि सत्तासमवाय-योगपरिकल्पना ततः सत्तायामपि सत्तासमवाययोगः परिकल्पनीयः, सत्त्वाविशेषात्, तत्रापीयमेव वार्त्तेत्यनवस्था, अथासत इति पक्षः सोऽप्यश्लीलः, असतः खरविषाणस्येव सत्तासमवाययोगासम्भवात्, उक्तं च—"सत्ताजोगादसतो सओ व सत्तं हवेज्ज दवस्स ?। असतो न खपुप्फस्स व सतो व किं सत्तया कज्जं ? ॥१॥" (विशेषा. २१९८) एवं द्रव्यत्वगु-णत्वकर्म्मत्वादयोऽपि प्रतिषेध्याः, तत्राप्युक्तदोषानतिक्रमात्, तथाहि—द्रव्यत्वसामान्ययोगो द्रव्यस्य किं स्वरूपतो द्रव्यस्य सतः स्यादद्रव्यस्य वा ?, प्रथमपक्षे द्रव्यत्वसामान्ययोगपरिकल्पनावैयर्थ्यमनवस्थाप्रसङ्गश्च, द्वितीयपक्षे गुणक-र्म्मादिष्वपि द्रव्यत्वसामान्ययोगप्रसक्तिः, स्वतो द्रव्यत्वाभावाविशेषात्, एवं गुणकर्मत्वयोगप्रतिषेधोऽपि गुणकर्म्मसु परिभावनीयः। अपिच—गोत्वादिकं सामान्यं सर्वगतमसर्वगतं वा ?, सर्वगतं चेत्तर्हि प्रत्ययसाङ्कर्यप्रसङ्गः, तथाहि—गोत्वादीनि सामान्यानि सर्वगतानि, ततो यथा गोत्वं गोषु गोत्वात् गौर्गौरिति प्रत्ययस्तथाऽश्वोऽश्व इत्यपि स्यात्, अश्वत्वसामान्यस्यापि तत्र विद्यमानत्वात्, यथा चाश्वेषु अश्वत्वसामान्यादश्वोऽश्व इति प्रत्ययस्तथा गौर्गौरित्यपि स्यात्, गोत्वसामान्यस्यापि तत्र विद्यमानत्वात्, न चैतदस्ति, तस्मान्नायं पक्षः श्रेयान्, अथासर्वगतमिति पक्षो, ननु तत्सामा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

न्यमक्रियमनवयवं चाभ्युपगम्यते, ततो नोत्पित्सुपदार्थदेशमभिगन्तुमलमिति कथं तत्तत्र वर्त्तते ?, अन्यच्च—सामान्ययुतासु व्यक्तिषु वृत्तिः सामान्यस्य किं सर्वात्मना प्रत्येकं उत एकदेशेन ?, यदि सर्वात्मना तर्हि यावत्यो व्यक्तयस्तावन्ति सामान्यानि प्रसक्तानि, व्यक्तयश्चानन्ता इति, अथैकदेशेनेति पक्षः, सोऽप्यपेशलः, एकं नित्यं निरवयवमक्रियमित्यभ्युपगमक्षतिप्रसङ्गात्, एकदेशवृत्त्यभ्युपगमे सावयवत्वोपगमात्, किञ्च—तेष्वपि देशेषु कथं वर्त्तत इति चिन्त्यं, किं प्रत्येकं सर्वात्मना उत एकदेशेन ?, प्रथमपक्षे पूर्ववत्सामान्यानन्त्यप्रसक्तिः, द्वितीयपक्षे भूयोदेशपरिकल्पना, तत्रापि तेषु वृत्तौ देशान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्था, एवं गुणेषु गुणिनोऽवयवेष्ववयविनः क्रियासु कारकस्य मिथो भेदाभ्युपगमे सर्वथा वृत्त्यनुपपत्तिः परिभावनीया । तदेवमेकान्ततः सामान्यविशेषादीनां भेदाभ्युपगमे सर्वमाकूनविशीर्णमिति तदभ्युपगमपरो नैगमनयो मिथ्यादृष्टिः, ततो जिनवचनानुसारेणैव सामान्यविशेषादिकमभ्युपगन्तव्यं, तथा च सति न कश्चिद्दोषः, तथाहि—यो वस्तूनां समानपरिणामः स सामान्यं, स च सामान्यपरिणामोऽसमानपरिणामाविनाभावी, अन्यथा एकत्वापत्तितः सामान्यत्वस्यैवायोगात्, स चासमानपरिणामो विशेषः, उक्तंच—"वस्तुन एव समानः परिणामो यः स एव सामान्यम् । असमानस्तु विशेषो वस्त्वेकमुभयरूपं तु ॥ १ ॥" ततः सामान्यविशेषौ पररपरं भेदाभेदात्मकाविति न पूर्वोक्तवृत्त्यसम्भवादिदोषावकाशः, अवयवानां च यः कोऽपि विशिष्टः सोऽवयवी, गुणाश्च सहवर्त्तिनः क्रमवर्तिनो वा द्रव्यस्य पर्यायविशेषाः, क्रियाऽपि च कारकस्य परिणामविशेषः, ततः सर्वत्रापि परस्परं भेदाभेदात्मकं तादात्म्यमिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न वृत्त्यसम्भवदोषानुषङ्गः, 'सेसाण'मित्यादि, शेषाणामपि नयानां सङ्ग्रहादीनां लक्षणमिदं वक्ष्यमाणं, तच्च शृणुत, यत इदानीमेव वक्ष्ये–अभिधास्ये ॥ प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—

संगहियपिंडियत्थं संगहवयणं समासतो बेंति ।

आभिमुख्येन गृहीतः–उपात्तः सङ्गृहीतः पिण्डितः–एकजातिमापन्नः अर्थो–विषयोऽस्य तत्सङ्गृहीतपिण्डितार्थं सङ्ग्रहस्य वचनं सङ्ग्रहवचनं समासतः–सङ्क्षेपेण ब्रुवते तीर्थकरगणधराः, किमुक्तं भवति ?–सामान्यप्रतिपादनपरः सङ्ग्रहनयः, शब्दव्युत्पत्तिश्चैवं–सङ्गृह्णाति–अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया समस्तं जगदादत्ते इति सङ्ग्रहः, तथाहि— अयमेवं मन्यते–सामान्यमेवैकं तात्त्विकं, न विशेषाः, ते हि भावलक्षणसामान्यात् व्यतिरिक्ता वा भवेयुरव्यतिरिक्ता वा ?, गत्यन्तराभावात्, प्रथमपक्षाभ्युपगमे न सन्त्येव विशेषाः, भावात् व्यतिरिक्तत्वात् गगनकुसुमवत्, अथ द्वितीयः पक्षस्तर्हि विशेषा अपि भावमात्रमेव, तथाहि—भावमात्रं विशेषास्तदव्यतिरिक्तत्वाद्, इह यत् यस्मादव्यतिरिक्तं तत्तदेव, यथा भावस्य स्वरूपं, अव्यतिरेकिणश्च भावाद्विशेषा इति । किंच—विशेषाग्रहो विशेषेण त्याज्यो विशेषव्यवस्थापकप्रमाणाभावात्, तथाहि–भेदरूपा विशेषाः, न च ते कञ्चित्प्रमाणभेदमवगाहंते, प्रत्यक्षं हि भावसम्पादितसत्ताकमतस्तमेव साक्षात्कर्तुमलं, नाभावम्, अभावस्य सकलशक्तिविष्टब्धरूपतया तदुत्पादने व्यापाराभावात्, अनुत्पादकस्य च साक्षात्करणे सर्वसाक्षात्करणप्रसङ्गः, तथा च सति विशेषाभावात् सर्वो द्रष्टा सर्वदर्शी स्यात्, अनिष्टं चैतत्, तस्माद्भावग्राहकमेव प्रत्यक्षमेष्टव्यं, स च भावः सर्वत्राविशिष्टस्तथैव च तेन ग्राह्य इति न प्रत्यक्षाद्विशेषावगतिः, नाप्यनुमानादिः, प्रत्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपूर्वकत्वाच्छेषप्रमाणवर्गस्य, ततः सामान्यमेव परमार्थसत् न विशेषा इति सङ्ग्रहः, एष च सामान्यमात्राभ्युपगमपरत्वान्मिथ्यादृष्टिः सुप्रतीत एव ।

ववहइ विणिच्छयत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु ॥ ७५६ ॥

व्रजति–गच्छति निः–आधिक्येन चयनं चयः, अधिकश्चयो निश्चयः–सामान्यः विगतो निश्चयो विनिश्चयः–सामान्याभावः तदर्थं–तन्निमित्तं, सामान्याभावायेति भावार्थः, व्यवहारो नयः, क्व ?–'सर्वद्रव्येषु' सर्वद्रव्यविषये, व्युत्पत्तिश्चैवं–व्यवहरणं व्यवहारः, यदिवा विशेषतोऽवह्रियते–निराक्रियते सामान्यमनेनेति व्यवहारः, विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनय इत्यर्थः, स ह्येवं विचारयति–सदियुक्तो हि घटपटाद्यन्यतमो विशेष एव कोऽप्यनिर्दिष्टस्वरूपः प्रतीयते, न सङ्ग्रहनयसंमतं सामान्यं, तस्यार्थक्रियासामर्थ्यविकलतया सकललोकव्यवहारपथातीतत्वात्, ततो विशेष एवास्ति न सामान्यं, इतश्च न सामान्यम्, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलब्धेः, इह यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तदसदिति व्यवहर्त्तव्यं, यथा क्वचित् केवलभूतलप्रदेशे घटः, न चोपलभ्यते उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सत् सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यमिति स्वभावानुपलब्धिः, अपिच—सामान्यं विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तं वा स्यादव्यतिरिक्तं वा ?, यद्याद्यः पक्षस्तर्हि सामान्यस्याभाव एव, विशेषव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्यासम्भवात्, नहि मुकुलितार्द्धमुकुलितादिविशेषविकलं किमपि गगनकुसुममस्तीति परिभावनीयमेतत्, अथाव्यतिरिक्तं ततो विशेषा एव, न सामान्यं, तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्, उक्तं च–"अन्नमणन्नं च मयं सामण्णं ? जइ विसेसतोऽणन्नं । तम्मत्तमण्णमहवा नत्थि तयं निव्विसेसंति ॥ १ ॥" (वि० २२१६)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदपि चोक्तं—'प्रत्यक्षं भावसम्पादितसत्ताकमतस्तमेव साक्षात्कर्तुमल'मित्यादि, तदपि बालिशजल्पितं, प्रत्यक्षं हि नाम तेन सम्पादितसत्ताकमुच्यते यदुत्पन्नं सत् प्रत्यक्षं साक्षात्करोति, कुरुते च प्रत्यक्षं साक्षात् घटपटादिरूपं विशेषं, न सङ्ग्रहनयसम्मतं सामान्यं, न विशेषो घटपटादिरूपोऽभावो, भावात्मकत्वात्, ततो नार्थक्रियाशक्तिविकल इत्यदोषः, ततो विशेष एव प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धो न सामान्यमिति सामान्याग्रह एव त्याज्यो, न विशेषाग्रहः, किंच—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्, न च सामान्यं दोहदाहादिक्रियासूपयुज्यते, किन्तु विशेषा एव गवादयः, ततस्त एव तात्त्विका न सामान्यमिति। एष व्यवहारनयो लोकसंव्यवहारपरः ततो यदेव लोकोऽभिमन्यते तदेवैषोऽपि, न शेषं सन्तमपि, लोकश्च भ्रमरादौ तत्त्ववृत्त्या पञ्चवर्णाद्युपेतेऽपि कृष्णवर्णादित्वमेव प्रतिपन्नस्तस्य स्पष्टतयोपलभ्यमानत्वात्, तत एषोऽपि तदनुयायितया तदेवेच्छति, न शेषान् सतोऽपि शुक्लादीन् वर्णान्, उक्तं च—"बहुतरउत्ति तयं चिय गमेति संतेवि सेसए मुयइ" (वि. २२२१) इति शेषकान्–शुक्लादिवर्णान् सतोऽपि मुञ्चति–न प्रतिपद्यते इति। उक्तो व्यवहारनयः, साम्प्रतमृजुसूत्रनयमाह—

पच्चुप्पण्णग्गाही उज्जुसुओ नयविही मुणेयव्वो।

साम्प्रतमुत्पन्नं प्रत्युत्पन्नमुच्यते, वर्त्तमानमित्यर्थः, यदिवा प्रति प्रति उत्पन्नं प्रत्युत्पन्नं, भिन्नव्यक्तिस्वामिकमित्यर्थः, तद् गृण्हातीत्येवंशीलः प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रो नयविधिर्ज्ञातव्यः, तत्र ऋजु–प्रगुणम्–अकुटिलमतीतानागतपरकीयवक्रपरित्यागात् वर्त्तमानक्षणविवर्त्तिं स्वकीयं च सूत्रयति–निष्टंकितं दर्शयतीति ऋजुसूत्रः, यदिवा ऋजुश्रुत इति शब्दसंस्कारः,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्र ऋजु पूर्वोक्तवक्रविपर्ययादभिमुखं श्रुतं तु–ज्ञानं, अभिमुखं ज्ञानमस्येति ऋजुश्रुतः, शेषज्ञानानभ्युपगमात्, तथाहि— एष मन्यते यदतीतमनागतं वा तत् यथाक्रमं विनष्टत्वादलब्धात्मलाभत्वाच्च नार्थक्रियासमर्थं, नापि प्रमाणगोचरः, अथवा क्रियासमर्थं प्रत्यक्षादिप्रमाणपथमवतीर्णं वस्तु, न शेषम्, अन्यथा खरविषाणादेरपि वस्तुत्वप्रसक्तेः, ततोऽर्थक्रियासामर्थ्यविकलत्वात् प्रमाणपथातीतत्वाच्च नातीतमनागतं वा वस्तु, यदपि च परकीयं वस्तु तदपि परमार्थतोऽसत्, निष्प्रयोजनत्वात्, "न विगयमणागयं वा भावोऽणुवलद्धितो खपुप्फं व । न य निप्पओयणाओ परकीयं परधणमिवेती- ॥ १ ॥" (वि. २२२४) ति, एष च ऋजुसूत्रो वार्त्तमानिकं वस्तु प्रतिपद्यमानो लिङ्गवचनभिन्नमप्येकं प्रतिपद्यते, तत्रैकमपि त्रिलिङ्गं यथा तटस्तटी तटं, तथैकमपि एकवचनद्विचनबहुवचनवाच्यं, यथा गुरुर्गुरवः गोदौ ग्रामः आपो जलं दाराः कलत्रमित्यादि, निक्षेपचिन्तायां नामस्थापनाद्रव्यभावरूपाश्चतुरोऽप्यसौ निक्षेपानभिमन्यते, उक्तं च—"तम्हा निययं संपइकालीणं लिंगवयणभिन्नंपि । नामादिभेयविहियं पडिवज्जइ वत्थुमुज्जुसुतो ॥ १ ॥" (वि. २२२६) उक्त ऋजुसूत्रः, सम्प्रति शब्दनयमाह—

इच्छइ विसेसिययरं पच्चुप्पण्णो नओ सद्दो ॥ ७५१ ॥

इच्छति–प्रतिपद्यते विशेषिततरं–नामस्थापनाद्रव्यविरहेण समानलिङ्गवचनपर्यायध्वनिवाच्यत्वेन च प्रत्युत्पन्नं— वर्त्तमानं नयः शब्दः, शब्द्यते–प्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्दः–शब्दस्य वाच्योऽर्थः स एव येन नयेन तत्त्वतो गम्यते न शेषः स नय उपचारात् शब्द इत्युच्यते, अस्य च द्वितीयं नाम साम्प्रत इति, साम्प्रतवस्त्वाश्रयणात् साम्प्रतः, तथाहि–एषोऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ ७५१ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७५७ ॥ एव वर्तते

ऋजुसूत्रनय इव साम्प्रतमेव वस्त्वभ्युपगच्छति, नाप्यतीतमनागतं वा, नापि वर्त्तमानमपि परकीयम्, अपिच—निक्षेपचिन्तायां भावनिक्षेपमेव केवलमेष मन्यते, न नामादीन् निक्षेपान्, तथा च नामादिनिक्षेपनिराकरणार्थं प्रमाणमाह–नामस्थापनाद्रव्यरूपा घटा न घटाः, घटकार्यकारित्वाभावात्, यत् यत् घटकार्यकारि न भवति तत् न घटो, यथा पटः, तथा चामी घटा घटकार्यकारिणो न भवन्ति तस्मान्न घटा इति नामादिघटानां घटत्वाभावः, इतश्च घटत्वाभावः, तल्लिङ्गादर्शनात्, न खलु नामादिघटेषु घटलिङ्गं पृथुवुध्नोदराद्याकाररूपं जलधारणरूपं वा किमप्युपलभामहे, अनुपलभमानाश्च तेषु कथं घटव्यपदेशप्रवृत्तिमिच्छामः ?, अपिच–नामादीन् घटान् घटत्वेन व्यपदिशत ऋजुसूत्रस्य प्रत्यक्षविरोधः, अघटस्वरूपतया पटादीनामिव तेषां प्रत्यक्षत उपलभ्यमानत्वात्, उक्तं च—"नामादयो न कुंभा तक्कज्जाकरणतो पडाइव। पच्चक्खविरोहातो तल्लिंगाभावतो यावि ॥१॥" (वि. २२२९) अन्यच्च–एष लिङ्गवचनभेदाद्भेदः प्रतिपद्यते, यथाऽन्य एव तटीशब्दवाच्योऽर्थः अन्य एव तटशब्दस्य पुल्लिङ्गस्य, तथाऽन्य एव गुरुरित्येकवचनवाच्योऽर्थः अन्य एव गुरव इति बहुवचनवाच्यः, ततो न बहुवचनवाच्योऽर्थ एकवचनेन वक्तुं शक्यते, नाप्येकवचनवाच्यो बहुवचनेन, तथा न पुंल्लिङ्गोऽर्थो नपुंसकलिङ्गेन वक्तुं शक्यो नापि स्त्रीलिङ्गेन वक्तुं शक्यः, नापि नपुंसकलिङ्गः पुंल्लिङ्गेन स्त्रीलिङ्गेन वा, नापि स्त्रीलिङ्गः पुल्लिङ्गेन नपुंसकलिङ्गेन वा, अर्थाननुयायितया तेषामर्थतो भिन्नत्वात्, तथा चात्र प्रयोगः–ये परस्परमर्थतोऽननुयायिनस्ते भिन्नार्था इति व्यवहर्त्तव्याः, यथा घटपटादिशब्दाः, परस्परमर्थतोऽननुयायिनश्च लिङ्गवचनभेदभिन्नाः शब्दा इति, ये त्विन्द्रशक्रपुरन्दरादयः शब्दाः सुराधिपादिलक्षणमेकमभिन्नलिङ्गवचनमधिकृत्याभिन्नलिङ्गव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

चनास्तेषामभिन्नोऽर्थ इत्येकार्थता, उक्तं च—"घणि भेयातो भेओ थीपुंलिंगाभिहाणवच्चाणं। पडकुंभाण व जुत्तो तेणाभिन्नत्थमिट्ठं तं ॥१॥" (वि.२२३४) अत्र 'घणिभेयाउ'त्ति ध्वनिभेदात् अननुयाय्यर्थतया, अर्थतः शब्दरूपस्याभेदात्, 'तेणाभिन्नत्थमिट्ठं तं'ति तेन–तस्मात्कारणात् तत् लिङ्गं वचनं वा अभिन्नार्थमिष्टं, यादृशमर्थे लिङ्गे तादृशमेव तद्वाचकस्य शब्दस्येष्टं नान्यादृशम्, अत एव चाभिन्नवचनाः पर्यायशब्दा एकार्थास्तेषामर्थभेदाभावात्, तथा च शब्दनयमतं सर्वमपि सङ्गृह्णता प्रत्यपादि भाष्यकृता–"तो भावो च्चिय वत्थुं विसेसियमभिन्नलिंगवयणं च। बहुपज्जायंपि मयं सद्दत्थवसेण सद्दस्स॥१॥" (वि. २२३५) अस्या गाथाया लेशतो व्याख्या–तत इत्युपसंहारे, ततः शब्दनयस्य शब्दार्थवशेन–शब्दगतान्वर्थशब्दार्थसमाश्रयेण भाव एव वस्तु मतं, न नामादिकं, तदपि च भावरूपं वस्तु विशेषितं–स्वपर्यायविशेषितं परपर्यायविशेषितं च मतं, तथा अभिन्नलिङ्गवचनं बहुपर्यायमपि मतमिति॥ उक्तः शब्दनयः, सम्प्रति समभिरूढमाह—

वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थू नये समभिरूढे।

वस्तुनो–घटाख्यादिकस्य सङ्क्रमणम्–अन्यत्र कुटाख्यादौ गमनं, किं?, भवति अवस्तु, असदित्यर्थः, नये पर्यालोच्यमाने, कस्मिन्नये इत्याह—'समभिरूढे' सम्–एकीभावेन अभिरोहति–व्युत्पत्तिनिमित्तमास्कन्दति शब्दप्रवृत्तौ यः स समभिरूढः तस्मिन्, एष हि पर्यायशब्दानामपि प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते, यथा घटनात् घटः, विशिष्टा काचनापि या चेष्टा युवतिमस्तकाद्यारोहादिलक्षणा स परमार्थतो घटशब्दवाच्या तद्वत्यर्थे पुनर्घटशब्दः प्रवर्त्तते उपचारात्, एवं 'कुट कौटिल्ये' कुटनात् कुटः, अत्र पृथुबुध्नोदरकम्बुग्रीवाद्याकारकौटिल्यं कुटशब्दवाच्यं, तथा 'उभ उंभ पूरणे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुः–पृथिवी तस्यां स्थितस्य डंभनात्–पूरणात् कुम्भः, अत्र यत् पृथिव्यां स्थितस्य पूरणं तत् कुम्भशब्दवाच्यम्, एवं सर्वेषामपि पर्यायशब्दानां नानात्वं प्रतिपद्यते, वदति च–न शब्दान्तराभिधेयं वस्तु द्रव्यं पयोयो वा तदन्यशब्दवाच्यवस्तुशब्दरूपतां सङ्क्रामति, न खलु पटशब्दवाच्योऽर्थो जातुचिदपि घटशब्दवाच्यवस्तुरूपतामास्कन्दति, तथाऽनुपलम्भात्, आस्कन्दने वा वस्तुसाङ्कर्यापत्तिः, तथा च सति सकललोकप्रसिद्धप्रतिनियतविषयप्रवृत्तिनिवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः, उक्तं च—"दधं पज्जाओ वा वत्थुं वयणंतराभिधेयं जं। न य तं तदन्नभावं संकमए संकरो मा भू॥ १॥" (२२३७) ततो घटादिशब्दवाच्यानामर्थानां कुटादिशब्दवाच्यार्थरूपताऽनास्कन्दनात् न कुटादयः शब्दा घटाद्यर्थवाचका इति विभिन्नार्थाः पर्यायशब्दाः, प्रमाणयति च—इह ये ये प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकाः शब्दास्ते ते भिन्नार्थाः, यथा घटपटशकटादिशब्दाः, भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा इति, यत्पुनरविचारितप्रतीतिबलादेकार्थाभिधायकत्वं पर्यायशब्दानामभिधीयते तदसमीचीनमतिप्रसङ्गात्, तथाहि—यदि युक्तिरिक्ताऽपि प्रतीतिः शरणीक्रियते तर्हि मन्दमन्दप्रकाशदवीयसि देशे सन्निविष्टमूर्त्तयो विभिन्ना अपि निम्बकदम्बाश्वत्थकपित्थादय एकतर्वाकारत्वमाबिभ्राणाः प्रतीतिपथमनुयन्तीत्येकतयैव तेऽभ्युपगन्तव्याः, न चैतदस्ति, विविक्ततत्स्वरूपग्राहितत्प्रत्यनीकप्रत्ययोपनिपातबाधितत्वेन पूर्वप्रतीतेर्विविक्तानामेव तेषामभ्युपगमात्, एवमत्रापि भावनीयम्, अन्यच्च–शब्दनय! यदि त्वया परस्परमर्थतो भिन्नत्वाल्लिङ्गवचनभिन्नानां शब्दानां भिन्नार्थता व्यवस्थिता ततः पर्यायशब्दानामपि किं न भिन्नार्थतान्यवहारः क्रियते?, तेषामपि परस्परमर्थतो भिन्नत्वात्, आह च भाष्यकृत्—"धणिभेयातो भेओऽणुमओ जइ लिंगवयणभिन्नाणं। घडपडवच्चाणंपि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व घडकुडवच्चाण किमणिट्ठो ? ॥ १ ॥ (वि. २२४०) तस्मान्नैकार्थवाचिनः पर्यायध्वनय इति । उक्तः समभिरूढः, इदानीमेवंभूतमाह—

वंजणअत्थतदुभए एवंभूओ विसेसेइ ॥ ७५८ ॥

व्यज्यते अनेन व्यनक्तीति व्यञ्जनं–शब्दः अर्थस्तु तद्गोचरः तच्च तत् उभयं च तदुभयं–शब्दार्थलक्षणमेवंभूतो नयो विशेषयति । इदमत्र हृदयम्—शब्दमर्थेन विशेषयति अर्थं च शब्देन, तथा चाह भाष्यकृत्—"वंजणमत्थेणऽत्थं च वंजणेणोभयं विसेसेइ । जह घडसद्दं चेट्ठावया तहा तंपि तेणेव ॥ १ ॥" (वि.२२५२) अस्या गाथाया लेशतो व्याख्या–व्यञ्जनं–शब्दमर्थेन विशेषयति, अर्थवशात् नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थः, यथा स एव तत्त्वतो घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिनियतं व्यवस्थापयतीति भावः, यथा वा घटशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा चेष्टा सा घटनात् घट इति व्युत्पत्त्यर्थपरिभावनाबलाद् योषिदादिमस्तकारूढस्य घटस्य जलाहरणादिक्रियारूपा द्रष्टव्या, न तु स्थानभरणक्रियारूपा, एवमुभयं—शब्देनार्थमर्थेन शब्दं विशेषयति, अत्रैव चोदाहरणमाह—'जह घडसद्दं'मित्यादि, यथा घटशब्दं चेष्टावताऽर्थेन नियमयति, स एव तत्त्वतो घटशब्दो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति, तथा तमप्यर्थं तेनैव—शब्देन नियमयति, यथा घटशब्दवाच्या चेष्टा घटनात् घट इति व्युत्पत्तिबलेन योषिदादिमस्तकादिरूढस्य घटस्य जलाहरणक्रियारूपा द्रष्टव्येति । एवं चैष व्युत्पत्तिनिमित्तार्थास्तित्वभूषितमेव तात्त्विकं शब्दमभिलषन् य एव पञ्चेन्द्रियत्रिविधबलादिरूपान् दशविधान् प्राणान् धारयति स एव नारकादिरूपः सांसारिकः प्राणी जीवशब्दवाच्यो, न सिद्धः, तत्रोक्तस्वरूपप्राणधारणलक्षण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्युत्पत्तिनिमित्तासम्भवात्, सिद्धस्त्वात्मादिशब्दवाच्यः, अतति–सातत्येन गच्छति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्याया-नित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसम्भवात्, उक्तं च—"एवं जीवं जीवो संसारी पाणधारणाणुगओ । सिद्धो पुण-रजीवो जीवणपरिणामरहिओत्ति ॥ १ ॥" (वि. २२५६) एवम्भूतशब्दव्युत्पत्तिश्चैवम्—एवंशब्दः प्रकारवचनः, एवं यथा व्युत्पादितस्तं प्रकारं भूतः–प्राप्तः एवंभूतः–शब्दस्तत्समर्थनप्रधानो नयोऽप्येवंभूतः उपचारात्, एवंभूतशब्दसमर्थना चास्य प्रागेवोपदर्शिता, यथा यस्मिन्नर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्युत्पत्तिनिमित्तमर्थो यदैव स्वरूपतो वर्त्तते तदैव तं शब्दं प्रवर्त्तमानमभिप्रैति, न शेषकालं, यथोदकाद्याहरणवेलायां योषिदादिमस्तकारूढो विशिष्टचेष्टावान् घटो घटशब्दवाच्यो, न शेषो, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्, पटादिवत्, तथा घटशब्दोऽपि तत्त्वतः स एव द्रष्टव्यो यश्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपा-दयति, न शेषः, शेषस्य स्वाभिधेयार्थशून्यत्वादिति ॥ अमीषां च नैगमादिनयानामनुयोगद्वारेषु प्रस्थकदृष्टान्तेन वसतिदृष्टा-न्तेन च भावना कृता, सा चोपयोगिनीति विनेयजनानुग्रहाय लेशतो वक्ष्यते, तत्रेयं प्रस्थकदृष्टान्तभावना–कोऽपि पुरुषः परशुमादाय वनं प्रति प्रचलितः, तं परशुसहायं गच्छन्तमवलोक्य अन्यः पृच्छति–क्व भवान् गच्छति ?, स नैगमन-यामिप्रायेण प्राह—प्रस्थकस्यानयनाय गच्छामि, तदभिप्रायेण हि यत् प्रस्थकनिमित्तं काष्ठं तदपि कारणे कार्योपचारात् प्रस्थक इति व्यवह्रियते, तथा लोकव्यवहारदर्शनाद्, एवमुत्तरत्रापि यथायोगमुपचारभावना भावनीया, ततः कोऽपि तं पुरुषं वृक्षं छिन्दानमुपलभ्य पृष्टवान्–किं भवान् छिनत्ति ?, स प्राह—प्रस्थकं छिनद्मि, मार्गे चागच्छन् केनापि पृष्टो यथा–किमिदं त्वया स्कन्धे समारोपितमिति ?, स प्राह—प्रस्थकं, एवं वास्या वा काष्ठं तक्षन् उत्किरन् श्लक्ष्णीकुर्वन् पृष्टः सन्नेवमेव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वदति यथा प्रस्थकं तक्षणोमि प्रस्थकमुत्किरामि प्रस्थकं श्लक्ष्णीकरोमि, एवं तावद् द्रष्टव्यं यावन्नामाङ्कितः प्रस्थको भवति, तदेवं नैगमनयाभिप्रायेण यो नामाङ्कितः प्रस्थको यावच्च यदपि प्रस्थकनिमित्तं काष्ठं तत् सर्वं प्रस्थकः, तत्र नामाङ्कितं प्रस्थकं वदन् विशुद्धो नैगम उच्यते, शेषस्त्वविशुद्धः, एवमेव व्यवहारोऽपि द्रष्टव्यः, तस्यापि लोकसंव्यवहार-परतया नैगमवद्वैचित्र्यात्, सङ्ग्रहनयवादी पुनराह—यो धान्यपरिमाणाय धान्यभृतः प्रस्थको वर्तते स एव प्रस्थकशब्द-वाच्यो मानविशेषो, न शेषः, धान्यपरिमाणव्यापाररहितत्वात्, प्रस्थकशब्दो हि परिमाणविशेषकरणव्यापृतकाष्ठमयवस्तुवि-शेषवाची, ततो यदैव धान्यपरिमाणकरणाय व्याप्रियते तदैव प्रस्थकशब्दवाच्यो, न शेषावस्थायामिति, उपचारस्त्वता-त्त्विक इति न वस्तुविचारणायां तदवसरः, एष च सङ्ग्रहनयः सामान्यग्राही, ततो ये केचन जगति धान्यपरिमाणकरणाय व्या-प्रियन्ते प्रस्थकास्ते सर्वेऽपि प्रस्थकत्वादेक एव प्रस्थक इति प्रतिपन्नः, ऋजुसूत्रस्तु अतीतस्य विनष्टत्वादनागतस्य चालब्धा-त्मलाभत्वात् परकीयस्य चावस्तुत्वात् य एवात्मीयो वर्त्तमानकाले धान्यपरिमाणाय व्याप्रियेत स एव प्रस्थको, नातीतो नानागतः परकीयो वेति मन्यते, तथा यत्तेन प्रस्थकेन परिमितं धान्यं तदपि प्रस्थक इत्याह, प्रस्थकोऽयमिति लोके व्यव-हारनयदर्शनात्, त्रयाणां तु शब्दनयानां मतमिदं—यः प्रस्थकशब्दवाच्यार्थपरिज्ञानवान् स तत्त्वतः प्रस्थको नाम न काष्ठ-मयः, काऽत्र तेषां युक्तिरिति चेत् प्रस्थकादिकं हि नाम मानं, मानं च प्रमाणं, प्रमाणं च तदभिधीयते येन वस्तु परिच्छिद्यते, प्रमीयते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति प्रमाणमिति व्युत्पत्तेः, परिच्छेदश्च ज्ञानधर्मः, ज्ञानं च जीवादनन्यत्, ततः स कथं परिच्छेदो जीवं मुक्त्वाऽन्यत्राचेतने मूर्त्ते काष्ठमये प्रस्थके वर्त्तेत ?, प्रमाणयन्ति च—विवादास्पदीभूतं काष्ठमयं प्रस्थकादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न प्रमाणं, किन्तु यदेव प्रस्थकादिज्ञानं तदेव प्रमाणं, तेनैवाधिकृतवस्तुपरिच्छेदात्, तथा चात्र प्रयोगः–प्रस्थकज्ञानं प्रमाणं वस्तुपरिच्छेदकत्वात्, यद् यद्वस्तुपरिच्छेदकं तत्तत् प्रमाणं, यथा केवलज्ञानं, वस्तुपरिच्छेदकं च प्रस्थकज्ञानमिति, उक्तञ्च—"नाणं पमाणमिट्ठं नाणसहावो स जीवतो णऽन्नो। किह पत्थयाइभावं वएज्ज मुत्ताइरूवं सो? ॥ १ ॥ न हि पत्थाइ पमाणं घडोव्व भुवि चेयणाए विरहातो। केवलमिव तन्नाणं पमाणमिट्ठं परिच्छेया ॥२॥" अथ मन्येत–काष्ठघटितप्रस्थादयोऽपि यथोक्तपरिच्छेदहेतुत्वात् प्रमाणमिति व्यवह्रियन्ते, तदयुक्तं, परिच्छेदहेतुत्वायोगात्, तद्धि तस्य हेतुरिति वक्तुं शक्यं यद्भावेऽवश्यं भवति यदभावे च यन्न भवति, अथवा प्रतिनियतकार्यकारणव्यवस्थाऽनुपपत्तेः, न च काष्ठघटितप्रस्थकादिभावेऽवश्यं परिच्छेदबुद्धिभावः, नालिकेरद्वीपायातस्य प्रस्थकादिदर्शनेऽपि तद्बुद्ध्यसम्भवात्, नापि प्रस्थकाद्यभावे तद्बुद्ध्यभावः, कस्यापि कलनशक्तिसम्पन्नस्यातिशयज्ञानिनो वा प्रस्थकाद्यभावेऽपि धान्यराशेरवलोकनमात्रेण प्रस्थकपरिमाणोऽयं राशिः कुडवपरिमाणो वेत्यादिबुद्धिदर्शनात्, ततोऽन्वयव्यतिरेकासम्भवान्न काष्ठघटितः प्रस्थकादिः परिच्छेदहेतुः, यद्यपि च कथञ्चित् क्षयोपशमहेतुतया कदाचनापि निमित्तमात्रं भवति तथापि नैतावता तत्कारणत्वव्यपदेशः, अतिप्रसङ्गात्, किञ्च–परिच्छेदकारणं, तथापि यदि तत्कारणतया (कथंचित् प्रस्थादि) (तत्) प्रमाणमिति व्यपदेशभाजनं ततः प्रमेयमपि प्रमाणं प्राप्नोति, तस्यापि प्रमाणरूपज्ञानकारणत्वात्, तथा यानि निमित्तकारणानि आकाशकालदिगादीनि यानि च दधिभक्षणादीनि परम्परकारणानि तानि सर्वाण्यपि प्रमाणानि प्राप्नुवन्ति, तत्कारणत्वाविशेषात्, ततः सर्वं प्रमाणं प्रसक्तमिति किमिदानीं प्रमाणं किमप्रमाणमिति प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थाविलोपप्रसङ्गः, उक्तं च—"पत्थादओऽवि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

तक्कारणंति माणं मई, न संतेसुं । जमसंतेसुवि बुद्धी कासइ संतेसुवि न बुद्धी ॥ १ ॥ तक्कारणं तु वा जइ पमाणमिदं तओ पमेयंपि । सव्वं पमाणमेवं किमप्पमाणं पमाणं वा ? ॥ २ ॥" (वि. २२४५–६) ततः प्रस्थकपरिज्ञानमेव त्रयाणामपि शब्दनयानां प्रमाणं, न प्रस्थक इति, एष प्रस्थकदृष्टान्तः ।

सम्प्रति वसतिदृष्टान्तभावना क्रियते–कोऽपि देवदत्तादिको भरुकच्छादौ वसन् केनापि पप्रच्छे–क्व! भवान् वसति ?, नैगमनयाभिप्रायेणाह—लोके वसामि, चतुर्दशरज्वात्मकलोकादनर्थान्तरत्वाद्भरुकच्छादेर्निवासक्षेत्रस्येति भावः, दृश्यते चैवंविधो लोकेऽपि व्यवहारस्ततो न कश्चिद्दोषः, भूयोऽपि प्रच्छक आह—ननु लोकस्त्रिविधो भवति, ऊर्ध्वलोकोऽधोलोकस्तिर्यग्लोकश्च, तत्र क्व भवान् वसति ?, स प्राह—तिर्यग्लोके, तिर्यग्लोकोऽपि जम्बूद्वीपादिस्वयम्भूरमणपर्यवसानोऽनेकद्वीपसमुद्ररूपस्तत्र क्व भवान् वसति ?, स प्राह—जम्बूद्वीपे, जम्बूद्वीपेऽपि भरतैरावतहैमवतहिरण्यवतहरिवर्षरम्यकदेवकुरूत्तरकुरुपूर्वविदेहापरविदेहरूपाणि दश क्षेत्राणि, तत्र दशसु क्षेत्रेषु मध्ये क्व भवान् वसति ?, स ब्रूते–भरतक्षेत्रे, भरतक्षेत्रमपि द्विधा–दक्षिणभरतमुत्तरभरतं च, तत्र क्व भवान् वर्त्तते ?, स प्राह—दक्षिणभरते, दक्षिणभरतेऽप्यनेकग्रामाकरनगरखेटकर्वटादिरूपाः सन्निवेशाः, ततः क्व भवान् वसति ?, स आह—देवदत्तस्य गृहे, तत्राप्यनेकान्यपवरकादीनि स्थानानि, तत्र क्व भवान् वसति ?, स आह—गर्भगृहे, तत्रापि संस्तारके वसामि, तदेवं नैगमनयाभिप्रायेण लोकादारभ्य यावत्संस्तारकस्तत्र सर्वत्रापि वसामीत्यभिप्रायः, एवमेव व्यवहारस्यापि, तस्य लोकसंव्यवहारपरत्वात्, सङ्ग्रहनयमतेन तु यत्रैव संस्तारकेऽवतिष्ठते तत्रैव वसामीति प्रत्ययो, नान्यत्र, अन्यत्र वसनक्रियाया अभावात्, यश्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्तारके वसनक्रियोपेतः स सर्वोऽप्येक एव, एकबुद्धिग्राह्यत्वात्, ऋजुसूत्रनयमतेन तु येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तेष्वेव वसति, न संस्तारके, संस्तारकानुगताकाशप्रदेशानां तदणुभिरेव व्याप्तत्वात्, एवं ऋजुसूत्रेणोक्ते त्रिविधोऽपि शब्दनयः प्राह—ननु वसनं नाम वर्त्तनमुच्यते, तथा च देवदत्तो गृहे वसतीति, किमुक्तं भवति ?—देवदत्तो गृहे वर्त्तते, तच्च वर्त्तनं सर्वस्यापि वस्तुनः स्वस्वरूप एव, नान्यत्र, तथा प्रत्यक्षत उपलभ्यमानत्वात्, तथाहि—यत् घटगतं स्वरूपं तत् घट एव वर्त्तते, नान्यत्र भूतले पटादौ वेति प्रसिद्धमेतत्, तत् देवदत्तादिलक्षणं वस्तु स्वस्वरूपमपहाय कथमन्यत्र विलक्षणस्वरूपे वस्तुनि आकाशलक्षणे वर्त्तितुमुत्सहते ?, तथा चात्र प्रयोगः–यद्वस्तुसत् तत्सर्वमात्मस्वरूपे वर्त्तते, यथा चेतना जीवे, वस्तुसच्च देवदत्तादिकमिति तदपि स्वस्वरूप एव वर्त्तते, नान्यत्रेति, अथवाऽयं व्यतिरेकमुखेन प्रयोगः-विवादास्पदीभूतो देवदत्तो नाकाशप्रदेशेष्ववतिष्ठते, ततो विलक्षणत्वात्, यत् यतो विलक्षणं न तत्तत्र वर्त्तते, यथा छाया आतपे, विलक्षणाश्चाचेतनत्वेन देवदत्तादाकाशप्रदेशा इति नासौ (तत्र) वर्त्तते, उक्तं च–"आगासे वसइत्ति य भणिए भण्णइ किहऽन्नमन्नंमि । मोत्तूणायसभावं वसिज्ज वत्थुं विहम्ममि ? ॥ १ ॥ वत्थुं वसइ सहावे सत्ताओ चेयणा व जीवंमि । न विलक्खणत्तणाओ भिन्ने छायाऽऽतवे चेव ॥ २ ॥" (वि. २२४१–२) एष वसतिदृष्टान्तः ।

सम्प्रति प्रदेशदृष्टान्तभावना, तत्र प्रकृष्टो देशः प्रदेशः स एव दृष्टान्तः प्रदेशदृष्टान्तः, स चायम्—नैगमो वदति–षण्णां जगति प्रदेशाः, तद्यथा—धर्म्मास्तिकायप्रदेशोऽधर्मास्तिकायप्रदेश आकाशास्तिकायप्रदेशो जीवप्रदेशः स्कन्धप्रदेशः स्कन्धगतैकदेशप्रदेशश्च, सर्वत्र च षष्ठीतत्पुरुषः समासः, यथा धर्म्मास्तिकायस्य प्रदेशो धर्म्मास्तिकायप्रदेशः, एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वत्रापि, स च धर्म्मास्तिकायप्रदेशादिः सामान्यविवक्षया एको विशेषविवक्षया त्वनेक इति, एवं वदन्तं नैगमं सङ्ग्रहो वदति–यद् ब्रूषे–षण्णां प्रदेश इत्यादि, तन्न भवति, यस्मात् यः स्कन्धगतैकदेशप्रदेशः स तस्यैव स्कन्धस्य प्रदेशः, देशस्कन्धाव्यतिरिक्तत्वात्, तथा च लोकेऽपि वक्तारो–दासेन मे खरः क्रीतो दासोऽपि मे खरोऽपि मे, एवं य, स्कन्धस्य सम्बन्धिनो देशस्य प्रदेशः स तस्यैव स्कन्धस्य, ततो मैवं वादीः यदुत–षण्णां प्रदेश इत्यादि, किन्त्वेवं वदः यथा–पञ्चानां प्रदेशः, धर्मास्तिकायप्रदेशः अधर्मास्तिकायप्रदेशः आकाशास्तिकायप्रदेशो जीवप्रदेशः स्कन्धप्रदेश इति, अत्र च धर्म्मास्तिकायाद्यनुगतः धर्मास्तिकायप्रदेशः स सर्वोऽप्येक एव द्रष्टव्यः, सामान्यविवक्षणात्, एष च सङ्ग्रहोऽविशुद्धः प्रतिपत्तव्यः, अपरसामान्याभ्युपगमात्, एवमभिदधानं सङ्ग्रहं प्रति व्यवहारोऽभिधत्ते—यद्वदति भवान्—पञ्चानां प्रदेश इत्यादि, तदनुपपन्नं, कथमिति चेत्, उच्यते, शब्दार्थाघटनात्, तथाहि—यदि यथा पञ्चानां गोष्ठिकानां किञ्चित्साधारणं हिरण्यादि वर्त्तते तथा यदि पञ्चानां धर्मास्तिकायादीनां साधारणः प्रदेशो भवेत् तत एवं वचनप्रवृत्तिरुपपद्यते–पञ्चानां प्रदेश इति, नान्यथा, न चैतदस्ति, तस्मादेवं वक्तव्यं–पञ्चविधः प्रदेशः, तद्यथा—धर्मास्तिकायप्रदेशो यावत् स्कन्धप्रदेश इति, एवमुक्ते व्यवहारेण ऋजुसूत्रो वदति–यन्नापते भवान्–पञ्चविधः प्रदेश इत्यादि, तदसम्यक्, तत्रापि शब्दार्थे विचार्यमाणेऽतिप्रसङ्गदोषापत्तेः, तथाहि—पञ्चविधः प्रदेश इत्युक्ते शब्दार्थपर्यालोचनायां यो यः प्रदेशः स स पञ्चविध इति प्राप्तम्, एवं च सत्येकैकः प्रदेशः पञ्चविध इति पञ्चविंशतिविधः प्रदेशः प्रसक्तः, न चैतदस्ति, तस्मादेवमत्र वक्तव्यं–भाज्यः प्रदेशः, तद्यथा—स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेशः स्यादधर्मास्तिकायप्रदेशः स्यादाकाशा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

स्तिकायप्रदेशः स्याज्जीवप्रदेशः स्यात् स्कन्धप्रदेशः, एवमाचक्षाणमृजुसूत्रं शब्दनयः प्रत्याचष्टे–यद्वदसि–भाज्यः प्रदेश इत्यादि, तन्न भवति, कथम् ?, उच्यते–यदि भाज्यः प्रदेश इति संमतं ततः स्यात्पदलाञ्छने प्रतिनियतधर्मास्तिकायाद्यनुगतप्रदेशस्वरूपावधारणासम्भवात् धर्म्मास्तिकायप्रदेशोऽपि स्यादधर्मास्तिकायप्रदेशः अधर्म्मास्तिकायप्रदेशोऽपि स्याद्धर्मास्तिकायप्रदेश इत्यादि, तत एवं वक्तव्यं–धर्म्मास्तिकायः प्रदेशः प्रदेशो धर्म्मास्तिकायः अधर्मास्तिकायः प्रदेशः प्रदेशोऽधर्म्मास्तिकाय इत्यादि, एवं हि वदतः शब्दनयस्यायमभिप्रायः–य एव धर्म्मास्तिकायादिरूपो देशी स एव देशः प्रदेशो वा, तस्य तदव्यतिरिक्तत्वात्, न खलु देशिनो भिन्नो देशः प्रदेशो वा भवितुमर्हति, भेदे सति तस्यासौ देशः प्रदेशो वेति सम्बन्धानुपपत्तेः, नहि घटः पटस्येति सचेतसा वक्तुं शक्यं, सम्बन्धश्चेत्तर्हि सम्बन्धस्यान्यथानुपपद्यमानत्वादेशः प्रदेशो वा देशिनः सकाशादभिन्नः प्रतिपत्तव्यः, तथा च सति य एव देशी स एव देशः प्रदेशश्चेति सिद्धं सामानाधिकरण्यं, एतदेव च सामानाधिकरण्यं समभिरूढोऽपि मन्यते, एवंभूतस्तु प्राह–न वस्तुनो देशः प्रदेशो वा, युक्त्ययोगात्, तथाहि–देशः प्रदेशो वा देशिनो भिन्नो वाऽभिन्नो वा ?, गत्यन्तराभावात्, यदि भेदस्तस्येति सम्बन्धानुपपत्तिः, अथाभेदस्ततो देशः प्रदेशो वा देश्येव, तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्, तथा च सति यौ देशप्रदेशशब्दौ तौ परमार्थतो धर्मास्तिकायादिदेशप्रतिपादकौ, ततो यथा पर्यायशब्दत्वादेककालमेकस्मिन् वस्तुनि घटकुटशब्दौ नोच्चार्येते, एकेनापि शब्देन तदर्थस्य प्रतिपादने द्वितीयशब्दप्रयोगस्य नैरर्थक्यात्, एवमिहापि धर्मास्तिकायादिरूपे वस्तुनि धर्मास्तिकायादिशब्दो देशप्रदेशादिशब्दश्च नैककालं उच्चारणमर्हतः, द्वयोरप्येकार्थतायामेकेन तदर्थस्याभिधानतोऽपरशब्दप्रयोगस्य वैयर्थ्यात्, तथा च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

सति धर्मास्तिकायप्रदेशोऽधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यादि वचनजातं सर्वमनुपपन्नं, देशप्रदेशशब्दयोः परमार्थतो धर्मास्तिकायादिरूपदेशिवाचकतया पौनरुक्त्यदोषानुषङ्गात्। योऽपि च नोशब्द एकदेशवचनः सोऽप्येतन्मतेन सर्वथाऽनुपपन्नः, तत्राप्युक्तदोषानतिक्रमात्, तथाहि–नोशब्दः सम्पूर्णं वस्त्वभिदध्यात् वस्त्वेकदेशं वा?, यदि सम्पूर्णं ततस्तस्य प्रयोगो निरर्थको, धर्मास्तिकायादिपदेनैव तस्याभिधानात्, अथ वस्त्वेकदेशमिति पक्षः सोऽप्यसमीचीनो, वस्तुनो देशाभावात्, नहि वस्तुनो भिन्नो देश उपपद्यते, तस्येति सम्बन्धाभावात्, अभेदे तु देश्येव न देश इत्युपपादितमेतत्, उक्तं च–"नोसद्दो सम्मत्तं देसं व वएज्ज? जइ समत्तं तो। तस्स पयोगे णत्थो अह देसो तो न सो वत्थुं॥ १॥" (वि.२२५९) अत्र 'न सो वत्थुं'ति न स देशो वस्तु, भेदपक्षे अभेदपक्षे वा तस्यासम्भवादिति, येऽपि च नीलोत्पलादयः शब्दा लोकप्रसिद्धास्तेऽप्येतन्मतेन विचार्यमाणाः सर्वथाऽनुपपन्नाः, तथाहि–तन्मतेन सर्वं वस्तु प्रत्येकमखण्डरूपं, न तस्य गुणाः पर्याया वा देशाः प्रदेशा वा सर्वथा कथञ्चिद्वा वस्त्वन्तररूपा वर्त्तन्ते, ततो नीलशब्देनापि तदेव वस्त्वखण्डमभिधीयते, उत्पलशब्देनापि तदेवेति, नीलोत्पलशब्दयोरन्यतरशब्देन तदर्थस्याभिधानात् द्वितीयशब्दप्रयोगो व्यर्थ इत्ययुक्ता नीलोत्पलादयः शब्दाः, कृता प्रदेशदृष्टान्तभावनापि।

तदेवमुक्ता नयाः, एतेषां च नयानामाद्याश्चत्वारो नया अर्थनयाः, मुख्यवृत्त्या जीवाद्यर्थसमाश्रयणात्, शेषास्तु त्रयः शब्दादयो नयाः शब्दनयाः, शब्दत एवार्थभेदोपगमात्, उक्तं च—"चत्वारोऽर्थनया ह्येते, जीवाद्यर्थविनिश्चयात्। त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः॥ १॥" अत्र 'सत्यपदविद्यां समाश्रिता' इति सत्यानि–अविपरीतानि, शब्दा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

नुशासनोपदर्शितयथोक्तलक्षणोपेतानि इति भावः, तानि च तानि पदानि च सत्पदानि तेषां विद्या–परिज्ञानं कालकारकादिभेदतोऽवगमस्तां समाश्रिताः, तद्वशादर्थभेदमभ्युपगतवन्त इत्यर्थः। सम्प्रति एतेषामेव नयानां प्रभेदसङ्ख्याप्रदर्शनार्थमाह—

एक्केक्को अ सयविहो सत्त नयसया हवंति एवं तु। अन्नोऽवि अ आएसो पंच सया हुंति उ नयाणं ॥७५९॥

नया–मूलभेदापेक्षया यथोक्तरूपा नैगमादयः सप्त, एकैकश्च प्रभेदतः शतविधः–शतभेदः, ततः सर्वप्रभेदगणनया सप्त नयशतानि भवन्ति, अपिशब्दात् षट् चत्वारि द्वे वा शते, तत्र षट्शतान्येवम्–नैगमः सामान्यग्राही सङ्ग्रहे प्रविष्टो, विशेषग्राही व्यवहारे, उक्तं च–"जो सामन्नग्गाही स नेगमो संगहं गतो अहवा। इयरो ववहारमितो जो तेण समाणनिद्देसो ॥ १ ॥" (वि. ३९) तत् षडेव मूलनयाः, एकैकश्च प्रभेदतः शतभेद इति षट् शतानि, अपरादेशः सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा इति चत्वार एव मूलनया, एकैकश्च शतविध इति चत्वारि शतानि, शतद्वयं तु नैगमादीनामृजुसूत्रपर्यन्तानां द्रव्यास्तिकत्वात् शब्दादीनां तु पर्यायास्तिकत्वात् तयोश्च प्रत्येकं शतभेदत्वात्, अथवा यावन्तो वचनपथास्तावन्तो नया इत्यसङ्ख्याताः प्रतिपत्तव्याः।

एएहिं दिट्ठिवाए परूवणा सुत्तअत्थकहणा य। इह पुण अणब्भुवगमो अहिगारो तीहिं ओसन्नं ॥ १६० ॥

एतैः–नैगमादिभिर्नयैः सप्तभेदैर्दृष्टिवादे सर्ववस्तूनां प्ररूपणा, क्रियते इति वाक्यशेषः, सूत्रार्थकथना च, आह–वस्तूनां सूत्रार्थानतिलङ्घनात् समुच्चयोऽनर्थक इति, न, तत्सूत्रोपनिबद्धस्यैव सूत्रार्थत्वेन विवक्षणात्, तद्व्यतिरेकेणापि च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ १६० ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७६० ॥ एव वर्तते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

यस्मुसम्भवात्, इह पुनः कालिकश्रुतेऽनभ्युपगमः, नावश्यं नयैर्व्याख्या कार्येति भावः, यदि च श्रोत्रपेक्षया नयविचारः कर्त्तव्यः तदा त्रिभिराद्यैः–नैगमसङ्ग्रहव्यहाररूपैरुत्सन्नं–प्रायेणात्राधिकारः, किमिति त्रिभिरेवाद्यनयैरिहाधिकारो, न शेषैः?, उच्यते, प्रायस्त्रिभिरेवाद्यनयैर्लोकव्यवहारपरिसमाप्तेः, अथ यदि कालिकश्रुते नयानामनभ्युपगमः ततस्त्रिभिरादयैः किमर्थं श्रोत्रपक्षयाऽप्यधिकारः ?, उच्यते, परिकर्म्मणार्थं, कालिकश्रुते हि त्रिभिरादयैर्नयैः परिकर्म्मितः सन् दृष्टिवादयोग्यो भवति, नान्यथेति, उक्तं च—"पायं संववहारो ववहारंतेहि तिहिं उ जं लोए। तेण परिकम्मणत्थं कालियसुत्ते तदधिगारो ॥ १ ॥" (वि. २२७६) ननु परिकर्म्मणाऽपि नयैस्तत्र भवति यत्र नयानामवकाशः, कालिकश्रुते चानभ्युपगमान्नयानामनवकाश इति कथं तत्राद्यैस्त्रिभिः परिकर्म्मणा भवति ?, तत आह—

नत्थि नएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व जिणमए किंचि। आसज्ज उ सोआरं नए नयविसारओ बूया ॥ १६१ ॥

जिनमते–सर्वज्ञमते न किञ्चिदपि सूत्रमर्थो वा नयैर्विहीनमस्ति ततः कालिकश्रुतेऽपि नयानामवकाश इति परिकर्मणार्थं नयपरिग्रहः, अशेषनयप्रतिषेधस्त्वाचार्यविनेयानां विशिष्टबुद्ध्यभावापेक्षः, विमलमतिश्रोतारं पुनरासाद्य नयविशारदः सूरिः समस्तानपि नयान् ब्रूयात्, यदि पुनः त्रिनययोग्योऽपि न भवति ततः परिकर्मणार्थं द्वौ नयौ वदेत्, तयोरप्यशक्तावेकं नयं, मन्दतमप्रज्ञे तु सूत्रार्थमात्रम्, उक्तं च—"भासेज्ज वित्थरेणवि नयमयपरिणामणासमत्थम्मि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ १६१ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७६१ ॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

तदसत्ते परिकम्मणमेगनएणंपि वा कुज्जा ॥ १ ॥ " (वि. २२७८) इत्यादिं, उक्तं नयद्वारम्, इदानीं समवतारद्वारं वक्तव्यं, तत्र क्व तेषां नयानामनवतारः क्व वा समवतार इति प्रतिपादनार्थमाह—

मूढनइअं सुअं कालिअं तु न नया समोअरंति इहं । अपुहुत्ति समोआरो नत्थि पुहुत्ते समोआरो ॥१६२॥

मूढा–अविभागस्था नया यस्मिन् तत् मूढनयं तदेव मूढनयिकं, प्राकृतत्वात् स्वार्थे इकप्रत्ययः, अथवा मूढाश्च ते नयाश्च मूढनयास्ते अस्मिन् विद्यन्ते इति मूढनयिकं, 'अतोऽनेकस्वरा'दितीकप्रत्ययः, किन्तदित्याह—श्रुतं, काले—प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालग्रहणपूर्वकं पठ्यते इति कालिकं, 'वर्षाकालेभ्य'इति भावार्थे इकण्प्रत्ययः, तत्र न नयाः समवतरन्ति, न प्रतिपदं भण्यन्ते इति भावः, कदा पुनरमीषां तर्हि समवतारोऽभूत् ? कदा च नावतार इत्याह–'अपुहुत्ते समोयारो'इत्यादि, अपृथक्त्वं चरणकरणानुयोगगणितानुयोगधर्म्मकथानुयोगद्रव्यानुयोगानामेकभावः, किमुक्तं भवति?–यदैते चत्वारोऽपि चरणकरणानुयोगप्रभृतयोऽनुयोगाः प्रतिसूत्रमुपन्यस्यन्ते एषोऽपृथग्भावः, तत्र नयानां समवतारो–विस्तरेण विरोधाविरोधसम्भवविशेषादिना प्ररूपणं, 'नत्थि पुहुत्ते समोयारो'इति पृथक्त्वं–चरणकरणधर्म्मसङ्ख्याद्रव्यानुयोगानां ग्रंथप्रविभागेन वर्त्तनं, किमुक्तं भवति ?–यदैकैकस्यैवानुयोगस्य ग्रन्थविभागेन प्रवर्त्तनम् एतत् पृथक्त्वमिति, तस्मिन् नास्ति नयानां समवतारः, भवेद्वा पुरुषविशेषापेक्षः, इयमत्र भावना–यावदपृथक्त्वमासीत् तावन्नयानामभूत्

१ भाष्यकाराणां श्रीहरिभद्रसूरीणां चाभिप्रायेण नयविशारद एवाधुना त्रीन् नयान् ब्रूयात्, प्रकरणानुगतश्च स एवार्थः, मूढनयिकत्वाभावप्रसङ्गोऽन्यथा, तदापि सर्वेषां सम्पूर्णनयावतारस्यैव योग्यतेति न नियमः.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ १६२ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७६२ ॥ एव वर्तते

*** अनुयोगानां चत्वार: भेदानां स्वरुपम् प्रदर्शयते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

समवतारः, पृथक्त्वे तु जाते समवताराभाव इति, उक्तं च–"अपुहुत्तमेगभावो सुत्ते सुत्ते सवित्थरं जत्थ। भन्नंतऽणुओगा चरणधम्मसंखाणदव्वाणं ॥ १ ॥ तत्थेव नयाणंपिहु पइवत्थुं वित्थरेण सव्वेसिं। देसंति समोयारं गुरवो भयणा पुहुत्तंमि ॥ २ ॥ एगोच्चिय देसिज्जइ जत्थऽणुजोगो न सेसया तिन्नि। संताव्वि तं पुहुत्तं तत्थ नया पुरिसमासज्ज ॥ ३ ॥" (वि. २२८१–३) आह–कियन्तं कालमपृथक्त्वमासीत्? कुतो वा समारभ्य पृथक्त्वं जातमित्यत आह—

जावंत अज्जवइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स। तेणारेण पुहुत्तं कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ ॥ १६३ ॥

यावदार्यवज्रा–आर्यवज्रस्वामिनो गुरवो महामतयस्तावत् कालिकानुयोगस्य–कालिकश्रुतव्याख्यानस्यापृथक्त्वं–प्रतिसूत्रं चरणकरणानुयोगादीनामविभागेन वर्त्तनमासीत्, तदा साधूनां तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्, कालिकग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथा सर्वानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, तत आरभ्य, आर्यरक्षितेभ्यः समारभ्येत्यर्थः, कालिकश्रुते दृष्टिवादे चानुयोगानां पृथक्त्वं–ग्रन्थविभागेन विभागोऽभवदिति ॥ अथ क एते आर्यवज्रा इति स्तवद्वारेण तेषामुत्पत्तिमभिधित्सुराह—

तुंबवणसंनिवेसाउ निग्गयं पिउसगासमल्लीणं। छम्मासिअं छसु जयं माऊइ समन्निअं वंदे ॥ ७६४ ॥

तुम्बवनसन्निवेशात् निर्गतं पितृसकाशमालीनं षण्मासिकं षट्सु जीवनिकायेषु यतं–प्रयत्नवन्तं मात्रा च समन्वितं वन्दे। एष गाथासमुदायार्थः, अवयवार्थस्तु कथानकादवसेयः,—वइरसामी पुव्वभवे सक्कस्स देवरण्णो वेसमणस्स सामाणिओ आसि, इतो य भयवं वद्धमाणसामी पिट्ठचंपाए नयरीए सुभूमिभागे उज्जाणे समोसढो, तत्थ य सालो राया महासालो जुवराया, तेसिं भगिणी जसमई, तीसे भत्ता पिडरो, पुत्तो य से गागली नाम कुमारो, ततो सालो भयवतो समीवे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ १६३ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७६३ ॥ एव वर्तते

*** अत्र वज्रस्वामी, आर्यरक्षित आदीनां कथानक विस्तरेण आरभ्यते

धम्मं सोऊण भणइ–जं नवरं महासालं रज्जे अहिसिञ्चेमि, तओ तुज्झं पायमूले पवयामि, तेण गंतूण भणितो महासालो–राया भवसु, अहं पवयामि, सो भणइ–अहंपि पवयामि, जहा तुज्झे इहं पमाणं तहा पवइयस्सवि, ताहे गागली कंपिल्लपुराओ आणेउं रज्जे अहिसित्तो, तस्स माया जसमई कंपिल्लपुरे नयरे दिन्निया पिढरस्स रायपुत्तस्स, तेण ततो सद्दाविओ, सो पुण तेसिं दो सीवियाओ कारेइ, जाव ते पवइया, सावि तेसिं भगिणी समणोवासिया जाया, तेवि समणा संता एक्कारस अंगाइं अहिज्जिआ, अन्नया भयवं रायगिहे समोसढो, ततो निग्गतो चंपं पहावितो, ताहे सालमहासाला सामिं आपुच्छंति–अम्हे पिट्ठचंपं वच्चामो, जइ नाम कोइ तेसिं पवएज्जा सम्मत्तं वा लभेज्जा, सामी जाणइ–जहा ताणि संबुज्झिहिंति, ताहे तेसिं सामिणा गोयमसामी बिइज्जओ दिन्नो, सामी चंपं गतो, गोयमसामीवि पिट्ठचंपं गओ, तत्थ समोसरणं, गागली पिठरो जसवई य निग्गयाणि, भगवं धम्मं कहेइ, ताणि धम्मं सोऊण परमसंविग्गाणि जायाणि, गागली नियपुत्तं रज्जे अहिसिंचिऊण मायापिइसहितो पवइओ, गोयमसामी ताणि घेत्तूण चंपं वच्चइ, तेसिं सालमहासालाण पंथं वच्चंताणं हरिसो जातो, जहा संसाराओ एयाणि उत्तारियाणि, एवं तेसिं पवड्ढमाणेण सुभेणं अज्झवसाणेणं केवलनाणं समुप्पण्णं, इयरेसिंपि चिंता जाया, जहा अम्हे एएहिं रज्जे ठवियाणि, पुणरवि धम्मे ठविऊणं संसारातो मोइयाणि, एवं चिंतेंताणं सुभेणं अज्झवसाणेणं तिण्हवि केवलनाणमुप्पण्णं, एवमेयाणि उप्पन्ननाणाणि चंपं गयाणि, सामिं पयाहिणं करेऊण तित्थं नमिऊण केवलिपरिसं धावियाणि, गोयमसामीवि भयवं वंदिऊण तिक्खुत्तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पाएसु पडिओ, उट्ठिओ भणइ– कहिं वच्चह ?, एह तित्थगरं वंदह, ताहे सामी भणइ–गोयमा ! मा केवली आसाएहि, ताहे आउट्टो खामेइ, संवेगं च गतो, तत्थ गोयमसामिस्स संका जाया, माऽहं न सिज्झेज्जामित्ति ।

इतो य अणागए गोयमसामिम्मि सामिणा पुव्वं वागरियं, जहा–जो धरणिगोयरो अट्ठावयं विलग्गइ चेइयाणि य वंदइ सो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, तं च देवा अण्णमण्णस्स कहिंति, तओ गोयमसामी तं देववयणं सुणिय पुव्वमाभोगिऊण चिंतेइ–अट्ठावयं वच्चामि, तस्स हियया कूयं जाणिऊण तावसा संबुज्झिस्संति एयस्सवि धीरया भविस्सइत्ति भणइ—वच्च गोयम ! अट्ठावयं चेइयवंदओ, ताहे भगवं गोयमो हट्ठतुट्ठो सामिं वंदित्ता गओ अट्ठावयं, तत्थ य अट्ठावए जणवायं सोऊण तिन्नि तावसा पत्तेयं पंचसयपरिवारा अट्ठावयं विलग्गामीति तत्थ किलिस्संति, तंजहा—कोडिन्नो दिन्नो सेवालो, कोडिन्नो सपरिवारो चउत्थं चउत्थं काऊण पच्छा मूलकंदाणि आहारेइ सचित्ताणि, सो पढमं मेहलं विलग्गो, दिन्नो छट्ठं छट्ठं काऊण परिसडियपंडुपत्ताणि आहारेइ, सो बिइयं मेहलं विलग्गो, सेवालो अट्ठममट्ठमं काऊण जो सेवालो सयमचित्तीभूओ तमाहारेइ, सो तइयं मेहलं विलग्गो, एवं ते ताव किलिस्संति, इओ य भगवं गोयमसामी ओरालसरीरो हुयवहतडितरुणरविकिरणतेओ एइ, ते तं एज्जंतं पासिऊण भणंति—एस किर एत्थ थुलओ समणो विलग्गिहिइ जं अम्हे महातवस्सी सुक्का भुक्खा न तरामो विलग्गिउं, भयवं च गोयमो जंघाचारणलद्धीए लूयापुडगंपि निस्साए उड्ढं उप्पयइ, तं उप्पयंतं ते पलोयंति, एस आगतो एस अदंसणं गतोत्ति, एवं ते तिन्निवि विम्हिया पसंसंति, अच्छंति य पलोएंता

Jain Education Interna For Private & Personal Use Only mainelibrary.org

जइ ओयरइ तो एयस्स वयं सीसा। सामीवि चेइयाइं वंदित्ता उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे पुढविसिलापट्टए असोगवरपाय-वस्स अहे तंरयणिं वासाए उवगतो।

इतो य सक्कस्स लोगवालो वेसमणो अट्ठावए चेइयवंदओ आगतो, चेइयाणि वंदित्ता गोयमसामिं वंदइ, तओ से भगवं धम्मकहाऽवसरे अणगारगुणे परिकहेइ, जहा भयवंतो साहवो अंताहारा पंताहारा एवमाइ, वेसमणो चिंतेइ-एरिसे साहुगुणे वन्नेइ, अप्पणो य से इमा सुकुमारसरीरया जा देवाणवि नत्थि, तओ भयवं तस्साकूयं नाऊण पुंडरीयं नाम अज्झयणं परूवेइ, जहा पुक्खलावइविजए पुंडरिगिणी नगरी, नलिणगुम्मं उज्जाणं, तत्थ णं महापउमो नाम राया, पउमावई देवी, ताणं दो पुत्ता–पुंडरीए कंडरीए य, पुंडरीए जुवराया। तेणं कालेणं तेणं समएणं नलिणगुम्मे उज्जाणे थेरा समोसढा, महापउमो निग्गतो, धम्मो सुतो, परमसंविग्गो जातो, ततो पुंडरीयं रज्जे ठवेइ, कंडरीयं जुव-रज्जे, ततो पुंडरीयरायमापुच्छित्ता महाविभूईए पव्वइए, चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जइ, विचित्तं तवोकम्मं करेइ, एवं बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं परिपालिऊण मासियाए संलेहणाए सिद्धे। अण्णया ते थेरा पुव्वाणुपुव्वीए विहरमाणा पुंडरगि-णीए नयरीए समोसढा, पुंडरीए राया कंडरीएण जुवरण्णा सद्धिं समागओ, पुंडरीओ सावगधम्मं पडिवन्नो, कंडरीए जुवराया धम्मं सोच्चा संसारभीओ जातो, ततो गिहमागए पुंडरीयं रायमापुच्छइ–तुब्भेहिं अब्भणुन्नाओ पव्वयामित्ति, तओ पुंडरीए राया बहूहिं विसयाणुलोमाहिं विसयपडिकूलाहि य संजमउव्वेयकराहि य पण्णवणाहिं कंडरीयं पन्नवेइ, जहा नाय-धम्मकहासु जाव नो संचाएइ पण्णविउं, ताहे अकामगे चेव निक्खमणमहिमं करेइ, कंडरीओऽवि पव्वइतो संतो सामा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

इयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठममाइएहिं तवोकम्मेहिं विहरइ। अन्नया तस्स कंडरीयस्स अंतपंताहारेहिं दाहरोगो जातो, ते य थेरा भगवंतो विहरमाणा पुणोवि पुंडरगिणीए नयरीए नलिणवणे समोसढा, पुंडरीए राया आगए, धम्मं सोच्चा जेणेव कंडरीए अणगारे तेणेव उवागच्छइ, कंडरीयं वंदइ नमंसइ, कंडरीयस्स सरीरं सरुयं सवाबाहं पासइ, ततो थेरे भगवंते वंदिऊण एवं वयासी–अहन्नं भंते! कंडरीयस्स अणगारस्स अहापवत्तेहिं तिगिच्छगेहिं फासुएसणिज्जेहिं ओसहभेसज्जभत्तपाणेहिं तिगिच्छं करेमि, तुज्झे मम जाणसालासु समोसरह, ततो णं ते थेरा पुंडरीयस्स रण्णो एवमट्ठं पडिसुणेंति, जाणसालासु विहरंति, पुंडरीए कंडरीयस्स तेगिच्छं करिंति, तते णं तं मणुन्नं आहारमाहारेंतस्स समाणस्स से रोगायंके खिप्पामेव उवसंते हट्ठे जाए, तहावि मणुण्णंसि असणे पाणे खाइमे साइमे मुच्छिए णो संचाएइ बहिया अब्भुज्जयविहारेणं विहरित्तए, तए णं से पुंडरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव कंडरीए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता कंडरीयं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता एवं वयासी–धन्नोऽसि णं तुमं देवाणुप्पिया! सपुण्णोसि णं तुमं रज्जं रट्ठं अंतेउरं चइत्ता पव्वइए, अहन्नं अधण्णे अकयपुण्णे अणेगजाइजरामरणसोगसारीरमाणसपकामदुक्खवेयणावसणसयोवद्दवाभिभूए रज्जे रट्ठे अंतेउरे य मुच्छिए नो संचाएमि पव्वइउं, तए णं से कंडरीए पुंडरीएणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए चिट्ठइ, तए णं से पुंडरीए दोच्चंपि तच्चंपि वारं एवं पण्णवेइ, तओ अकामगे चेव लज्जाए पुंडरीयं रायमापुच्छित्ता थेरेहिं सद्धिं विहरइ, थेरेहिं किंचिकालं उग्गंउग्गेणं विहारेणं विहरमाणे समणत्तणनिविण्णे समणगुणमुक्कजोगी थेराणं अंतियाओ निग्गंतूण पुंडरीगिणीए नयरीए पुंडरीयस्स रण्णो भवणे असोगवरपायवस्स हेट्ठा पुढविसिलापट्टए उवागच्छइ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ ओहयमणसंकप्पे अच्छइ । तए णं पुंडरीयस्स धाती तत्थ आगच्छइ, सा तं तहा पासिऊण पुंडरीयस्स साहइ, सेवि य णमंतेउरपरिवारसंपरिवुडे तत्थ आगच्छइ २ तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेत्ता एवं वयासी–धन्नोसि णं तुमं देवाणुप्पिया ! इच्चाइ तं चेव जाव तच्चंपि भणिओ, तुसिणीए चिट्ठइ, तओ पुंडरीओ भणइ–अट्ठो भंते ! भोगेहिं ?, सो भणइ–हंता ! अट्ठो, तते णं कोडुंबियपुरिसे सद्दावित्ता पावपंकेणेव रायाभिसेएण अभिसित्तो, पुंडरीओ सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेत्ता चाउज्जामं धम्मं पडिवज्ज कंडरीयस्स आयारभंडं सव्वसुभसमुदयंपिव गेण्हइ, गिण्हित्ता इमं घोरमभिग्गहं पडिवज्जइ–कप्पइ मे थेराणं अंतिए चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जित्ता पच्छा आहारित्तए, तओ थेराभिमुहे निग्गए । कंडरीओवि रसलोलुयाए पणीयं पाणभोयणं आहारेइ, तं च तस्स नो सम्मं परिणयं, उज्जला वेयणा पाउब्भूया, तओ से रज्जे रट्ठे अंतेउरे य गाढमुच्छिए अकामए कालं किच्चा सत्तमपुढवीए तेत्तीससागरोवमठिइओ नेरइओ जाओ । पुंडरीएवि य णं थेरे पप्प तेसिं अंतिए दोच्चंपि चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ, तओ छट्ठक्खमणपारणगे अंते पंते सीयले पाणभोयणे आहारिए, तेण य कालाइक्कंतसीयललुक्खअरसविरसेण अपरिणएण वेयणा दुरहियासा जाया, तओ णं सो अधारणिज्जमिदं सरीरगंतिकट्टु करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–नमोत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं, नमोत्थु णं थेराणं भयवंताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोवएसगाणं, पुव्विंपि य णं मए थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइवाते पच्चक्खाते जाव सव्वे परिग्गहे पच्चक्खाते, इयाणिंपि य णं तेसिं चेव भयवंताणं अंतिए सव्वं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, जंपि य इमं सरीरगं इयंपि चरमेहिं ऊसासनीसासेहिं वोसिरामि, एवं आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालं किच्चा सव्वट्ठ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धे तेत्तीससागरोवमाऊ देवो जाओ, तओ चइत्ता महाविदेहे सिज्झिहिइ । तं मा तुमं दुब्बलत्तं बलियत्तं वा गेण्हाहि, जहा कंडरीओ तेणं दोब्बलेणं अट्टदुहट्टो कालगओ सत्तमीए उववन्नो, पुंडरीओ पुण पडिपुण्णगलकवोलो सवट्ठसिद्धे उववण्णो, एवं देवाणुप्पिया ! बलिओ दुब्बलो वा अकारणं, एत्थ झाणनिग्गहो कायवो, झाणे निग्गहो परमं पमाणं, तओ वेसमाणो अहो भगवया मम हियथाकूयं नायंति आउट्टो संवेगमावण्णो वंदित्ता पडिगओ, तत्थेव वेसमणस्स एगो सामाणिओ देवो, तेण तं पुंडरीयज्झयणं ओगहियं पंच सयाणि, सम्मत्तं च पडिवन्नो, केई भणंति–सो जंभगो । ताहे भयवं विइयदिवसे चेइयाणि वंदित्ता पच्चोरुहइ, ते य तावसा भणंति–तुब्भे अम्हं आयरिया, अम्हे तुब्भं सीसा, सामी भणइ–तुम्ह य अम्ह य लोगगुरू आयरिया, ते भणंति–तुज्झवि अन्नो आयरिओ ?, ताहे सामी भयवओ गुणसंथवं करेइ, ते पव्वाविया, देवयाए लिंगाणि उवणीयाणि, ताहे ते भगवया सद्धिं वच्चंति, भिक्खवेला य जाया, भयवं भणइ—किं आणिज्जउ पारणगंति ?, ते भणंति—पायसो, भयवं च सबलद्धिसंपन्नो पडिग्गहं घयमहुसंजुत्तस्स भरित्ता आगओ, ताहे भणिया–परिवाडीए ठाह, ते ठिया, भयवं च अक्खीणमहाणसिओ, ते उद्धट्ठिया, पच्छा अप्पणा जिमिओ, तओ ते सुट्ठुयरमाउट्टा, तेसिं च सेवालभक्खाणं पंचण्हवि सयाणं जेमंताणं गोयमसामिणो तं लद्धिं पासिऊण केवलनाणमुप्पण्णं, दिन्नस्स पुण सपरिवारस्स भगवओ छत्ताइच्छत्तं पेच्छंतस्स, कोडिण्णस्स सपरिवारस्स सामिं दट्ठूण केवलनाणं समुप्पण्णं, भयवं गोयमसामी पुरओ पकड्ढमाणो सामिं पयाहिणीकरेइ, तेवि केवलिपरिसं पधाविया, गोयमसामी भणइ–एह सामिं वंदह, सामी भणइ–गोयम ! मा केवली आसाएहि, गोयमसामी आउट्टो मिच्छामिदुक्कडं करेइ, तओ गोयमसामिस्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

सुदुयरं अद्धिइं जाया, ताहे सामी गोयमं भणइ–किं देवाणं वयणं गेज्झं उयाहु जिणवराणं ?, गोयमो भणइ–जिणवराणं, कीस अद्धिइं करेसि ?, ताहे सामी चत्तारि कडे पन्नवेइ, तंजहा–सुंबकडे विदलकडे चम्मकडे कंबलकडे, एवं सीसावि सुंबकडसमाणा जाव कंबलकडसमाणा, तुमं च मम गोयमा कंबलकडसमाणो, किंच–चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा !, पण्णत्तीआलावगा भाणियवा, जाव अविसेसामणाणत्ता भविस्सामो, ताहे गोयमनिस्साए दुमपत्तं णाम अज्झयणं पन्नवेइ । देवोऽवि वेसमणो ततो चइत्ता अवन्तिजणवए तुंबवणसन्निवेसे धणगिरी नाम इब्भपुत्तो, सो य सड्ढो पवइउकामो, तस्स मायापियरो वारंति, पच्छा सो जत्थ जत्थ वरिज्जइ तत्थ तत्थ ताणि विप्परिणामेइ जहाऽहं पवइउकामो, इओ य धणवालस्स इब्भस्स दुहिया सुनंदा नाम, सा भणइ–ममं देह, सा तस्स दिन्ना, तीसे य भाया अज्जसमिओ पुवं पवइओ सीहगिरिसगासे, तीसे य सुनंदाए कुच्छिंसि सो देवो उववन्नो, ताहे भणइ धणगिरी–एस ते गब्भो विइज्जओ होहिइत्ति सीहगिरिसगासे पवइओ, इमोऽवि नवण्हं मासाणं दारगो जातो, तत्थ महिलाहिं आगयाहिं भण्णइ–जइ से पिया न पवइतो होंतो ता लट्ठं होंतं, सो सन्नी जाणइ–जहा मम पिया पवइतो, तस्सेवं अणुचिंतेमाणस्स जाइसरणं समुप्पण्णं, ताहे रत्तिं दिवा य रोवइ, जेण सा निविज्जइ, ततो सुहं पवइस्संति, एवं छम्मासा वच्चंति । अण्णया आयरिया समोसढा, ताहे अज्जसमिओ धणगिरी य आयरियमापुच्छंति, जहा सन्नायगाणि पेच्छामोत्ति संदिसावेंति, सउणेण य वाहियं, आयरिएहिं भणियं–महंतो लाभो, जं अज्ज सचित्तं वा अचित्तं वा लभह तं सवं लएह, ते गया, उवसग्गिउमारद्धा, अण्णाहिं महिलाहिं भण्णइ–एयं से दारगं णीणेहि, तो कहिं नेहिस्सि ?, पच्छा ताए भणियं–मए एव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

इयं कालं संगोवितो, एत्ताहे तुमं संगोवेहि, ततो तेण भणियं–मा ते पच्छातावो भविस्सइ, ताहे सक्खीकाऊण गहितो छम्मासितो, ताहे तेण चोलपट्टेण पत्तावंधिओ, न रोवइ, जाणइ सन्नी, ताहे तेसु उवस्सयं आगएसु आयरिएहिं भाणं भारियंति हत्थो पसारितो, दिन्नो, हत्थो भूमिं पत्तो, भणंति– अज्जो ! नज्जइ वइरंति, जाव मुक्कं, पेच्छंति देवकुमारोवमं दारगं, भणंति य–सारक्खह दारगं एयं, पवयणस्स आहारो एसोत्ति, तत्थ से वइरो चेव नामं कयं, ताहे संजईण दिन्नो, ताहिं सेज्जायरकुले, सेज्जायरगाणि जाहे अप्पणगाणं चेडरूवाणं पीहगं वा पहाणं वा मंडणगं वा करेंति ताहे सव्वं तस्स करेंति, जाहे उच्चाराई आयरइ ताहे आगारं दंसेइ कूवेइ वा, एवं संवड्ढइ, फासुयपडोयारो तेसिं इट्ठो, साहूवि बाहिं विहरंति, ताहे सा सुनंदा पमग्गिया, तातो निक्खेवगोत्ति न देंति, सा आगया थणं देइ, एवं तिवरिसो जातो । अण्णया साहू विहरंता आगया, तत्थ राउले ववहारो जातो, सो धणगिरी भणइ– मम एयाइ दिन्नं, तो नगरं सुनंदाए पक्खियं, ताए बहूणि खेलगाणि गहियाणि, रन्नो पासे ववहारे च्छेदो, तत्थ पुव्वहुत्तो राया दाहिणतो संघो सयणपरियणो वामपासे नरवइस्स, तत्थ राया भणइ–मम के अप्पगा ? के परे ?, जतो चेडो जाइ तस्स भवतु, तेहिं पडिस्सुयं, को पढमं वाहरउ ?, पुरिसोत्तमो धम्मोत्ति पुरिसो वाहरउ, ताहे नगरजणो आह—एएसिं परिचिओ, माया सद्दावउ, अविय–माया दुक्करकारिया, पुणो य पेलवसत्ता, तम्हा एसा चेव वाहरउ, ताहे आसहत्थिरहउसभेहिं मणिकणगरयणचित्तेहिं बालभावलोभावगेहिं भणइ–एहि वयरसामी !, ताहे पलोएंतो अच्छइ, चिंतेइ य–जइ संघं अवमन्नामि तो दीहसंसारिओ भविस्सामि, अविय—एसावि पव्वइस्सति, एवं तिण्णि वारे सद्दावितो ण एइ, ताहे से पिया भणइ–जइ सि कयव्ववसातो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मज्झयभूसियं इमं वइर ! । गेण्ह लहुं रयहरणं कम्मरयपमज्जणं धीर ! ॥ १ ॥ ताहे तेण तुरियं गंतूण गहियं, लोगेण 'जयइ धम्मो'त्ति उक्किट्ठिसीहनादो कतो, ताहे सा माया चिंतेइ–मम पई भाया पुत्तो य पवइतो, अहंपि किं अच्छामि ?, एवं सावि पवइया।

जो गुज्झगेहिं बालो निमंतिओ भोयणेण वासंते । नेच्छइ विणीयविणओ तं वइररिसिं नमंसामि ॥ ७६५ ॥

यो बालः सन् गुह्यकैर्देवैर्वर्षति सति, पर्जन्य इति गम्यते, भोजनेन निमन्त्रितो, नेच्छति विनीतविनयो, वर्त्तमाननिर्देशस्त्रिकालविषयं सूत्रमिति प्रदर्शनार्थः, पाठान्तरं वा 'नेच्छंसु विणयजुत्तो' इति, 'तं वइररिसिं नमंसामि' तं वज्रऋषिं नमस्यामि, एष गाथासमुदायार्थः, अवयवार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–सो जाहे थणं न पियइ ताहे पव्वावितो, साहुणीण चेव पासे अच्छइ, तेण तासिं पासे एक्कारस अंगाणि कण्णाहेडेण गहियाणि, पयाणुसारी सो भयवं, ताहे अट्ठवरिसओ संजइपडिस्सयाओ निक्कालिओ, आयरियसगासे अच्छइ, आयरिया य उज्जेणिं गया, तत्थ अहोधारं वासं पडइ, तया से पुव्वसंगइया जंभगा तेणंतेणं वोलेंता तं पेच्छंति, ताहे परिक्खानिमित्तमोइण्णा, वाणियगरूवेण बलदेत्ता उवक्खडंति, सिद्धे निमंतंति, ताहे पट्टितो जाव कणगफुसियमत्थि ताहे पडिनियत्तइ, ताहे संठाइ, पुणो सद्दावेंति, ततो वइरो गंतूण भिक्खाए निण्णियाए उवउत्तो–दवतो पूसफलाइ खेत्ततो उज्जेणी कालओ पाउसो भावतो धरणिछिवणनयणनिमेसाइरहिया पहट्ठा तुट्ठा य, ताहे देवत्ति काऊण नेच्छइ, देवा तुट्ठा भणंति–तुमं दट्ठुमागया, पच्छा वेउवियविज्जं देंति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उज्जेणीए जो जंभगेहिं आणक्खिऊण थुअमहिओ । अक्खीणमहाणसिअं सीहगिरिपसंसियं वंदे ॥ ७६६ ॥

उज्जयिन्यां यो जृम्भकैर्देवविशेषैः 'आणक्खिऊण'त्ति परीक्ष्य 'स्तुतमहितः' स्तुतो वाक्स्तवेन महितो विद्यादानेन, अक्षीणमहानसिकं सीहगिरिप्रशंसितं वंदे इति गाथाक्षरार्थः ॥ भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—

पुणरवि अन्नया जेट्ठमासे सण्णाभूमिं गयं धयपुण्णेहिं निमंतंति, तत्थवि दवाइउवओगो, निच्छियं, तत्थ से नहगामिणी विज्जा दिण्णा, एवं सो विहरइ । ताणि य पयाणुसारिगहियाणि एक्कारस अंगाणि संजयाणं मूले थिरतराणि जायाणि, तत्थवि जो अज्झाइ उवरिल्लं पुवगयं तंपि सवं गिण्हइ, एवं तेण बहुयं गहियं, जाहे वुच्चइ–पढाहि, ताहे सो एंतगंपि कुट्टंतो अच्छइ अण्णं सुणंतो, अन्नया आयरिया मज्झण्हे साहूसु भिक्खं निग्गएसु सण्णाभूमिं गया, वइरसामीवि पडिस्सयवालो अच्छइ, सो तेसिं साहूणं वेंटियातो मंडलीए रइत्ता मज्झे अप्पणा ठाउं वायणं देइ, ताहे परिवाडीए एक्कारसवि अंगाणि वाएइ पुवगयं च, ताव आयरिया आगया चिंतंति–लहुं साहू आगया, सुणइ सद्दं मेघोघरसियं, वहिया सुणंता अच्छंति, नायं जहा वइरोत्ति, पच्छा ओसरिऊण पुणो सद्दपडियं निसीहियं करेंति, मा से संका भविस्सइ, ताहे तेण तुरियं वेंटियाओ सट्ठाणे ठवियातो, निग्गंतूण दंडयं गेण्हइ पाए य पमज्जइ, ताहे आयरिया चिंतेंति— मा एयं साहू परिभविस्संति तो जाणावेमि, ताहे रत्तिं आयरिया साहू आपुच्छंति–जहा अमुगं गामं वच्चामो, तत्थ दो तिन्नि वा दिवसे अच्छिस्सामो, तत्थ जोगपडिवन्नगा भणंति–अम्हं को वाणारिओ ?, आयरिया भणंति–वइरोत्ति, तेहिं विणीएहिं तहत्ति पडिसुयं, आयरिया गया, साहवोऽवि पडिलेहित्ता कालनिवेयणादि वइरस्स करेंति, ततो सवंमि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करणिज्जे कए पच्छा से निसज्जा रइया, सोऽवि भयवं निविट्ठो, तेऽवि जहा आयरियस्स तहा विणयं पउंजंति, ताहे सो तेसिं करकरस्स सव्वेसिं अणुपरिवाडीए आलावगे देइ, जेऽवि मंदमेहावी तेऽवि सिग्घं पट्ठविउमारद्धा, ततो ते विम्हिया, जोवि एइ आलावगो पुव्वट्ठितो तंपि विण्णासणत्थं पुच्छंति, सोऽवि सव्वं आइक्खइ, तेऽवि तुट्ठा भणंति–जइ आयरिया कइवयाणि दियहाणि अच्छेज्जा तो एस सुयक्खंधो लहुं समप्पेज्जा, जं आयरियसगासे चिरेण परिवाडीए गेण्हंति तं इमो एक्काए पोरिसीए सारेइ, सो य तेसिं बहुमतो जातो, आयरियावि जाणाविउत्ति काउं आगया, अवसेसं वरं अज्झाविज्जउत्ति, पुच्छंति य आयरिया साहुणो–सरिओ सज्झाओ?, ते भणंति–सरिओ, एस चेव अम्हाण वाणायरिओ भवतु, आयरिया भणंति–होहिइ, मा तुब्भे एयं परिभविस्सहत्ति तुज्झं जाणावणनिमित्तमहं गतो, न पुण एस कप्पो, जतो एएण सुयं कण्णाहेडएण गहियं, अतो एयस्स उस्सारकप्पो करेयवो, तो सिग्घमुस्सारेंति, विइयपोरिसीए अत्थं कहेति, तदुभयकप्पजोग्गत्तिकाऊण, जे य अत्था आयरियस्सवि संकिया तेऽवि तेण उग्घाडिया, जावइयं दिट्ठिवायं जाणंति तत्तिओ गहिओ, ते विहरंता दसपुरं गया, उज्जेणीए भद्दगुत्ता नाम आयरिया थेरकप्पट्ठिया, तेसिं दिट्ठिवाओ अत्थि, संघाडओ से दिन्नो, ताहे अइगतो भद्दगुत्ताणं पासे, भद्दगुत्ता य थेरा सुविणयं पासंति पाभाइयं, ततो पभाते साहूण साहेंति, जहा मम पडिग्गहो खीरभरितो, सो आगंतूण सीहपोयएण पीतो लेहिओ य, तस्स किं फलं होज्जा ?, ते अण्णमण्णाणि अयाणंता वागरेंति, गुरू भणंति–न जाणह तुज्झे, मम पडिच्छओ एहिइ, सो सव्वं सुत्तं अत्थं च वेच्छिहिइ, भयवंपि बाहिरियाए वुत्थो, पभाए आगतो, दिट्ठो, सुयपुव्वो एस, सो वइरो, वुड्ढेहिं उवगूहिओ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताहे तस्स सगासे दस पुव्वाणि पढियाणि, तो अणुण्णानिमित्तं जहिं चेव उड्ढो तहिं चेव अणुजाणियव्वोत्ति दसपुरमागया, तत्थ अणुण्णा आरद्धा, नवरि देवेहिं अणुण्णा उवट्टविया, दिव्वाणि पुप्फाणि चुण्णाणि से उवणीयाणि। अमुमेवार्थं चेतस्यारोप्य ग्रन्थकृदाह—

जस्स अणुन्नाए वायगत्तणे दसपुरम्मि नयरम्मि। देवेहिं कया महिमा पयाणुसारिं नमंसामि ॥ ७६७ ॥

यस्य समनुज्ञाते वाचकत्वे–आचार्यत्वे दशपुरे नगरे देवैर्जृम्भकैः कृता महिमा–पूजा तं वज्रार्षं पदानुसारिणं नमस्यामि। अण्णया सीहगिरी वइरस्स गणं दाऊण भत्तं पच्चक्खाइय देवलोगं गतो, वइरसामीवि पंचहिं अणगारसएहिं संपरिवुडो विहरइ, जत्थ २ वच्चइ तत्थ २ ओरालकित्तिवन्नसद्दा परिभमंति–अहो भयवं भवियजणविबोहणं करेंतो विहरइ। इतो य-पाटलिपुत्ते नयरे धणो सेट्ठी, तस्स धूया अतीव रूववती, तस्स य जाणसालाए साहुणीओ ठियातो, तातो पुण वइरस्स गुणसंथवं करेंति, सहावेण य कामियकामतो लोओ, सिट्ठिधूया चिंतेइ–जइ सो मम पती होज्जा ताऽहं भोगे भुंजिस्सं, इयरहा अलं भोगेहिं, वरगा एंति, सा पसेहावेइ, ताहे साहिंति पव्वइयाओ–न परिणेइ, सा भणइ–जइ न परिणेइ अहंपि पव्वज्जं गेण्हिस्सं, भयवंपि विहरंतो पाडलिपुत्तमागतो, तत्थ राया सपरिजणो अम्मोगइयाए निग्गतो, ते पव्वइयगा फड्डगेहिं एंति, तत्थ बहवे ओरालियसरीरा, राया पुच्छइ–इमो भयवं वइरसामी ?, ते भणंति–न भवइ इमो, किंतु तस्स सीसो, जाव अपच्छिमं वंदं, तत्थ पविरलसाहुसहिओ दिट्ठो, आयरियाण पडिरूवो, राया पाएसु पडितो, ताहे उज्जाणे ठिया, धम्मो कहितो, खीरासवलद्धी भयवं, राया इयहियतो कतो, अंतेउरे साहति, ताओ भणंति–अम्हेवि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वच्चामो, सवं अंतेउरं निग्गयं, सा य सेट्ठिधूया लोगस्स पासे सुणित्ता किह पिच्छिज्जामित्ति चिंतेंती अच्छइ, विइयदिवसे पिया विन्नवितो–तस्स देहि, अह नवि अप्पाणं विवाएमि, ताहे सवालंकारविभूसिया अणेगाहिं धणकोडीहिं सह नीणिया, धम्मो कहितो, भयवं च खीरासवलद्धिओ, लोगो भणइ–अहो सुस्सरो भयवं, सवगुणसंपन्नो, नवरं रूवविहूणो, जइ रूवं होंतं सवगुणसंपया होंता, भयवं तेसिं मणोगयं नाउं तत्थ सयसहस्सपत्तं पउमं विउवइ, तस्स उवरिं निविट्ठो, रूवं विउवइ अतीव सोमं, जारिसं परं देवाणं, लोगो आउट्टो भणइ–एयं एयस्स साभावियं रूवं, मा पत्थणिज्जो होहामित्तिविरूवेण अच्छति सातिसउत्ति, रायावि भणइ–अहो भयवतो एयमवि अत्थि, ताहे अणगारगुणे वच्चेइ, पभू असंखेज्जदीवसमुद्दे विउवित्ता आइण्णविप्पइण्णे करेत्तए, ताहे तेण रूवेण धम्मं कहेइ, ततो सेट्ठिणा निमंतिता, भयवंपि विसए निंदइ, भणइ–जइ ममं इच्छइ तो पवयउ । अमुमेवार्थं हृदि व्यवस्थाप्य आह—

जो कन्नाइ धणेण य निमंतिओ जुवणम्मि गिहवइणा । नयरम्मि कुसुमनामे तं वइररिसिं नमंसामि ॥७६८॥

यः कन्यया धनेन च यौवने निमन्त्रितो गृहपतिना–धनेन, क ?, नगरे कुसुमनाम्नि, पाटलिपुत्रे इत्यर्थः, तं वज्रार्षिं नमस्यामि ॥ तेण य भगवता पयाणुसारित्तणओ पभुट्ठा महापरिण्णातो अज्झयणातो आगासगामिणी विज्जा उद्धरिया, तीए गयणगमणलद्धिसंपन्नो भयवंति । उक्तमर्थं मनस्याधायाह—

जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ । वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअधराणं ॥ ७६९ ॥

येनोद्धृता विद्या 'आगासगम'त्ति गमनं गमः, आकाशेन गमो यस्यां सा आकाशगमा, महापरिज्ञातो–महापरिज्ञानामका-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्ययनात्, तमार्यवज्रं–आरात् सर्वाहेयधर्म्येभ्यो यातः–प्राप्तः सर्वैरुपादेयगुणैरित्यार्यः, स चासौ वज्रश्चेति आर्यवज्रः तं वंदे,अपश्चिमो यः श्रुतधराणां–दशपूर्वविदाम्। साम्प्रतमन्येभ्योऽधिकृतयाज्ञानिषेधख्यापनाय प्रदाननिराचिकीर्षुस्तदनुवाद-स्तावदिदमाह—

भणइ य आहिंडिज्जा जंबुदीवं इमाइ विज्जाए। गंतुं च माणुसनगं विज्जाए एस मे विसओ ॥ ७७० ॥

भणइ अ धारेअव्वा, नहु दायव्वा इमा मए विज्जा। अप्पिड्ढिया उ मणुआ होहिंति अओ परं अन्ने ॥ ७७१ ॥

भणति च, वर्त्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वत्, आहिंडेत्, पाठान्तरं वा 'आभणिंसु य हिंडिज्जा' इति, बभाण हिंडेत्—पर्यटेत् जम्बूद्वीपमनया, तथा गत्वा च मानुषनगं–मानुषोत्तरपर्वतं, तिष्ठेयमिति वाक्यशेषः, विद्याया एष मे विषयो–गोचरः। भणति चेति पूर्ववत्, धारयितव्या प्रवचनोपकाराय, न पुनर्दातव्या इयं मया विद्या, हुशब्दः पुनःशब्दार्थः, किमित्यत आह—अल्पर्द्धय एव, तुशब्द एवकारार्थः, भविष्यन्त्यतः परमन्ये–भविष्यत्कालभाविनः। सो भयवं एवंगुण-विज्जाजुत्तो विहरंतो पुवदेसातो उत्तरावहं गतो, तत्थ दुभिक्खं जायं, पंथावि वोच्छिन्ना, ताहे संघो उवागतो–भयवं नित्थारेहि, ताहे पडविज्जाए संघो चडितो, तत्थ सेज्जायरो चारीए गओ एइ, ते य उप्पइए पासइ, चिंतेइ य जहा–कोइ विणासो उवट्ठितो ततो संघो जाइ, ताहे सो आसएण सिहिं छिंदित्ता भणइ–अहंपि भयवं लुम्ह साहम्मिओ, ततो सोऽवि विलइतो इमं सुत्तमणुसरंतेणं–'साहम्मियवच्छलंमि उज्जुया उज्जुया य सज्झाए। चरणकरणंमि य तहा तित्थस्स पभावणाए य ॥१॥ इच्चादि, ततो पच्छा भयवं उप्पइतो, पत्तो पुरियं नयरिं,तत्थ सुभिक्खं,तत्थ य सावगा बहुया,तत्थ उत्तिन्ना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राया तत्थ तच्चण्णियसड्ढो, तत्थ अम्हच्चयाण सड्ढाणं तच्चण्णिओवासगाण य महाविरोहो, सव्वत्थ ते उवासगा पराइज्जंति, ताहे तेहिं राया पज्जोसवणाए पुप्फाणि वारावितो, सड्ढा अद्दन्ना जाया नत्थि पुप्फाणित्ति, ताहे सबालबुड्ढा वइरसामिं उवट्ठिया, तुब्भे जाणह जइ तुब्भेहिं संतेहिं पवयणमोहाविज्जइ, एवं बहुप्पगारं भणितो भयवं उप्पइतो, माहेसिरिं गतो, तत्थ हुयासणं नाम वाणमंतरं, तत्थ कुंभो पुप्फाण उट्ठेइ, तत्थ भयवतो पिउमित्तो तडितो, सो संभंतो भणइ–किमागमणपओयणं?, भगवया भणियं–पुप्फेहिं पओयणं, सो भणइ–अणुग्गहो, भयवया भणितो–ताव तुज्झे गहेह जाव एमि, पच्छा चुल्लहिमवंते सिरिसगासं गतो, सिरीए चेइयअच्चणियनिमित्तं पउमं छित्तगं, ताहे वंदित्ता सिरीए निमंतिओ, तं गहाय हुयासणघरं एइ, तत्थ अणेणं विमाणं विउव्वियं, तत्थ कुंभं पुप्फाण छोढूण जंभगगणपरिवुडो दिव्वेणं गीयगंधव्वनिनादेण आगासेण आगतो, तस्स पउमस्स वेंटे वइरसामी ठितो, ततो ते तच्चण्णिया भणंति–अम्हं एयं पाडिहेरं, अग्घं गहाय निग्गया, तं विहारं वोलित्ता अरहंतघरं गया, तत्थ देवेहिं महिमा कया, लोगस्स अतीव बहुमाणो जातो, रायावि आउट्टो समणोवासतो जाओ। उक्तमेवार्थं हृदि निवेश्याह—

माहेसरीउ सेसा पुरिअं नीआ हुआसणगिहाओ। गयणयलमइवइत्ता वइरेण महाणुभागेण ॥ ७७२ ॥

माहेश्वर्या नगर्याः 'शेषा' पुष्पसमुदयलक्षणा पुरिकां नगरीं नीता हुताशनगृहात्–हुताशननामकव्यन्तरदेवसमन्वितोद्यानात्, कथं?–गगनतलमतिव्यतीव्य–अतीवोल्लङ्घ्य वज्रेण महानुभागेन, भागः अचिन्त्या शक्तिः। एवं सो विहरंतो भयवं सिरिमालं गतो। एवं सो नयविसारदो, एवं ताव अपुहुत्तमासी, एत्थ गाहा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो । पुहुत्ताणुओगकरणे ते अत्थ तओ उ वुच्छिन्ना ॥ ७७३ ॥

अपृथक्त्वे सति एकोऽनुयोगश्चत्वारि द्वाराणि–चरणकरणधर्मकालद्रव्याणि भाषते, वर्त्तमाननिर्देशफलं प्राग्वत्, पृथक्त्वानुयोगकरणे पुनस्तेऽर्थाः–चरणादयस्तत एव–पृथक्त्वानुयोगकरणात् व्यवच्छिन्नाः ॥ सम्प्रति येन पृथक्त्वं कृतं तमभिधातुकाम आह—

देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं । जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥ ७७४ ॥

देवेन्द्रवन्दितैर्महानुभागैरार्यरक्षितैर्दुर्बलिकापुष्पमित्रं प्राज्ञमप्यतिगुपिलतयाऽनुयोगस्य विस्मृतसूत्रार्थमवलोक्य युगमासाद्य प्रवचनहिताय विभक्तः–पृथक् पृथग् व्यवस्थापितोऽनुयोगः, ततः कृतश्चतुर्द्धा–चतुर्षु स्थानेषु नियुक्तश्चरणकरणानुयोगादिरिति ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं दसपुरं नाम नयरं, तत्थ सोमदेवो माहणो अट्ठो, तस्स रुद्दसोमा भारिया समणोवासिया, तीसे पुत्तो रक्खतो, तस्स अणुमग्गजातो फग्गुरक्खितो । अच्छंतु ताव अज्जरक्खिया, दसपुरं नगरं कहमुप्पन्नं ?, तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नयरी, तत्थ कुमारनंदी सुवण्णगारो इत्थिलोलो परिवसइ, सो जत्थ सुरूवं दारियं पासइ सुणेइ वा तत्थ पंच सुवण्णसयाणि दाऊण परिणेइ, एवं तेण पंच सयाणि पिंडियाणि, ताहे सो ईसालुओ एगक्खंभं पासायं करेत्ता ताहिं समं ललइ, तस्स मित्तो नागिलो नाम समणोवासओ, अन्नया य पंचसेलगदीववत्थव्वातो वाणमंतरीतो सुरवइनियोगेण नंदीसरवरदीवं जत्ताए पत्थिया, ता ताणं विज्जुमाली नाम पंचसेलाहिवई भत्ता सो चुतो, ततो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र कश्चित् कारणात् द्वे गाथे न दृश्ये, कथानक मध्ये ते द्वे गाथे व्याख्यायेते | हारिभद्रवृतौ तु ते द्वे गाथे वर्तेते एव [गाथा क्रम ७७५,७७६

*** अत्र आर्यरक्षितस्य कथा मध्ये 'उदायनराजर्षि' कथानक वर्णयते

चिंतेंति–कंचि दुग्गाहेमो जो अम्हं भत्ता भवेज्ज, एवं चिंतित्ता पत्थियातो, विइवयंतीओ चंपामज्झेण गच्छंति, ताहिं तहा गच्छंतीहिं चंपाए कुमारनंदी पंचमहिलासयपरिवारो उवललंतो दिट्ठो, ततो चिंतियं–एस इत्थिलोलो, एयं दुग्गाहेमो, ताहे ताहिं उज्जाणगयस्स तस्स अप्पा दंसितो, तातो सो भणइ–काओ तुब्भे ?, ताओ भणंति–देवयातो, सो मुच्छिओ ताओ पत्थेइ, ततो भणंति–जइ ते अम्हाहिं कज्जं ता पंचसेलगं दीवं एज्जाहित्ति भणिऊण उप्पइया, गया य, सो य तासु मुच्छितो रायकुले सुवण्णं दाऊण पडहगं नीणेइ–कुमारनंदिं जो पंचसेलगं नेइ तस्स धणकोडिं देइ, थेरेण पडहो वारिओ, वहणं कारियं, पत्थयणस्स भरियं, थेरो तं दव्वं पुत्ताण दाऊण कुमारनंदिणा सह जाणवत्ते पत्थितो, जाहे दूरं समुद्दमतिगतो ताहे थेरो भणइ–किंचि पेच्छसि ?, सो भणइ–किंचि कालगं, तेण भणियं–एस वडो समुद्दकूले पव्वयपादे जातो, एयस्स हेट्ठेण एयं वहणं जाहिइ, तो तुमं अमूढो वडे विलग्गेज्जासि, ताहे पंचसेलातो भारुंडपक्खी एहिंति, तेसिं जुगलस्स तिन्नि पाया, ततो तेसु सुत्तेसु मज्झिल्ले पाए लग्गो होज्जाहि पडेण अप्पाणं बंधिउं, तो तं पंचसेलयं दीवं नेहिंति, अह तं वडं न लग्गसि तो एयं वाहणं वलयामुहं पविसिहिइ, तत्थ विणस्सिहिसि, एवं सो विलग्गो, नीतो पक्खीहिं, ताहे ताहिं वंतरीहिं भमंतीहिं दिट्ठो, रिद्धी य से दाइया, सो पगूहितो, ततो ताहिं भणितो–न एएण सरीरेण अम्हे भुज्जामो, किंचिज्जलणप्पवेसाइ करेहि, जह पंचसेलगे उववज्जसित्ति, सो भणइ–किह एत्ताहे जामि ?, ताहिं करयलपुडे (गेण्हेत्ता) सए उज्जाणे छड्डितो, ताहे लोगो आगंतूण पुच्छइ, सो भणइ–'दिट्ठं सुयमणुभूयं, जं वित्तं पंचसेलए दीवे' इति, ततो इंगिणिं निविण्णो साहइ, सड्ढो य से मित्तो, तेण वारितो, जहा पव्वज्जाए सुंदरतरा भोगा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वारिज्जंतोऽवि इंगिणिमरणेण मतो पंचसेलाहिवई जातो, सहस्स निवेओ जहा एस अन्नाणी भोगाण कज्जे किलिस्सइत्ति, अम्हे जाणंता कीस अच्छामोत्ति पवइतो, कालं काऊण अच्चुए उववन्नो, ओहिणा तं पेच्छइ। अन्नया नंदीसरवरजत्ताए पलायंतस्स पडहतो गलए ओलइओ, ता वायंतो नंदीसरं गतो, सड्ढो आगतो तं पेच्छइ, सो तस्स तेयं असहमाणो पलायइ, सो तेयं साहरित्ता भणइ–भो ! ममं जाणसि ?, सो भणइ–को सक्काइए इंदे न याणइ ?, ताहे तं सावगरूवं दंसेइ, जाणावितो य, ताहे संवेगमावण्णो भणइ–संदिसह इयाणिं किं करेमि ?, भणइ–वद्धमाणसामिस्स पडिमं करेह, ततो ते सम्मत्तवीयं होहिइ, ताहे महाहिमवंतातो गोसीसचंदणरुक्खं छेत्तूण तत्थ पडिमं निवत्तेऊण कट्ठसंपुडे छुभित्ता स रहसा समागतो समुद्दे, पवहणं पासइ उप्पाइएण छम्मासे भमंतं, ताहे तं उप्पाइयं तेण उवसामियं, सा य खोडी दिन्ना, भणिया य–देवाहिदेवस्स पडिमा कायव्वा, वीयभए उत्तारिया, उदायणो राया तावसभत्तो, तस्स पभावई देवी समणोवासिया, उदायणस्स वाणिएहिं (कहियं–) देवाहिदेवस्स पडिमा करेयव्वा इति, ताहे इंदाईणं कीरइ, परसू न वहइ, पभावतीए सुयं, सा भणइ–वद्धमाणसामी देवाहिदेवो तस्स कीरउ, वाहिओ परसू, विहडियं कट्ठसंपुडं, दिट्ठा पुव्वनिम्मिया भयवतो वद्धमाणसामिस्स पडिमा, अंतेउरे चेइये पभावती ण्हाया तिसंझं अच्चेइ, अन्नया देवी नच्चइ, राया वीणं वाएइ, सो देवीए सीसं न पेच्छइ, अद्धिई से जाया, वीणावायणं हत्थाओ भट्ठं, देवी रुट्ठा, भणइ–किं दुट्ठु नच्चियं ?, निब्बंधे सिट्ठं, सा भणइ–किं मम ?, सुचिरं सावयत्तणमणुपालियं, अन्नया चेडिं ण्हाया भणति–पोत्ताइं आणेहि, ताए रत्तगाणि आणीयाणि, रुट्ठा अद्दाएण आहया, चेइयघरं पविसंतीए रत्तगाणि देसित्ति, आहया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

चेडी मया, ताहे चिंतेइ–खंडियं मए वयं, किं जीविएणंति ?, रायाणं आपुच्छइ––भत्तं पच्चक्खामिंत्ति, निब्बंधे राया भणइ–जइ परं वोहेसि, पडिस्सुयं, भत्तपच्चक्खाणेण मया, देवलोगं गया, जिणपडिमं देवदत्ता दासचेडी खुज्जा सुस्सूसइ, देवो उदायणं संबोहेइ, सो य तावसभत्तो, ताहे देवो तावसरूवं करेइ, अमयफलाणि गहाय आगतो, रण्णा आसाइयाणि, भणितो–कहिं एयाणि फलाणि ?, भणइ–नगरस्स अदूरसामन्ते, तहिं तेण समं गतो, तेहिं पारद्धो, नासंतो वणसंडे साहवो पेच्छइ, तेहिं धम्मो कहितो, संबुद्धो, अत्ताणं दरिसेइ, आपुच्छित्ता गतो जाव अत्थाणीए चेव अत्ताणं पेच्छइ, एवं सड्ढो जातो ।

इओ य गंधारतो सावगो सवातो जम्मभूमीतो वंदित्ता वेयड्ढे कणगपडिमातो सुणित्ता उववासेण ठितो, जइ वा मतो दिट्ठाउ वा, देवयाए दंसियातो, तुट्ठा य सवकामियाण गुलियाण सयं देइ, ततो नितो सुणेइ–वीयभए जिणपडिमा गोसीसचंदणमई, तं वंदओ एइ, वंदइ, तत्थ रोगी जातो, देवदत्ताए पडियरिओ, तुट्ठेण से तातो गुलियातो दिन्नातो, सो पवइतो । अन्नया ताए चिंतियं–मम कणगसरिसो वन्नो भवउत्ति, ततो जच्चकणगवन्ना जाया, पुणो चिंतेइ–भोगे भुंजामि, एस राया ताव मम पिया अन्ने य गोहा, ताहे पज्जोयं रोएइ, तं मणेमि काउं गुलियं खाइ, तस्सवि देवयाए कहियं–एरिसी रूववइत्ति, तेण सुवन्नगुलियाए दूतो पेसिओ, सा भणइ–पेच्छामि ताव तुमं, सो नलगिरिणा रत्तिं आगतो, दिट्ठो, तीए अभिरुइओ, सा भणइ––जइ पडिमं नेसि तो जामि, ताहे पडिमा अन्ना नत्थित्ति रत्तिं वसिऊण पडियतो, अन्नं जिनपडिमरूवं काऊण आगतो, तत्थ ठाये ठविता जीवसामिं सुवण्णगुलियं च गहाय उज्जेणिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

पडिगतो, तत्थ नलगिरिणा मुत्तपुरीसाणि मुक्काणि, तेण गंधेण सवे हत्थी उम्मग्गा जाया, तं च दिसं गंधो एइ, जाव पलोयइ ताव नलगिरिस्स पयं दिट्ठं, किंनिमित्तमागतोत्ति ?, जाव चेडी न दीसइ, चेडी नीया नाम पडिमं पलोएइ, नवरं अच्छइत्ति निवेदियं, अच्चणवेलाए राया आगतो, पेच्छइ पडिमाए पुप्फाणि मिलाणाणि, ततो निवन्नंतेण नायं—पडिरूवगत्ति, हरिया पडिमा, ततो णेण पज्जोयस्स दूतो पेसितो–न मम चेडीए कज्जं, पडिमं विसज्जेहि, सो न देइ, ताहे पधावितो जेट्ठमासे दसहिं राईहिं समं, उत्तरंताण य मरुंमि तिसाए खंधावारो मरिउमाढत्तो, रन्नो निवेदितं, ततोऽणेण पभावती चिंतिया, आगया, तीए तिण्णि पुक्खराणि कयाणि–अग्गिमस्स मज्झिमस्स पच्छिमस्स, ताहे आसत्थो, आगतो उज्जेणिं, भणिओ य पज्जोओ–किं लोगेण मारिएणं ?, तुज्झं मज्झ य जुज्झं भवतु, अस्सेहिं रहेहिं पाएहिं वा जेण रुच्चइ, पज्जोओ भणइ–रहेण जुज्झामो, ताहे नलगिरिणा पडिकप्पिएणागतो, राया रहेण, ततो रण्णा भणितो–असच्चसंधोऽसि, तहावि ते अज्ज नत्थि मोक्खो, ततो णेण रहो भंडलीए दिन्नो, हत्थी वेगेण पत्थितो, रन्ना रहेण दिन्नो (जिओ), ताहे जं जं पायं उक्खिवइ तत्थ तत्थ राया सरे छुभति, जाव हत्थी पडितो, ओयरंतो बद्धो, निडाले य से अंको कओ–उदायणराजदासीपतिरिति, पच्छा नियगं नगरं पधावितो, पडिमा नेच्छइत्ति मुक्का, अंतरा वासेण ओबद्धो ठितो, ताहे उक्खंदभएण दसवि रायाणो धूलीए पागारे करित्ता ठिया, जं च राया जेमेति तं च पज्जोयस्सवि दिज्जइ, नवरं पज्जोसवणाए सूएण पुच्छितो–किं अज्ज जेमेसि ?, ताहे सो चिंतेइ–मारिज्जामि, भणइ–किं अज्ज पुच्छिज्जासि ?, सूओ भणइ–राया अज्ज पज्जोसवणत्ति उववासितो, ततो सोइउमारद्धो–मम मायापिया संजयाणि, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

याणियं मया जहा अज्ज पज्जोसवणत्ति, अहंपि सावओ उववासं करेमि, रण्णो कहियं, राया भणइ–जाणामि जहा सो घुत्तो, किं पुण ?, ममं एयंमि बद्धेल्लए पज्जोसवणं चेव न सुज्झइ, ताहे मुक्को खामितो, पट्टो य से सोवण्णो बद्धो, मा ताणि अक्खराणि दीसिहंतु, सो य से विसओ दिन्नो, तप्पभिई पट्टबद्धगा रायाणो जाया, पुवं मउडबद्धा आसी । वत्ते वासारत्ते राया गतो, तत्थ जो वणियवग्गो आगतो सो तहिं चेव ठितो, ताहे तं दसपुरं जायं, एवं दसपुरमुप्पण्णं, तत्थ उप्पण्णा अज्जरक्खिया । सो य रक्खितो जं पिया से जाणइ तं तत्थेव अहिज्जितो, पच्छा न तीरइ घरे पढिउंति गतो पाडलिपुत्तं,चत्तारि वेदे संगोवंगे अधीतो, सम्मत्तपारायणो साखापारगो जातो, किं बहुणा ?, चोद्दसवि विज्जाठाणाणि गहियाणि, ताहे आगतो दसपुरं, ते य रायकुलसेवगा नज्जंति रायकुले, तेण संविदियं रण्णो कयं जहा एमि, ताहे ऊसियपडागं नगरं कयं, राया सयमेव अम्मोगइयाए निग्गतो, दिट्ठो, सक्कारितो य, अग्गाहारो य से दिन्नो, एवं सो नगरेण सव्वेण अभिनंदिज्जंतो अप्पणो घरं पत्तो, तत्थवि बाहिरंतरिया परिसा आढाइ, तंपि वंदणकलसाइसोभियं, तत्थ बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए ठितो, लोगस्स अग्घं पडिच्छइ, ताहे वयंसया मित्ता य सव्वेण पेच्छया आगया, दिट्ठपरिचिएण नगरजणेण अग्घेण य पूइतो, घरं च से दुपयचउप्पयहिरण्णादिणा भरियं, ताहे चिंतेइ–अम्मं न पेच्छामि, ताहे घरमतिगतो, मायरं अभिवाएइ, ताए भन्नइ–सागयं पुत्तत्ति, पुणरवि मज्झत्था चेव अच्छइ, सो भणइ–किं न अम्मो ! तुज्झ तुट्ठी ?, जेण मए एत्तेणं नगरं विम्हियं चोद्दसण्हं विज्जाठाणाणं आगमे कए, सा भणइ—कहं पुत्त ! मम तुट्ठी भविस्सइ ?, जेण तुमं बहूणं सत्ताणं वइकरणमहिज्जिउमागतो, जेण संसारो वड्ढिज्जइ तेण कहं तूसामि ?, किं तुमं दिट्ठिवायं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पडिउमायत्तो ?, पच्छा सो चिंतेइ–केरिसो कित्तितो वा सो होहिइ ?, जामि पढामि जेण भाऊण तुट्ठो भवइ, किं मम छेयेण तोसिएणं ?, ताहे भणइ–कहिं सो दिट्ठिवातो ?, सा भणइ–साहूणं दिट्ठिवादो, ताहे से नामस्स अक्खरत्थं चिंतिउमारद्धो—दृष्टीनां वादः दृष्टिवादः, ताव चिंतेइ—नामंपि चेव सुंदरं, जइ कोइ अज्झावेइ अज्झामि, मायावि तोसिया भवइ, ताहे भणइ–कहिं ते दिट्ठिवायजाणंतगा ?, सा भणइ–अम्हं उच्छुघरे तोसलिपुत्ता नाम आयरिया, सो भणइ—कल्लं अज्झामि, मा तुब्भे उस्सुग्गा होह, ताहे सो रत्तिं दिट्ठिवायनामत्थं चिंतेंतो न चेव सुत्तो, बीयदिवसे अइप्पभाए चेव पट्ठितो, तस्स य पिउमित्तो अवरग्गामे बंभणो परिवसई, तेण हिज्जो न दिट्ठतो, अज्ज पेच्छामित्ति उच्छुलट्ठीतो गहाय एइ, नव पडिपुन्नातो एगं च खंडं, इमो य नीइ, सो य पत्तो, को तुमं ?, अज्जरक्खितोऽहं, ताहे सो तुट्ठो अवगूहइ, सागयं ?, अहं तुज्झे दट्ठुमागतो, ताहे सो भणइ–अहं सरीरचिंताए निज्जामि, एयातो उच्छुलट्ठीतो अम्माए हत्थे समप्पेज्जाहि, भणेज्जासु य–दिट्ठो मए अज्जरक्खितो, अहमेव पढमं दिट्ठो, सा तुट्ठा चिंतेइ–मम पुत्तेण सोहणं मंगलं दिट्ठं, नव पुव्वा घेत्तव्वा खंडं च, इयरोऽवि तं चेव चिंतेइ–मए नव अंगाणि अज्झयणाणि वा घेत्तव्वाणि, दसमं न सव्वं, ताहे गतो उच्छुघरं, तत्थ चिंतेइ—किह एवमेव अइमि गोहो जहा अयाणंतो ?, जो एएसिं सावगो भविस्सइ तेण समं पविसामि, एगपासे अच्छइ पलीणो; तत्थ य ढड्ढरो नाम सावओ ढड्ढरसरो, सो सरीरचिंतं काऊण साहूण पडिस्सयं वच्चइ, ताहे तेण दूरट्ठिएण तिन्नि निसीहियातो कयाओ, एवं च इरियादी ढड्ढरसरेण करेइ, सो पुण मेहावी तं अवधारेइ, सोवि तेणेव क्रमेण उक्कमो, सव्वेसिं साहूणं वंदणं कयं, सो न वंदितो सावगो, ताहे आयरिएहिं नायं–एस नवसड्ढो, पच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुच्छंति–कत्तो धम्मागमो ?, तेण भणियं–एयस्स सावगस्स मूलातो, साहूहिं कहियं–जहा एस सेज्जायरीए पुत्तो जो कलं हत्थिखंधेण अभिणीतो, किहत्ति ?, ताहे सव्वं साहइ, अहं दिट्ठिवायं अज्झाइउं तुज्झं पासमागतो, आयरिएहिं भणियं–अम्हं दिक्खाब्भुवगमेण अज्झाइज्जइ, भणइ–पव्वयामि, सोऽवि परिवाडीए अज्झाइज्जइ, एवं होउ, परिवाडीए अज्झामि, किंतु मए एत्थ न जाइ पव्वइउं, अन्नत्थ वच्चामो, एस राया ममाणुरत्तो अन्नो य लोगो, पच्छा मम बलावि नेज्जा, तम्हा अन्नत्थ वच्चामो, ताहे तं गहाय अन्नत्थ गता, एसा पढमा सेहनिप्फेडिया, एवं तेण अचिरेण कालेण आयाराईणि एक्कारस अंगाणि अहिज्जियाणि, (जावइओ) दिट्ठिवातो तोसलिपुत्ताणं आयरियाणं सोऽवि अणेण गहितो, तत्थ अज्जवइरा सुवंति जुगप्पहाणा, तेसिं दिट्ठिवादो बहूओ अत्थि, ताहे सो तत्थ वच्चइ उज्जेणीमज्झेणं, तत्थ भद्दगुत्ताणं थेराणमंतियमुवगतो, तेहिंवि अणुबूहितो–धण्णो कयत्थोऽसि, अहं संलिहियसरीरो, नत्थि ममं निज्जावतो, तुमं निज्जावगो होहि, तेण तहत्ति पडिस्सुयं, ताहे अच्छइ, तेहिं कालं करंतेहिं भण्णइ–मा वइरसामिणा समं अच्छेज्जासि, वीसुं पडिस्सए ठितो पढिज्जासि, जो तेहिं समं एगम्मि रत्तिं वसइ सो तेण अणुमरइ, तेण पडिस्सुयं, कालगते गतो वइरसामिसगासं, बाहिं ठितो, तेऽवि सुविणयं पेच्छंति, तेसिं पुण थेवं सिट्ठं जायं, तेहिवि तहेव परिणामियं, आगतो, पुच्छितो–कत्तो ?, तोसलिपुत्ताणं पासातो, ते भणंति–तुज्झे अज्जरक्खिता ?, आमं, साहु सागयं, कहिं ठितो सि ?, बाहिं, ताहे आयरिया भणंति–बाहिं ठियाण किं जाइ अज्झाइउं ?, तुमं किं न जाणसि ?, ताहे सो भणइ—खमासमणेहिं अहं भद्दगुत्तथेरेहिं भणितो–बाहिं ठाएज्जासि, ते सवउत्ता जाणंति—सुंदरं, न निक्कारणं आयरिया भणंति, अच्छह, ताहे अज्झाइउं पवत्तो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहडपिंडं पइदिवसं आणेइ; पच्छा तं सवेसिं पवइयाणं देइ, भणइ य–एवं बारस वरिसे भोत्तव्वं, भिक्खा य नत्थि, जइ जाणह उस्सरंति संजमगुणा तो भुंजह, अह जाणह नवि तो भत्तं पच्चक्खामो, ताहे भणंति–किं एरिसेण विज्जापिंडेण भुत्तेण ?, भत्तं पच्चक्खामोत्ति, एवं निच्छियववसाया जाया, आयरिएहिं पुव्वामेव नाऊण सिस्सो वइरसेणो नाम पेसणेण पट्ठवितो, भणितो य–जाहे तुमं सयसहस्सनिप्फन्नं भिक्खं लभिहिसि ताहे जाणेज्जासि–जहा नट्ठं दुब्भिक्खंति, ततो वइरसामी समणगणपरिवारितो एगं पव्वयं विलग्गिउमारद्धो, तत्थ भत्तं पच्चक्खामोत्ति, एगो य तत्थ खुड्डगो, सो साहूहिं वुच्चइ–तुमं वच्च, सो नेच्छइ, ताहे सो एगंमि गामे तेहिं विमोहितो, पच्छा गिरिं विलग्गा, खुड्डगो ताण गयमग्गेण गंतूण मा तेसिं असमाही होउत्ति तस्सेव हेट्ठा सिलायले पाओवगतो, ततो सो उण्हेण नवणीयमिव विराओ अचिरकालेणेव कालगतो, देवेहिं महिमा कया, ताहे आयरिया भणंति–खुड्डएण अट्ठो साहितो, तत्थ ते साहुणो दुगुणाणीयसद्धासंवेगा जाया, जइ ताव बालेण होंतएण एवं कयं तो अम्हे कीस न सुंदरं करेमो ?, तत्थ य देवया पडिणीया, ते साहुणो साविआरूवेण भत्तपाणेण निमंतेइ–अज्ज मे पारणयं करेह, ताहे आयरिएहिं णायं–जहा अचियत्तोग्गहोत्ति, तत्थ य अब्भासे अन्नो गिरी, तं गया, तत्थ य देवयाए काउस्सग्गो कतो, सा आगंतूण भणइ–अहो मम अणुग्गहो, अच्छइ, तत्थ समाहीए कालगया, ततो इंदेण रहेण वंदिया, पयाहिणीकरेंतेण तरुवरादीणि दासिलाणि कयाणि, तेण तस्स रहावत्तो नामं जायं, तम्मि य भयवंते अद्धनारायं दस पुव्वा य वोच्छिन्ना ।

सो वइरसेणो जो पेसितो पेसणेण सो भमंतो सोपारयं पत्तो, तत्थ य साविया अहिगयजीवाजीवाइया ईसरी, सा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

ततो अचिरेण कालेण नव पुव्वाणि अहिज्जियाणि, दसमं चेत्तुमाढत्तं, ताहे अज्जवइरा भणंति—जवियाइं ता करेह, एयमेयस्स परिकम्मं, ताणि पगाढं गणिते सुहुमाणि, ताणिवि जवियाणि तेण चउवीसं गहियाणि, एवं ताव सो अज्झाइ।

इतो य से अम्मापियरं सोगेण गहितं, उज्जोयं करिस्सामित्ति अंधकारतरं जायं, ताहे ताणि अप्पाहेंति, तहवि न एइ, ततो डहरतो से भाया फग्गुरक्खितो, सो पट्ठवितो, जइ एह सव्वाणि पवयंति, ताहे भणति—जइ ताणि पवयंति तो तुमं चेव पढमं पवयाहि, सो पव्वइतो, अज्झाइ, सो य अज्जरक्खितो जविएसु अतीव घोलितो, ताहे पुच्छइ—भयवं ! दसमस्स पुव्वस्स किं गयं ? किं सेसं ?, तत्थ बिंदुसमुद्दसरिसवमंदरएहिं दिट्ठंतं करेंति, बिंदुमेत्तं गयं, समुद्दो अच्छइ, ताहे सो विसायमावन्नो–कत्तो मम सत्ती एयस्स पारं गंतुं ?, ततो आपुच्छइ–भयवं अहं च वच्चामि, एस मे भाया तत्तो आगतो, ते भणंति–अज्झाहि ताव, एसो निच्चमेव आपुच्छइ, तत्थ अज्जवइरा उवउत्ता—किं ममातो चेव एयं वोच्छिज्जंतगं ?, ताहेऽणेण नायं जहा मम थोवं आउं, न एस पुणो एहिइ, अतो ममाहिंतो वोच्छिज्जिहिइ एयं दसमं पुव्वं, ततो तेण विसज्जितो, पट्ठितो दसपुरं पति।

इतो य वइरसामी दक्खिणावहे विहरइ, तेसिं सिंघाहियं जायं, ततो णेहिं साहू भणिया–मम सुंठिं आणेह, तेहिं आणीया, सा तेण कन्ने ठइया, जेमिऊण खादिस्सामि, तं च पम्हुट्ठं, ताहे वियाले आवस्सयं करेंतस्स मुहपोत्तियाए चालियं, पडियं, तेसिं उवओगो जातो–अहो पमत्तो जातो, पमत्तस्स य नत्थि संजमो, तं सेयं खलु मे भत्तं पच्चक्खाइत्तए, एवं संपेहेइ, दुब्भिक्खं च बारसवरिसियं जायं, छिन्ना सव्वतोसमन्ता पंथा, निराहारं जायं, ताहे वइरसामी विज्जाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

चिंतेइ–किह जीवामो ?, न पाडिएक्कमत्थि, ताहे तम्मि दिवसे सयसहस्सेण भत्तं निप्फाइयं, चिंतेइ य–अम्हेहिं सव्वकालमेत्थ उज्जयं जीवियं, मा इयाणिं एत्थ चेव देहबलियाए वित्तिं कप्पेमो, देहबलिका नाम भिक्षावृत्तिः, नत्थि य पाडिक्कतो, एत्थ सयसहस्सनिप्फन्ने विसं छोढूण जेमेमो तो सनमोक्काराणि कालं करेमो, तं च सज्जियं, न ताव विसेण संजोइज्जइ, सो य साहू हिंडितो तत्थ संपत्तो, ताहे सा हट्ठतुट्ठा संपडिलाभेइ तेण परमन्नेणं, तं चेव परमट्ठं साहेइ, सो साहू भणइ—मा भत्तं पच्चक्खाह, अहं वइरसामिणा भणितो—जया तुमं सयसहस्सनिप्फण्णं भिक्खं लभिहिसि (तया पए सुभिक्खं) ततो पोएण सुभिक्खं भविस्सइ, ताहे पव्वइस्सह, एवं सा वारिया, इतो य तद्दिवसं चेव पवहणेहिं तंदुला आगया, जातो पाडिक्कतो, सो साहू तत्थेव ठितो, सुभिक्खं जायं, ताणि सावयाणि तस्संतिए पव्वइयाणि, ततो वइरसामिस्स पउप्पयं जायं, वंसो य पवड्ढितो।

इतो य अज्जरक्खिएहिं दसपुरं गंतूण सवो सयणवग्गो पव्वाविती मायाभगिणीमाई, जो सो तस्स खंतो सोवि तेसिं अणुरागेण तेहिं चेव समं अच्छइ, न उण लिंगं गेण्हइ लज्जाए, किह समणतो पव्वइस्सं ?, एत्थ मम धूयातो सुण्हाओ नत्तुइओ य, किह तासिं पुरतो नग्गतो अच्छिस्सं ?, आयरिया य तं बहुसो भणंति–पव्वयसु, सो भणइ—जइ समं जुवलएणं कुंडियाए छत्तएण उवाहणाहिं जंनोवइएण तो पव्वयामि, आमंति पडिस्सुयं, पव्वइतो, सो पुण चरण-करणसज्झायमणुयत्तंतेहिं गेण्हावियवो, ताहे ते भणंति—अच्छह कडिप्पट्टएणं, सोऽवि थेरो भणइ–छत्तएण विणा न तरामि, ताहे भणंति—अच्छउ छत्तयंपि, करगेण विणा दुक्खं उच्चारपासवणं वोसिरिउं, बंभसुत्तगंपि, अवसेसं सव्वं परिहरइ, अन्नया चेइयवंदगा गया,आयरिएहिं पुवं चेडरूवाणि गाहियाणि, भणइ–सव्वे वंदामो एयं छत्तइल्लं मोत्तुं, एवं

॥ ३९६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

भणितो सो चिंतेइ–एए मम पुत्तगा नत्तुगा य वंदिज्जंति, अहं कीस न वंदिज्जामि ?, ततो सो भणइ—अहं किं अप्पव-
इतो ?, ताणि भणंति–कतो पवइयाण छत्तयाणि भवंति ?, ताहे सो चिंतइ–एयाणिवि ममं पडिचोयंति तो छड्डेमि,
ताहे पुत्तं भणइ–अलाहि पुत्त ! छत्तएण, ततो ते भणंति–अलाहि, जाहे उण्हं होइ ताहे कप्पो उवरिं कीरउ इति, पुणो
भणंति—मोत्तूणं करगिलं, ताहे पुत्तेण भणितो–मत्तएण चेव संनाभूमिं गच्छह, एवं जंनोवइयंपि मोयावेंति, आयरिया
भणंति–को अम्हे न याणइ जह बंभणा इति, एवं तेण ताणि सव्वाणि मुक्काणि, पच्छा ताणि पुणो भणंति–सव्वे वंदामो
मोत्तूणं कडिपट्टइलं, ताहे सो भणइ रुट्ठो–सह अज्जयपज्जएहिं मा वंदह, अण्णे वंदिहिंति ममं, न मुयइ कडिपट्टगं । तत्थ
य साहू भत्तं पच्चक्खायतो, ताहे तस्स कडिपट्टयवोसिरणट्ठयाए वण्णेंति–एयं मयगं जो वहइ तस्स महलं फलं भवति, तत्थ
पढमं पवइया सन्नियल्लया—तुब्भे भणेज्जाह–अम्हे एयं वहामो, एवं ते उट्ठिया, आयरियसयणवग्गो भणइ–अम्हे
वहामो, ततो ते भंडंता आयरियसगासं पत्ता, आयरिएहिं भणिया–अम्हं सयणवग्गो किं मा निज्जरं पावउ ?, तुम्हे
चेव भणह—अम्हे वहामो, ताहे सो थेरो भणइ–किं एत्थ पुत्ता ! बहुया निज्जरा ?, आयरिया भणंति—आमंति, ततो
सो भणइ–अहं वहामि, आयरिया भणंति–एत्थ उवसग्गा उप्पज्जंति, चेडरूवाणि नग्गंति, जइ तरसि अहियासेउं तो
वहाहि, अह नाहियासेसि तो अम्हं न सुंदरं भवइ, (सो भणइ–) अहियासिस्सं, एवं सो थिरो कओ, जाहे सो
उक्खित्तो ताहे तस्स मग्गतो पवइयातो ठियातो, ताहे खुड्डगा भणंति–मुय कडिपट्टयं, ताहे सो मडयं मोत्तुमारद्धो, अन्नेहिं
भणितो—मा मोच्चसि, गुरुणं न सुंदरं होहिइ, तत्थ से अण्णेण कडिपट्टतो पुरतो काऊण दोरेण बद्धो, ताहे सो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

लज्जितो तं वहइ, मग्गतो मम सुण्हाई पेच्छंति, एवं तेण उवसग्गो उट्ठितोत्तिकाऊण बूढं, पच्छा आगतो तहेव, ताहे आयरिया भणंति–किं खंता ! इमं ?, सो भणइ–उवसग्गो उट्ठितो, आयरिया भणंति–आणेह साडयं, ताहे भणइ–किं थ साडएणं, दिट्ठं जं दट्ठव्वं, चोलपट्टगो चेव हवउ, एवं ता सो चोलपट्टयं गेण्हाविओ, पच्छा भिक्खं न हिंडइ, आयरिया चिंतंति–एस भिक्खं न हिंडइ, को जाणइ कयाइ किंची भवइ ?, तत्थ एक्कलओ किं काहिइ ?, अवि एसो निज्जरं पावेयवो, तो तहा कीरउ जहा एस भिक्खं हिंडइ, एगं आयवेयावच्चं पच्छा परवेयावच्चंपि काहिइ, एवं चिंतित्ता तत्तोऽणेण सवे साहुणो अप्पसागारियं भणिया–अहं वच्चामि, तुज्झे एक्कलया समुद्दिसेज्जाह पुरतो खंतस्स, तेहिं पडिस्सुयं, ततो खंतस्स पुरतो आयरिया भणंति—तुब्भें खंतस्स सम्मं वट्टेज्जह, अहं वच्चामि गामं, एवं गया आयरिया, तेऽवि साहुणो भिक्खं हिंडिऊण सवे एक्कलया समुद्दिसंति, सो चिंतेइ–ममेस दाहिइ, इमो दाहिइ, एक्कोऽवि तस्स न देइ, अण्णो दाहिइ एस वराओ किं लभइ ?, एवं तस्स न केणइ किंचि दिन्नं, ताहे आसुरुत्तो न किंचि आलवति, चिंतेइ–एउ कल्लं ताव मम पुत्ते तो पेक्खह एए जं पावेमि, ताहे विइयदिवसे आगया आयरिया, ताहे ते भणंति–खंता ! किह ते साहूहिं वट्टियं ?, ताहे सो भणइ–पुत्ता ! जइ तुमं न होंतो तो एक्कंपि दिवसं न जीवंतो, एएवि जे अण्णे मम पुत्ता नत्तुगा य तेऽवि न किंचि देंति, ताहे ते आयरिएण समक्खं अंवाडिया, तेऽवि अब्भुवगया, ताहे आयरिया भणंति–आणेह भायणाणि, जह अप्पणो खंतस्स पारणयं आणेमि, ताहे सो खंतो भणइ—किं इह मम पुत्तो हिंडिहिइ ?, लोगप्पगासे न कयाइ हिंडियपुवो, भणइ–अहं चेव हिंडामि, ताहे सो अप्पणा खंतो निग्गतो, सो य पुण लद्धिसं–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पण्णो पुराणि गिहत्थत्तणे, सो य अहिंडतो न याणइ कत्तो दारं वा अदारं वा, ताहे सो एगं घरं अवद्दारेण अतिगतो, तत्थ अण्णदिवसं पगयं वत्तेलयं, तत्थ घरसामिणा भणितो–कतो अवद्दारेण पवइयतो अतिगतो ?, घरस्स दारं किं नत्थि जेण अवदारेण अतीसि ?, ताहे तेण तत्थुप्पण्णं चेव भणियं–सिरीए एंतीए कयरं दारं अवदारं वा ?, जतो अतीति ततो सुंदरा, गिहसामिणा भणियं–देह से भिक्खं, तत्थ लड्डुगा बत्तीसं लद्धा, ते घेत्तूण आगतो, आलोइयमणेणं, पच्छा आयरिया भणंति–तुज्झं बत्तीसं सीसा होंति परंपरेण आवलियाठावगा, ततो आयरिएहिं भणितो–खंता ! [जा होह] तुब्भे पुव्वं राउलातो किंचि लहह सविसेसं ताहे कस्स देह ?, सो भणइ–बंभणाणं, एवं चेव अम्ह साहुणो पूयणिज्जा, एएसिं पढमलाभो दिज्जउ, एवं होउत्ति सव्वे साहूणं दिन्ना, ताहे पुणो अप्पणो अट्ठाए ओइण्णो, पच्छा अणेण परमन्नं घयमहुसंजुत्तं आणीतं, तो सयं समुद्दिट्ठो, एवं सो अप्पणा चेव हिंडंतो लद्धिसंपन्नो वहूणं बालदुब्बलाणं आहारो जातो, एवं आयरिएहिं सन्नायगा पव्वाविता ॥ तत्थ य गच्छे तिन्नि पूसमित्ता–एगो दुब्बलिअपूसमित्तो एगो घयपुस्समित्तो एगो वत्थपूसमित्तो, जो दुब्बलितो सो सज्झाएण झरइ, घयपूसमित्तो घयमुप्पाएइ, तस्सिमा लद्धी–दवतो ४, दवतो घयमुप्पाएयव्वं, खेत्तओ जहा उज्जेणीए, कालतो जिट्ठासाढमासेसु, भावतो एगा धिज्जाइणी गुव्विणी, तीसे भत्तूणं दिवसे थोवथोवं पिंडंतेण छहिं मासेहिं वारओ घयस्स उप्पाइतो, वरं से वियाइयाए उवजुज्जिहिइ, सा य कले वा परे वा वियाहिति, एयंमि अवसरे तेण जाइयं, अण्णं नत्थि, तंपि सा हट्ठतुट्ठा दिज्जा, परिमाणतो जत्तियं गच्छस्स उवजुज्जइ, सो य नितो पुच्छइ–कस्स कित्तिएण घएण कज्जं ?, जत्तियं भणेइ तत्तियं आणेइ, वत्थपूसमित्तस्स एमेव लद्धी वत्थेसु उप्पाइयव्वेसु, दवतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

वत्थं, खेत्ततो वइदेसे नगरे महुराए वा, कालतो वासासु सीयकाले वा, भावतो जहा काइ रंडा तीए दुकूखेण छुहाए मरंतीए कत्तिऊण एक्का पुत्ती वुणाविया कलं नियंसेहामित्ति, एत्थंतरे सा पूसमित्तेण जाइया, हट्ठतुट्ठा देज्जा, परिमाणतो लद्धी सवस्स गच्छस्स उप्पाएइ। जो दुब्बलियपूसमित्तो तेण नवरि पुव्वा अहिज्जिया, सो ताणिं दिवा य रत्तीए झरइ, एवं सो झरणाए दुब्बलो जातो, जइ सो न झरेज्जा ताहे तस्स सव्वं चेव पम्हुसेज्जा, तस्स पुण दसपुरे चेव नियल्लया, ताणि पुण रत्तवडोवासगाणि आयरियाण पासमल्लियंति, ततो ताणि भणंति—अम्हं भिक्खुणो झाणपरा, तुज्झं झाणं नत्थि, आयरिया भणंति–अम्हं चेव झाणं, एस तुज्झं जो नियल्लतो दुब्बलियपूसमित्तो सो झाणेणं चेव दुब्बलो, ताणि भणंति—एस गिहत्थत्तणे निद्धाहारेहिं बलितो आसि, इयाणिं नत्थि निद्धाहारो तेण दुब्बलो, आयरिया भणंति–एस नेहेण विणा न कयाइ जेमेइ, ताणि भणंति–कतो तुज्झं नेहो ?, आयरिया भणंति—घयपूसमित्तो आणेइ, ताणि न पत्तियंति, ताहे भणियाणि—एस तुज्झं घरे किं आहारेइ ?, तो ताणि भणंति–निद्धपेसलाइं, ततो तेसिं संबोहिं नाउं ताण घरे विसज्जितो, एत्ताहे देहु, तहेव दाउं पवत्ताणि, सोवि झरइ, तंपि नज्जइ छारे छुभइ, ताणि गाढतरं देंति, ततो निविण्णाणि, ताहे भणितो–एत्ताहे मा झरह, अंतं पंतं च आहारेह, ताहे सो पुणोवि पुराणसरीरो जातो, ताहे ताण उवगयं, धम्मो कहितो,सावगाणि जायाणि। तत्थ य गच्छे चत्तारि जणा पहाणा, सो चेव दुब्बलियपूसमित्तो विंझो फग्गुरक्खितो गोट्ठामाहिलोत्ति, जो सो विंझो सो अतीव मेहावी, सुत्तत्थतदुभयाणं गहणधारणासमत्थो, सो पुण सुत्तमंडलीए विसूरइ जाव परिवाडीए आलावगस्स एइ ताव पलिभज्जइ, सो आयरिए भणइ—अहं सुत्तमंडलीए विसू-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रामि, जतो चिरेण परिवाडीए आलावगो एइ, तो मम वाणायरियं देह, ततो आयरिएहिं दुब्बलियपूसमित्तो तस्स वाणायरियतो दिन्नो, ततो सो कइवि दिवसे वायणं दाऊण आयरियस्स उवट्ठितो भणइ—मम वायणं देंतस्स नासइ, जं च सज्झायगधरे नाणुप्पेहियं तं च संकियं जायं, ततो मम अज्झरंतस्स नवमं पुवं नस्सिहिइ, ताहे आयरिया चिंतेंति–जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं अज्झरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्ठं चेव, ते उवओगं गया, ततो तेहिं गहणधारणादुब्बलत्तं णाऊण सुहगहणधारणानिमित्तं चत्तारि अणुओगदारा कया, तथा चोक्तं भाष्यकृता—"नाऊण रक्खियज्जो मइमेहाधारणासमग्गंपि । किच्छेणं धरमाणं सुपण्णवं पूसमित्तंपि ॥ १ ॥ अइसयकओवओगो मइमेहाधारणाइपरिहीणे । नाऊणमेस्सपुरिसे खेत्तं कालाणुरूवं च ॥ २ ॥ साणुग्गहोऽणुओगे, वीसुं कासी य सुयविभागेण । सुहगहणाइनिमित्तं नए य सुनिगूहियविभागे ॥ ३ ॥ सविसयमसद्दहंता नयाण तम्मत्तयं च गेण्हंता । मन्नंता य विरोहं अपरीणामातिपरिणामा ॥ ४ ॥ गच्छेज्ज मा हु मिच्छं परिणामा य सुहुमादिबहुभेए । होज्जाऽसत्ते घेत्तुं न कालिए तो नयविभागो ॥ ५ ॥" (विशेषा० २२८९–९३) अत्र 'नए य सुनिगूहियविभागे' इति न केवलमनुयोगान् पृथगकार्षीत्, तथा नयांश्च–नैगमादीन् सुखग्रहणादिनिमित्तमकार्षीदिति सम्बध्यते, कथंभूतानित्याह—सुष्ठु निगूहितो—व्याख्यानिरोधेन छन्नीकृतो विभागो–व्यक्ततापादनरूपो येषां ते तथा तान् । अथ कस्मान्नयान् सुनिगूहितविभागानकार्षीदित्यत आह—'सविसए'त्यादि, इह शिष्यास्त्रिविधाः, तद्यथा—अपरिणामा अतिपरिणामाः परिणामाश्च, तत्र ये मन्दमतयोऽगीतार्था अपरिणतजिनवचनरहस्यास्ते अपरिणामाः, अतिव्याप्तापवाददृष्टयोऽतिपरिणामाः, सम्यक्परिणतजिनवचना मध्यस्थवृ-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्तयः परिणामाः, तत्र येऽपरिणामास्ते नयानां यः स्वः स्वः–आत्मीय आत्मीयो विषयो ज्ञानमेव श्रेयः क्रिया वा श्रेयसी-त्यादिकस्तमश्रद्दधानाः ये त्वतिपरिणामास्तेऽपि यदेवैकेन नयेन क्रियादिकं वस्त्वभिहितं तदेव तन्मात्रं प्रमाणतया गृह्णन्तः तथा एकान्तवस्तुप्रतिपादकनयानां परस्परविरोधं च मन्वाना मा मिथ्यात्वं गच्छन्तु, येऽप्युक्तस्वरूपाः परिणामास्ते यद्यपि न मिथ्यात्वमियति तथापि विस्तरेण नयैर्व्याख्यायमानैर्ये सूक्ष्माः सूक्ष्मतराश्च तद्भेदास्तान् ग्रहीतुमशक्ता भवे-युरित्यार्यरक्षितैः कालिके इत्युपलक्षणं उत्कालिके च नयविभागो–नयगतविस्तरव्याख्यारूपो न कृत इति ॥ यदुक्तम् 'अनुयोगस्ततः कृतश्चतुर्द्धे'ति तत्रानुयोगचातुर्विध्यमुपदर्शयति मूलभाष्यकृत्—

कालियसुअं च इसिभासिआइं तइओ अ सूरपन्नत्ती ।
सव्वो अ दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥ १२४ ॥ (मू. भा.)

जं च महाकप्पसुअं जाणि अ सेसाणि छेअसुत्ताणि । चरण-करणाणुओगत्ति कालिअत्थे उवगयाणि ॥ ७७७ ॥

कालिकश्रुतम्–एकादशाङ्गरूपं, चरणकरणानुयोगरूपमिति गम्यते, तथा ऋषिभाषितानि–उत्तराध्ययनादीनि, धर्म्म-कथानुयोग इति वाक्यशेषः, तृतीयोऽनुयोगः–कालानुयोगः, स च सूर्यप्रज्ञप्तिः, उपलक्षणमेतत् चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिरपि, तथा सर्वश्च दृष्टिवादश्चतुर्थो भवत्यनुयोगः, ऋषिभाषितानि धर्म्मकथानुयोग इत्युक्तं, ततश्च महाकल्पश्रुतादीनामपि ऋषिभाषित-त्वात् दृष्टिवादादुद्धृत्य तैस्तेषां प्रतिपादितत्वात् धर्म्मकथानुयोगत्वप्रसङ्ग इत्यत आह–यच्च महाकल्पश्रुतं यानि च शेषाणि छेदसूत्राणि–कल्पादीनि तानि सर्वाण्यपि चरणकरणानुयोग इति मन्तव्यानि । इयाणिं जहा देविंदवंदिया अज्जरक्खिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र क्रमेण आयात भाष्यक्रम १३८ वर्तते, परंतु मूल संपादकेन अत्र ॥ १२४ ॥ मुद्रितं, हारिभद्रिय वृतौ तु भाष्य-क्रम ॥ १२४ ॥ एव ।

*** अत्र चत्वार: अनुयोगानां व्याख्या क्रियते

तहा भन्नइ—ते विहरंता महुरं गया, तत्थ भूयगुहावाणमंतरघरे ठिया। इतो य सक्को देवराया महाविदेहे सीमंधरसामिं आपुच्छइ निगोयजीवे, जाहे निगोयजीवा भगवया वागरिया ताहे भणइ–अत्थि पुण भरहे वासे कोइ निगोए एवं वागरेज्जा?, भयवया भणियं–अत्थि अज्जरक्खिया, ततो सो माहणरूवेण आगतो, तं च थेररूवं करेऊण पव्वइएसु निग्गएसु अतिगतो, ताहे सो वंदित्ता पुच्छइ–भयवं! मज्झ सरीरे महलो इमो वाही, अहं च भत्तं पच्चक्खाएज्जा, ता जाणाह मम केत्तियं आउं होज्ज?, जविएहिं किर भणिया आउसेढी, तत्थ उवउत्ता आयरिया, जाव पेच्छइ आउं वरिससयमहियं दो तिन्नि, ताहे चिंतेइ–भारहो एस मणूसो न भवति, विज्जाहरो वाणमंतरो वा, जाव दो सागरोवमाइं ठिई, ताहे भुमयाओ हत्थेहिं उक्खिवित्ता भणइ–सक्को भवान्, बाढंति भणिऊण पाएसु पडितो, सव्वं साहइ, जहा महाविदेहे सीमंधरसामी पुच्छितो तेहिं कहियं, ततो इहमागतो, तं इच्छामि सोउं निगोयजीवे, ताहे कहिया, भणइ हट्ठतुट्ठोसणाहं भरहंति, इयाणिं वच्चामि, आयरिया भणंति–अच्छह मुहुत्तगं जाव संजया एंति, एत्ताहे दुक्कहा, संजया ते थिरा भवंति, जहा एत्ताहेवि देविंदा एंति, ताहे सो भणइ–जइ ते मम पेच्छंति तेण चेव अप्पसत्तेण नियाणं काहिंति, तेण वच्चामि, तो चिंधं काउं वच्च, ताहे दिवा गंधादी परिकिण्णा, उवस्सयस्स अब्भंतोहुत्तं वारं कयं, ततो गओ, ताहे आगया संजया, ते पुच्छंति–कहिं एयस्स दारं?, आयरिएहिं वाहिता–इतो एह, सिट्ठं च जहा सक्को आगतो, ते भणंति—अहो अम्हेहिं न दिट्ठो, कीस मुहुत्तमेत्तं न धरितो?, तं चेव साहइ, जहा अप्पसत्ता मणुया नियाणं काहिंति, पाडिहेरं काऊणागतो, एवं देविंदवंदिया। ते कयाइ विहरंता दसपुरं गया, महुराए अकिरियावादी दट्ठितो, जहा नत्थि माया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नत्थि पिया एवमादिणाहियवादी, तत्थ संघसमवातो कतो, तत्थ वादी नत्थि, ताहे संघेण संघाडओ अज्जरक्खियसगासं पेसितो, ताहे जुगप्पहाणे ते गंतूण तेसिं साहिंति, ते य महल्ला, ताहे तेहिं गोट्ठामाहिलो पयट्टितो, तस्स वायलद्धी अत्थि, तेण गंतूण सो वादी निग्गहितो, पच्छा सावगेहिं गोट्ठामाहिलो धरितो, तत्थेव वासारत्तं ठिओ, इतो य आयरिया चिंतेंति–को गणहरो भवेज्जा ?, ताहे दुब्बलियापूसमित्तो समिक्खितो, जो पुण से सयणवग्गो तेसिं गोट्ठामाहिलो फग्गुरक्खितो वा अभिमतो, ततो आयरिया सव्वे सद्दावइत्ता दिट्ठंतं करेंति, जहा तिन्नि कुडा–निप्फावकुडो तेल्लकुडो घयकुडो य, ते पुण तिन्निवि हेट्ठाहुत्ता निप्फावा सव्वेवि निंति, तेल्लमवि नीइ तत्थ पुण अवयवा लग्गंति, घयघडे बहुं चेव लग्गइ, एवामेव अज्जो! दुब्बलियापूसमित्तं प्रति सुत्तत्थतदुभएसु निप्फावकुडसमाणो अहं जातो, फग्गुरक्खियं प्रति तेल्लकुडसमाणो, गोट्ठामाहिलं पति घयकुडसमाणो, अतो मम सुत्तेण अत्थेण य उववेतो दुब्बलियपूसमित्तो तुज्झं आयरितो भवतु, तेहिं पडिच्छियं, इयरोऽवि भणितो—जहाऽहं वट्टितो फग्गुरक्खियस्स गोट्ठामाहिलस्स य तहा तुमे वट्टियव्वं, ताणिवि भणियाणि–जहा तुज्झे मम वट्टियाणि तहा एयस्सवि वट्टेज्जह, अविय–अहं कए वा अकए वा न रूसामि, एस पुण न खमेहिई, अतो सुतरामेव एयस्स वट्टेज्जह, एवं दोवि वग्गे अप्पाहित्ता भत्तं पच्चक्खाइउं देवलोगं गया, गोट्ठामाहिलेण सुयं जहा आयरिया कालगया, ताहे आगतो पुच्छइ—को गणहरो ठवितो ?, (संघेण कहियं—दुब्बलियापुस्समित्तो) कुडगदिट्ठंतो य सुतो, ताहे वीसुं पडिस्सए ठाइऊण पच्छा आगतो, ताहे तेहिं सव्वेहिं अब्भुट्ठितो, भणितो य–इहं चेव ठाहि, ताहे नेच्छइ, ततो सो बाहिं ठितो अन्ने वुग्गाहेइ, ते न सक्केइ वुग्गाहेउं । इतो अ आयरिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ आर्यरक्षितस्य कथा मध्ये गोष्ठामाहिल-निह्नवस्य कथा

अत्थपोरिसिं करेंति, सो न सुणइ, भणइ य–तुज्झे निप्फावकुडगा, ताहे तेसु उड्डिएसु विज्झो अणुभासइ, तं सुणेइ, अट्ठमे कम्मपवायपुवे कम्मं वन्निज्जइ, जहा कम्मं बज्झइ, जीवस्स य कहं बंधो ?, एत्थ विचारे सो अभिनिवेसेण अन्नहा मन्नंतो परूवंतो य निण्हतो जातो॥ अनेन प्रस्तावेन क एते निन्हवा इत्याशङ्कापनोदाय तान् प्रतिपिपादयिषुराह–

बहुरय पएस अव्वत्त समुच्छ दुग तिग अबद्धिआ चेव। सत्तेए निण्हगा खलु तित्थम्मि उं वद्धमाणस्स॥७७८॥

एकेन समयेन क्रियाऽध्यासितरूपेण वस्तुनोऽनुत्पत्तेः प्रभूतसमयैश्चोत्पत्तेर्बहुषु समयेषु वस्तूत्पत्तिमधिकृत्य रताः–संक्ता बहुरताः, दीर्घकालद्रव्यप्रसूतिप्ररूपिण इत्यर्थः, 'पएस'त्ति पूर्वपदलोपात् जीवप्रदेशाः प्रदेशाः, यथा महावीरो वीर इति, एक एव चरमप्रदेशो जीव इत्यभ्युपगमात् जीवः प्रदेशो येषां ते जीवप्रदेशा निन्हवाः, चरमप्रदेशजीवप्ररूपिण इति हृदयम्, 'अव्वत्त'त्ति उत्तरपदलोपादव्यक्तमताः अव्यक्ता, यथा भीमसेनो भीम इति, व्यक्तं–स्फुटं न व्यक्तमव्यक्तम्—अस्फुटं, अव्यक्तं मतं येषां ते अव्यक्तमताः, संयताद्यवगमे सन्दिग्धबुद्धय इति भावः, 'समुच्छेय'त्ति उत्पत्त्यनन्तरं सामस्त्येन उत–प्राबल्येन प्रकर्षेणेत्यर्थः छेदो–विनाशः समुच्छेदस्तमधीयते विदन्ति वा 'तद्वेत्ती'त्यणि सामुच्छेदाः, क्षणभविभावप्र[illegible]का इतियावत्, 'दुग'त्ति उत्तरपदलोपादेकसमये द्वे क्रिये समुदिते द्विक्रियं तदधीयते तद्वेदिनो वा द्वैक्रियाः, [illegible]क्रियानुभवप्ररूपिण इत्यर्थः, 'तिग'त्ति त्रैराशिकाः, जीवाजीवनोजीवभेदात् त्रयो राशयः समाहृतास्त्रिराशि तत्प्रयोजनं येषां ते त्रैराशिकाः–राशित्रयव्याख्यायका इति भावना, 'अबद्धिगा चेव'त्ति स्पृष्टं जीवेन कर्म्म न स्कन्धबन्धवत् बद्धमबद्धं, अबद्धमेषामस्तीति अबद्धिकाः, 'अतोऽनेकस्वरा'दितीकप्रत्ययः, स्पृष्टकर्म्मविपाकप्ररूपका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

इत्यर्थः, सम्प्रति–अन्तरोदिताः, उपलक्षणमेतत् तेनोपधानापलापिनोऽपि, 'निण्हया खलु'त्ति तीर्थंकरभाषितमर्थमभिनिवेशात् निन्हवते–प्रपञ्चतोऽपलपन्तीति निन्हवाः, एते च मिथ्यादृष्टयः सूत्रोक्तार्थापलपनात्, उक्तं च—"सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः । मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥ १ ॥" खल्विति विशेषणे, किं विशिनष्टि ?–एते साक्षादुपात्ता उपलक्षणसूचिताश्च देशविसंवादिनो द्रव्यलिङ्गेनाभेदिनो निन्हवाः, वोटिकास्तु वक्ष्यमाणाः सर्वविसंवादिनो द्रव्यलिङ्गतोऽपि भिन्ना निन्हवा इति, तीर्थे वर्द्धमानस्य, पाठान्तरं 'एतेसिं निग्गमणं वोच्छामि अहाणुपुव्वीए' इति ॥ साम्प्रतं येभ्य एते सप्त समुत्पन्नास्तान् प्रतिपादयन्नाह—

बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ । अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेआऽऽसमित्ताओ ॥ ७७९ ॥
गंगाओ दोकिरिया छलुगा तेरासिआण उप्पत्ती । थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति ॥ ७८० ॥

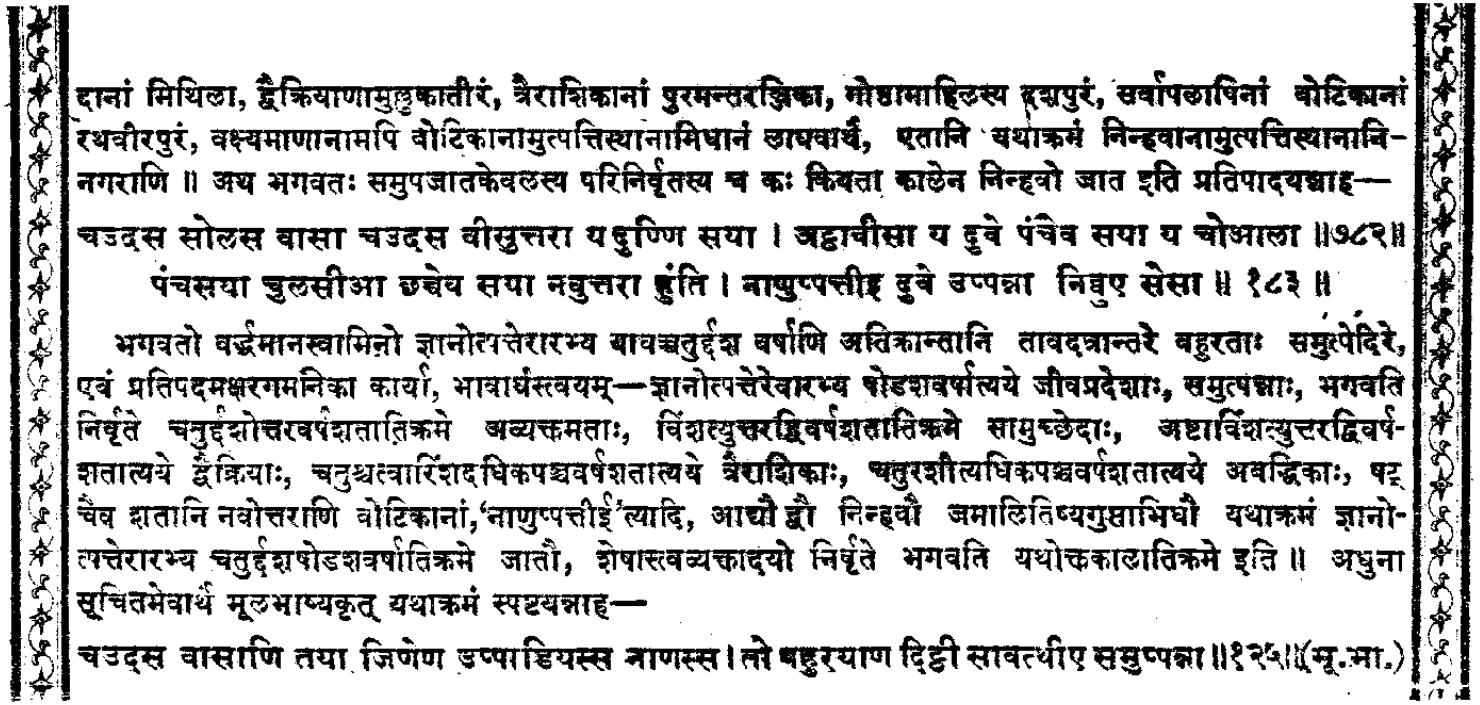
बहुरता जमालिप्रभवाः, जमालेराचार्यात् प्रभवो येषां ते तथाविधाः, जीवप्रदेशाः पुनस्तिष्यगुप्तादुत्पन्नाः, अव्यक्ता आषाढात्, सामुच्छेदा अश्वमित्रात्, गङ्गात् द्वैक्रियाः, षडुलूकात् त्रैराशिकानामुत्पत्तिः, स्थविराश्च गोष्ठामाहिलाः स्पृष्टमबद्धं, कर्मेति गम्यते, प्ररूपयन्ति, पाठान्तरं—'पुट्ठमवद्धं परूविंसु' किमुक्तं भवति ?—अबद्धिका गोष्ठामाहिलात् संजाता इति ॥ साम्प्रतमेते निन्हवा येषु स्थानेषूत्पन्नास्तानि प्रतिपादयन्नाह—

सावत्थी उसभपुरं सेअविआ मिहिल उल्लुगातीरं । पुरिमंतरंजि दसपुर रहवीरपुरं च नयराइं ॥ ७८१ ॥

जमालिप्रभवानां निह्नवानां उत्पत्तिस्थानं श्रावस्ती, तिष्यगुप्तप्रभवानामृषभपुरं, अव्यक्तमतानां श्वेतविका, सामुच्छे-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** निह्नवानां आचार्य, मत-उत्पत्तिस्थान, काल आदीनां वर्णनं क्रियते



दानां मिथिला, द्वैक्रियाणामुल्लुकातीरं, त्रैराशिकानां पुरमन्तरञ्जिका, सौधर्माधिपस्य दशपुरं, सर्वोपलब्धिनां बोटिकानां रथवीरपुरं, वक्ष्यमाणानामपि बोटिकानामुत्पत्तिस्थानाभिधानं लाघवार्थं, एतानि यथाक्रमं निन्हवानामुत्पत्तिस्थानानि-नगराणि ॥ अथ भगवतः समुपजातकेवलस्य परिनिर्वृतस्य च कः कियता कालेन निन्हवो जात इति प्रतिपादयन्नाह—

चउदस सोलस वासा चउदस वीसुत्तरा य दुण्णि सया । अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया य चोआला ॥७८२॥
पंचसया चुलसीआ छच्चेव सया नवुत्तरा हुंति । नाणुप्पत्तीइ दुवे उप्पन्ना निवुए सेसा ॥ १८३ ॥

भगवतो वर्द्धमानस्वामिनो ज्ञानोत्पत्तेरारभ्य यावच्चतुर्दश वर्षाणि अतिक्रान्तानि तावदत्रान्तरे बहवः समुपेदिरे, एवं प्रतिपदमक्षरगमनिका कार्या, भावार्थस्त्वयम्—ज्ञानोत्पत्तेरेवारभ्य षोडशवर्षात्यये जीवप्रदेशाः, समुत्पन्नाः, भगवति निर्वृते चतुर्दशोत्तरषोडशतातिक्रमे अव्यक्तमताः, विंशत्युत्तरद्विवर्षशतातिक्रमे सामुच्छेदाः, अष्टाविंशत्युत्तरद्विवर्ष-शतात्यये द्वैक्रियाः, चतुश्चत्वारिंशदधिकपञ्चवर्षशतात्यये त्रैराशिकाः, चतुरशीत्यधिकपञ्चवर्षशतात्यये अबद्धिकाः, षट् चैव शतानि नवोत्तराणि बोटिकानां,'नाणुप्पत्तीई'त्यादि, आद्यौ द्वौ निन्हवौ जमालितिष्यगुप्ताभिधौ यथाक्रमं ज्ञानो-त्पत्तेरारभ्य चतुर्दशषोडशवर्षातिक्रमे जातौ, शेषास्त्वव्यक्तादयो निर्वृते भगवति यथोक्तकालातिक्रमे इति ॥ अधुना सूचितमेवार्थं मूलभाष्यकृत् यथाक्रमं स्पष्टयन्नाह—

चउदस वासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स । तो बहुरयाण दिट्ठी सावत्थीए समुप्पन्ना ॥१२५॥(मू.भा.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र मूल संपादने यत् गाथा-क्रम ॥ १८३ ॥ मुद्रितं तत् मुद्रण-स्खलना मात्र, इह गाथा-क्रम ॥ ७८३ ॥ एव वर्तते

जिनेन भगवता महावीरेणोत्पाटितस्य ज्ञानस्य यदा चतुर्दश वर्षाणि गतानि तदा बहुरतानां दृष्टिः श्रावस्त्यां नगर्यां समुत्पन्ना ॥ यथोत्पन्ना तथोपदर्शयन् सङ्ग्रहगाथामाह—

जिट्ठा सुदंसण जमालिऽणुज्ज सावत्थि तिंदुगुज्जाणे। पंच सया य सहस्सं ढंकेण जमालि मुत्तूणं॥१२६॥(भा.)

कुंडपुरं नगरं, तत्थ सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदंसणा णाम, तीसे पुत्तो जमाली, सो सामिस्स मूले पव्वइतो पंचहिं सएहिं समं, तस्स सामिणो धूया अणोज्जंगी नाम पियदंसणा, सावि तमणु पव्वइया सहस्सपरिवारा, जहा पन्नत्तीए तहा भाणियव्वं, एक्कारस अंगा अहिज्जिया जमालिणा, सो सामिं आपुच्छिऊण पंचसयपरिवारो सावत्थिं गतो, तत्थ तिंदुगे उज्जाणे कोट्ठगे चेइए समोसढो, तत्थ से अंतपंतेहिं रोगो जातो, न तरइ निसन्नो अच्छिउं, तो समणे भणियाइतो—सेज्जासंथारयं करेह, ते काउमारद्धा, अत्रान्तरे जमालिर्दाहज्वराभिभूतस्तान् विनेयान् पप्रच्छ—संस्तृतं न वा ?, ते उक्तवन्तः—संस्तृतमिति, स चोत्थितो जिगमिषुरर्द्धसंस्तृतं दृष्ट्वा क्रुद्धः क्रियमाणं कृतमित्यादि सिद्धान्तवचनं कर्मोदयतो वितथमिति चिंतयामास, क्रियमाणं कृतमेतद्भगवद्वचनं वितथं, प्रत्यक्षविरुद्धत्वात्, अश्रावणः शब्द इति वचनवत्, तथाहि—अर्द्धसंस्तृतः संस्तारोऽसंस्तृत एव दृश्यते, ततः क्रियमाणत्वेन प्रत्यक्षसिद्धेन कृतत्वधर्मोऽपनीयते इति प्रत्यक्षविरुद्धता, ततो यद्भगवानाचष्टे—क्रियमाणं कृतमित्यादि तदनृतं, किन्तु कृतमेव कृतमिति, उक्तं च भाष्यकृता—"सक्खं चिय सत्थारो न कज्जमाणो कतोत्ति मे जम्हा।" (वि. २३०८) अन्यच्च—यदि क्रियमाणं कृतमित्यभ्युपगमस्ततः कृतस्यापि करणक्रिया प्रपन्ना, तथा च सत्यनुमानविरोधाद्यनेकदोषप्रसक्तिः, तथाहि—न कृतं क्रियमाणमग्रेऽपि भावात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र प्रथम निह्नव 'जमाली' वर्णयते

चिरन्तनघटवत्, अथ कृतस्यापि करणक्रिया तर्हि कृतत्वाविशेषादाकालमपरिसमाप्तिः, आह च—"जस्सेह कज्जमाणं कयंति तेणेह विज्जमाणस्स । करणकिरिया पवन्ना, तथा च बहुदोसआवत्ती ॥ १ ॥ कयमिह न कज्जमाणं, सब्भावातो चिरंतणघडोव्व । अहवा कयंपि कीरइ, कीरउ निच्चं न य समत्ती ॥ २ ॥" (विशेषा. २३०९–१०) अपिच—कृतमिति करणक्रियोत्तीर्णमुच्यते, ततो यदि कृतं ततः क्रियमाणत्वायोगः, करणक्रियोत्तीर्णतया करणक्रियाया वैकल्याद्, अन्यच्च–कृतमिति वदता क्तप्रत्ययस्यातीते काले निर्वर्त्तितमिति प्रतिपन्नम्, अथ च क्रियमाणं पूर्वमभूतं सम्प्रति भवदुपलभ्यते ततः क्तप्रत्ययस्यायोगः, इतश्चायोगो–घटादीनां कर्तुमारब्धानां द्राघीयसा कालेन परिनिष्पन्नतयोपलब्धेः क्रियाप्रथमसमय एव करणक्रियोत्तीर्णत्वायोगात्, तथाहि–नारंभक्रियाप्रथमसमय एव घटादयः परिनिष्पन्नाः समुपलभ्यन्ते, नापि शिवकाद्यवस्थायां, किन्तु विवक्षिते क्रियाचरमसमये इति, तथा चोक्तम्—"किरियावेफल्लं चिय पुव्वमभूयं च दीसए होंतं । दीसइ दीहो य जओ किरियाकालो घडाईणं ॥ १ ॥ नारंभेच्चिय दीसइ न सिवादवत्थाए दीसइ तदंते । तो नहि किरियाकाले कज्जं जुत्तं तदन्तंमि ॥ २ ॥" (विशेषा. २३११–२) एवं स्वमतं युक्तिभिरुपस्थाप्यैवमेव प्ररूपणां चकार, स चेत्थं प्ररूपयन् स्वगच्छस्थविरैरिदमुक्तः—हे आचार्य ! क्रियमाणं कृतमित्यादि भगवद्वचनमवितथमेव, प्रत्यक्षविरुद्धत्वायोगात्, तथाहि—क्रियमाणं नाम क्रियाविष्टमुच्यते, तद्यदि क्रियमाणं न कृतमित्यभ्युपगमस्तर्हि क्रियावैफल्यप्रसक्तिः, कार्योत्पादनार्थं हि क्रिया, प्रथमक्षणभाविन्या च क्रियया कार्यं नोत्पादितं क्रियमाणस्य कृतत्वानभ्युपगमात्, तद्यदि प्रथमे क्रियाक्षणे कार्यं नोत्पन्नं तत उत्तरेष्वपि क्रियाक्षणेषु तस्योत्पत्तिर्मा भूत्, को हि तासामुत्तरासां क्रियाणामात्मनि रूपविशेषो येन प्रथमया

आ.सू.६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नोत्पादितं तन्निरुत्पाद्यते ?, ततः सर्वदा कार्योत्पत्त्ययोगतः क्रियावैफल्यप्रसक्तिः, अथ च दृष्टा कार्यस्योत्पत्तिः, विचक्षिते क्रियाचरमसमये घटादेर्दर्शनात्, ततः प्रथमसमयेऽपि किञ्चिदुत्पन्नमिति प्रतिपत्तव्यं, यच्चोत्पन्नं तन्नोत्तरक्रियासिरुत्पाद्यते, निष्पन्नस्योत्पाद्यत्वायोगाद्, अन्यथा सर्वासामप्युत्तरक्रियाणां तत्रैव क्षय इति कार्यायोगः, ततो यत् यस्मिन् समये कार्यं कर्तुमारब्धं तत्तस्मिन् समये परिनिष्ठामियत्तीति न क्रियमाणं कृतमित्यादिभगवद्वचनं प्रत्यक्षविरुद्धं, यदप्युक्तम् 'अन्यच्च यदि क्रियमाणं कृतमित्यभ्युपगम इत्यादि' तदप्यसम्यक्, कृतस्य सतः करणक्रियानभ्युपगमात्, न खलु वयं करणक्रियोत्तीर्णं सन्तं क्रियमाणत्वेनाभ्युपगच्छामः, किन्तु यत् यस्मिन् समये कर्तुमारभ्यते तत्तस्मिन्नेव समये तद्योग्यक्रियायोगतः परिनिष्पत्तिमुपैतीत्येतद्दर्शनः, तथा च कुतोऽनुमानविरुद्धत्वादिदोषासङ्गः ?, एतेन यदप्युक्तम्–'अपि च कृतमिति (कृतमित्यादि'तत्र) करणक्रियोत्तीर्णस्य सतः क्रियमाणत्वानभ्युपगमात्, अन्यथा तूभयमप्यविरुद्धं, पूर्वसमये असतः कर्तुमारभ्यमाणत्वात् क्रियमाणत्वं, तस्मिन्नेव च समये परिनिष्ठामभ्युपगतमतः कृतत्वमिति, यच्चोक्तम्–'अन्यच्च कृतमिति वदतेत्यादि', तदप्यसमीचीनं, कृतं हि नाम करणक्रियोत्तीर्णं, यच्च यस्मिन् समये क्रियमाणं तत्तस्मिन्नेव समये करणक्रियाया उत्तीर्णं, भूयः करणक्रियानपेक्षणात्, न च चिरकालनिर्वर्त्तितमेव कृतमुच्यते, भूतमात्रे क्तप्रत्ययविधानात्, सा च भूतमात्रता क्रियमाणेऽपि करणक्रियोत्तीर्णत्वेनाविशिष्टेति न क्तप्रत्ययासम्भवः, यदप्यवादीत् 'इतश्चायोगो–घटादीनां कर्तुमारब्धानामित्यादि' तदपि विजृम्भितजडिमावबोधकं, यतः—प्रतिसमयमन्यदन्यद्विलक्षणं कार्यं तत्तत्सामग्रीवशादुपजायते, तथाऽभ्यक्षतो दर्शनात्, यच्च यस्मिन् समये कर्तुमारभ्यते तत्तस्मिन्नेव समये निष्ठामुपगच्छति, यच्च दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते स प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयभाविनां परस्परविलक्षणानां बहूनां कार्याणां, न त्वेकस्य, तेन यदुच्यते—'यदि क्रियमाणं कृतं तर्हि घटः प्रथमसमय एव क्रियमाणः कृत इति परिपूर्ण उपलभ्येत, न चोपलभ्यते, तस्मान्नैतत्सारमिति तदपाकृतमवसेयं, प्रथमसमये घटस्य करणानारम्भात्, चरमसमये हि घटः कर्त्तुमारब्धः, स च तस्मिन् समये उपलभ्यते एव, प्रथमसमये तु मृत्पिण्डादिकं कर्त्तुमारब्धम्, अन्यारम्भे च कथमन्यदुपलभ्यते ?, न खलु घटः पटारम्भे समुपलभ्यो भवति, उक्तं च—"पइसमउप्पन्नाणं परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं । दीहो किरियाकालो जइ दीसइ किं थ कुंभस्स ? ॥ १ ॥ अन्नारंभे अन्नं किह दीसइ जह घडो पढारंभे ? । सिवगादओ न कुंभो किह दीसइ सो तदद्धाए ॥ २ ॥" (विशेषा. २३१५–६) लोकस्तु मृत्पिण्डादीन्यपि कार्याणि घटकार्यानुयायीनीति घटत्वेनाध्यवस्यति, भवानपि च स्थूलमतितया व्यवहारपतितः सन् तथैवानेकप्रभूतकार्यक्रियाफलमतिद्राघीयांसं कालं घटे लगयति, आह—"पइसमयकज्जकोडीनिरवेक्खो घडमयाभिलासोऽसि । पइसमयकज्जकालं थूलमइ घडंमि लाएसि ॥ १ ॥" (विशेषा. २३१८) भगवद्वचनं च निश्चयमतानुगतं, तदेव च प्रमाणीकुर्वद्भिः साधुभिरपि यत् यत्र नभोदेशे यस्मिन् समये आस्तरीतुमारब्धं तत्तत्र तस्मिन् समये समास्तीर्णमेवेति तत्त्वमपेक्ष्य युष्मान् प्रत्यवादि—आस्तीर्णः संस्तारक इति, ततो न कश्चिद्दोषः । एवं सो जाहे न पडिवज्जइ ताहे असद्दहंता तस्स वयणं गया सामिसगासं, अण्णे तेणेव समं ठिया, पियदंसणावि तत्थेव ढंको नाम कुम्भकारो समणोवासतो तस्स घरे ठिया, सा वंदिउमागया, तंपि तहेव पन्नवेइ, सा तस्साणुरागेण मिच्छत्तं पडिवन्ना अज्जाणं पडिकहेइ, तं च ढंकं भणइ, सो चिंतेइ—एसा विपडिवन्ना वाहच्चएणं, ताहे सो भणइ—अहं न याणामि एवं विसेस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरं, अन्नया कयाइं तीसे सज्झायपोरिसिं करेंतीए ढंकेण भायणाणि उव्वत्तंतेण ततोहुत्तो इंगालो छूढो, ततो तीसे संघाडीए एगदेसो दड्ढो, सा भणइ–सावय ! किं ते संघाडी दड्ढा ?, ताहे सो सवित्थरं पण्णवेइ, सा संबुद्धा, तहत्ति पडिसुणइ, इच्छामि सम्मं पडिचोयणा, ताहे सा गंतूण जमालिं पन्नवेइ बहुविहं, सो जाहे न पडिवज्जइ ताहे सा सहस्सपरिवारा सेससाहुणो अ सामिसगासं गया, इयरोऽवि एगागी चंपं नगरीं गतो, तत्थ सामिस्स अदूरसामंते ठिच्चा सामिं भणइ–देवाणुप्पियाणं बहवे अंतेवासी समणा छउमत्थावक्कमेण वक्कंता, नो खलु अहं तहा छउमत्थावक्कमेणमवक्कंते, अहण्णं उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली भवित्ता केवलिअवक्कमेण अवक्कंते, तए णं भयवं गोयमे जमालिं एवं वयासी–नो खलु जमाली ! केवलिस्स नाणे वा दंसणे वा सेलथंभादिणा आवरिज्जइ, जइ णं तुमं जमाली ! उप्पन्ननाणदंसणधरे ता णं इमाइं दो वागरणाइं वागरेहि–सासए लोए ? असासए लोए ?, सासए जीए ? असासए जीए ?, तए णं से जमाली भयवया गोयमेणं एवं वुत्ते समाणे खुभिए नो किंचि पडिवयणं दाउं संचाएइ, तुसिणीए चिट्ठइ, ततो भयवं महावीरे जमालीं एवं वयासी–अत्थि णं जमाली ! मम बहवे अंतेवासी छउमत्था जे पभू एयं वागरणं वागरित्तए जहा अहं, नो पुण एयप्पगारं भासं भासित्तए, सासए लोए जमाली, जं न कयाइ नासी न कयाइ न भवइ न कयाइ न भविस्सइ, किंतु भुविं भवइ य भविस्सइ य, असासए लोए, जण्णं उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ, सासए जीए जमाली !, जन्नं न कयाइ नासी जाव न भविस्सइ य, असासए जीए, जं नेरइए भवित्ता तिरिक्खजोणीए भवइ तिरिक्खजोणीए भवित्ता मणुस्से भवति, मणुस्से भवित्ता देवे, सो य जमाली सामिस्स एवमाइक्खमाणस्स एय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

मट्ठं नो सद्दहइ, असद्दहंते सामिस्स अंतियातो अवक्कमइ, अवक्कमित्ता बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेण अप्पाणं परं च वुग्गाहेमाणे बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणित्ता बहूहिं छट्ठट्ठमाईहिं अप्पाणं भावित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं किच्चा लंतए कप्पे तेरससागरोवमट्ठिईए किब्बिसएसु देवेसु उववन्नो ॥ अक्षराणि त्वेवं नीयंते–ज्येष्ठा—महती सुदर्शनाभिधाना भगवतो भगिनी तस्याः पुत्रो नाम जमालिः, तस्य अनवद्याङ्गी नाम भगवतो दुहिता गृहिणी, अन्ये तु व्याचक्षते—ज्येष्ठा सुदर्शना अनवद्याङ्गीति जमालिगृहिणीनामानि, श्रावस्त्यां नगर्यां तिंदुकोद्याने, जमालेर्निह्नवस्य दृष्टिरुत्पन्नेति वाक्यशेषः, तत्र पञ्च शतानि साधूनां सहस्रं चार्यिकाणाम्, एतेषां च मध्ये यः स्वयं न प्रतिबुद्धः स जमालिं मुक्त्वा शेषः सर्वोऽपि ढङ्केन प्रतिबोधितः। गतः प्रथमो निह्नवः। साम्प्रतं द्वितीयं प्रतिपादयति—

सोलस वासाणि तया जिणेण उप्पाडिअस्स नाणस्स। जीवपएसिअदिट्ठी उसभपुरम्मी समुप्पन्ना ॥१२७॥(मू.भा.)

जिनेन भगवता महावीरेणोत्पादितस्य ज्ञानस्य–केवलज्ञानस्य यदा षोडश वर्षाणि अतिक्रान्तानि तदा जीवप्रदेशि-कदृष्टिः ऋषभपुरे समुत्पन्ना। कथमुत्पन्ना ?, रायगिहं नगरं, तत्थ गुणसिलयं चेइयं, तंमि वसू नाम भयवंतो आयरिया चोद्दसपुवी समोसढा, तस्स सीसो तीसगुत्तो नाम, सो आयप्पवायपुव्वे इमं आलावगमज्झाइ–'एगे भंते ! जीवप्पएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया ?, नो इणट्ठे समट्ठे, एवं दो जीवप्पएसा तिन्नि संखेज्जा असंखेज्जा वा जाव एगपएसूणेऽवि णं नो जीवेत्ति वत्तव्वं सिया, जम्हा कसिणे पडिपुन्ने लोगागासपएसतुल्लपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया' इत्यादि, एवमहिज्जंतो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ द्वितीय निह्नव 'तिष्यगुप्त' वर्णयते

मिथ्यात्वोदयतो विप्रतिपन्नः सन् इदमभिहितवान्—यद्येकादयो जीवप्रदेशाः खल्वेकप्रदेशहीना अपि न जीवव्यपदेशं लभन्ते, किन्तु चरमप्रदेशयुक्ताः, ततः स एवैकः प्रदेशो जीवः, जीवव्यपदेशस्य तद्भावभावित्वात्, स एवं प्रतिपादयन् गुरुणाऽभिहितो—नैतदेवं, जीवाभावप्रसङ्गात्, तथाहि—भवदभिमतोऽन्त्योऽपि प्रदेशो न जीवः, अन्यप्रदेशतुल्यपरिमाणत्वात्, प्रथमादिप्रदेशो वा जीवः, शेषप्रदेशतुल्यपरिमाणत्वात् अन्त्यप्रदेशवत्, न च पूरण इतिकृत्वा तस्य जीवत्वं युज्यते, एकैकस्य पूरणत्वाविशेषात्, एकमपि विना तस्यासम्पूर्णत्वात्, उक्तं च—"गुरुणाऽभिहितो जइ ते पढमपएसो न सम्मतो जीवो । तो तप्परिणामोच्चिय जीवो कहमंतिमो एसो ? ॥ १ ॥ अहव स जीवो कह नाइमोत्ति ? को वा विसेसहेऊ ते ? । अह पूरणोत्ति बुद्धी एक्केक्का पूरणे तस्स ॥ २ ॥" (विशेषा. २३३७-८) अपिच—कृत्स्नः—परिपूर्णो जीव इत्युक्तं, तत्र यदि प्रतिप्रदेशं जीवत्वं न स्यात् ततः कथमन्तिमप्रदेशप्रक्षेपेऽपि समुदाये जीवत्वं भवेत् ?, प्रत्येकमभावात्, रेणुषु तैलवत्, आह च—"जं सवहा न वीसुं सवेसुवि तं न रेणुतेल्लं व । सेसेसु असब्भूतो जीवो कहमंतिमपएसे ॥ १ ॥" (विशेषा. २३४०) अथ किमत्र युक्तिभिः ?, आगमः प्रमाणम्, आगमे च शेषाः सर्वेऽपि प्रदेशा जीवत्वेन निषिद्धाः, न त्वन्तिमप्रदेशः, तस्मात् स एव जीव इति, तदप्ययुक्तं, अन्त्यस्यापि प्रदेशस्यैकत्वेन 'एगे भंते ! जीवप्पएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया' इत्यादिना निषिद्धत्वात्, किंच—यदि तवागमः प्रमाणं तत आगमे 'जम्हा कसिणे पडिपुन्ने लोगागासप्पएसतुल्लप्पएसे जीवे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया' इत्यनेन सर्वप्रदेशा जीवत्वेनाभिहिताः, समुदायस्य समुदायिभ्यो व्यतिरिक्तस्याभावात्, उक्तं च—'आह सुयंमि निसिद्धा सेसा न उ अंतिमप्पएसो ॥ १ ॥ नणु एगोत्ति निसिद्धो

Jain Education Inter... For Private & Personal Use Only ...www.jainelibrary.org

सोऽवि सुए जइ सुयं पमाणं ते । सुत्ते सवपएसा भणिया जीवो न चरिमो ॥ २ ॥" त्ति, (विशेषा. २३४२–३) अथ यदि प्रतिप्रदेशं जीवत्वं तर्हि कथमेकादिप्रदेशानामागमे जीवत्वनिषेधः कृतः ?, उच्यते, परिपूर्णसमुदायस्य सत एकजीवत्वख्यापनार्थम्, अन्यथा प्रतिप्रदेशं जीवत्वप्रतिपादने प्रतिजीवं जीवबाहुल्याशङ्काप्रसक्तेः, एवमभिधीयमानेऽपि यदा न प्रतिपद्यते 'ताहे से काउस्सग्गो कतो, एवं सो बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेण य अप्पाणं परं च वुग्गाहेमाणो गतो आमलकप्पं नयरिं, तत्थ अंबसालवणे ठितो, तत्थ मित्तसिरीनाम समणोवासतो, तप्पमुहा य अन्ने, ते निग्गया आगया साहुणोत्ति, पच्छा सो पण्णवेइ, मित्तसिरी जाणइ जहा एए णिण्हगा, तहावि माइट्ठाणेणं पइदिणं गंतूण धम्मं सुणेइ, अण्णया तस्स घरे संखडी जाया, ताहे तेण निमंतिया–तुम्हेहिं सयमेव मम घरमागंतव्वं, ते गया, ताहे तस्स निविट्ठस्स विपुला खज्जगविही नीणिया, ततो एक्केक्कातो खंडखंडं देइ, एवं कूरस्स कुसणस्स वत्थस्स, ते जाणंति–एस पच्छा दाहिइ, पच्छा पाएसु पडितो, सक्खं च भणइ–एह वंदह साहू पडिलाभिया, अहो अहं धन्नो सपुन्नो जं तुब्भे मम घरं सयमेवागया, ताहे ते भणंति–किं धरिसियामो अम्हे ?, सो भणइ–तुज्झे मए ससिद्धांतेण पडिलाभिया, जइ नवरि वद्धमाणसामिस्स तणएण सिद्धंतेण (तो) पडिलाभेमि, तत्थ सो संबुद्धो भणइ–इच्छामि अज्जो ! सम्मं पडिचोयणा, ताहे पच्छा सावएण विहिणा पडिलाभिता, मिच्छादुक्कडं कयं, एवं ते सवे संबोहिया आलोइयपडिक्कंता विहरंति । अमुमेवार्थमुपसंजिहीर्षुराह—

रायगिहे गुणसिलए वसु चउदसपुवि तीसगुत्ताओ। आमलकप्पा नयरी मित्तसिरी कूरपिउडाइ ॥१२८॥ (भा.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

अस्याः प्रपञ्चार्थ उक्त एव, अक्षरगमनिका त्वेवम्–ऋषभपुरमिति वा राजगृहमिति वा एकार्थं, तत्र राजगृहे नगरे गुण-शिलके उद्याने वसुर्नाम चतुर्दशपूर्वी आचार्यः समवसृतः, तस्य शिष्यात् तिष्यगुप्तादेषा दृष्टिरुत्पन्नेति वाक्यशेषः, स च तिष्यगुप्त आमलकल्पा नाम या नगरी तां गतः, तत्र मित्रश्रीः श्रावकः, तेन कूरपिण्डादिना देशीवचनमेतत् कूरसि-क्थादिना प्रतिलाभनेन प्रतिबोधितः ॥ गतो द्वितीयो निन्हवः, सम्प्रति तृतीयप्रतिपादनार्थमाह—

चउद्दस दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स। अव्वत्तगाण दिट्ठी सेअविआए समुप्पन्ना ॥१२९॥ (भा.)

सिद्धिं गतस्य वीरस्य यदा द्वे वर्षशते चतुर्दशाधिके समतिक्रान्ते तदा अव्यक्तकानां दृष्टिः श्वेताम्बिकायां नगर्यां समुत्पन्ना ॥ सेयवियाए पोलासे उज्जाणे अज्जासाढा नामायरिया समोसढा, तेसिं बहवे आगाढजोगपडिवन्नगा अज्झा-येंति, स एवायरितो तेसिं वायणायरिओ, अण्णो तत्थ नत्थि, ते य आयरिया रत्तिं हिययसूलेण मया सोहम्मे कप्पे नलिणिगुम्मे विमाणे देवत्ताए उववण्णा, ओहिं पउंजंति, जाव पेच्छंति सरीरगं, ते य साहू आगाढजोगपडिवण्णगा, ते न जाणंति जहा आयरिया कालगया, ताहे तं चेव सरीरगं देवो अणुपविट्ठो, पच्छा उट्ठवेइ–वेरत्तियं करेह, एवं तेण तेसिं दिव्वप्पभावेण लहुं चेव समाणियं, पच्छा निप्फन्ने सुते भणइ–खमह भंते ! जं तुब्भे मए असंजएण वंदाविया, अहं अमुगदिवसे कालगतो, एवं सो खामेत्ता पडिगतो, तेवि तं सरीरगं छड्डेऊण चिंतेंति–एच्चिरं कालं असंजतो वंदितो, ततो ते अव्वत्तगभावं भावेंति–को जाणइ किं साहू देवो वा ?, तो न वंदिज्जन्ति, अन्नहा असंजयनमणं होज्जा, मुसा-वातो वा, जहा एस अमुगोत्ति, एवमव्यक्तभावं प्रतिपद्यमानास्ते स्थविरैरूचिरे–ननु यदि परस्मिन् सर्वत्र भवतां सन्देहस्तर्हि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ तृतीय-आदि निह्नवा: वर्णयन्ते

येनोक्तं देवोऽहमिति तत्रापि किं न सन्देहः ?, स किं देवो वा अदेवो वेति, अथ स स्वयमेवाचकथत् अहं देवस्तथा देवरूपं साक्षात् तस्योपलब्धमतो न तत्र सन्देहो, यद्येवं तर्हि ये स्वयं वदन्ति वयं साधवः साधुसमाचारं च परिपूर्णमरक्तद्विष्टमनसः कुर्वाणाः साक्षादुपलभ्यन्ते तेषु कः सन्देहो ? येन यूयं परस्परं न वन्दध्वे, अपिच—साधुवचनमेव सत्यतया प्रतिपत्तुं युक्तं, न देववचनं, देवो हि क्रीडाद्यर्थमन्यथापि भाषमाणः सम्भवति, न साधवः, तेषामरक्तद्विष्टतया विपरीतार्थकथनप्रवृत्तेरसम्भवात्, अन्यच्च–यदि प्रत्यक्षेष्वपि यतिषु भवतां सन्देहः तर्हि परोक्षेषु जीवादिषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु सुतरामसौ भविष्यति, ततः सम्यक्त्वस्याप्यभावः, अथ मन्येथा जिनवचनान्न तत्र सन्देहस्तर्हि तदेव जिनवचनं श्रमणपरिज्ञानेऽपि समानं, तथा च भगवद्वचनम्—"आलएण विहारेणं, ठाणा चंकमणेण य। सक्को सुविहिओ नाउं, भासावेणइएण य ॥ १ ॥" (आव. ११६० नि.) तस्माद्वन्दनीया एव यतयः, किञ्च—यथा जिनप्रतिमां जिनगुणरहितामपि जानन्तो भवन्तः परिणामविशुद्ध्यर्थं वन्दन्ते तथा किं न श्रमणमपि ?, उक्तं च–"जह वा जिणिंदपडिमं जिणगुणरहियंपि जाणमाणावि। परिणामविसुद्धत्थं वंदह तह किं न साहुंपि ? ॥ १ ॥" (वि. २३६५) अथ श्रमणानामसंयतरूपधारिणां वन्दने तद्गतपापानुमतिप्रसङ्गोऽतस्तद्वन्दनप्रतिषेधः, प्रतिमायां तूक्तदोषाभावाद् वन्दनमिति, तदयुक्तं, प्रतिमायामपि तथाविधभोगाऽर्थिव्यन्तराद्यधिष्ठितायां वन्दने तद्गतपापानुमतिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्, अथ भवतु प्रतिमा व्यन्तराधिष्ठिता तथापि तां जिनबुद्ध्या विशुद्धचित्तो नमस्यन् न दोषभाग् भवति, परिणामस्य विशुद्धत्वात्, परिणाम एव च निश्चयतः प्रमाणम्, यत उक्तम्—"परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगझरियसाराणं। परिणामियं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [–]

दीप अनुक्रम [–]

पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥ १ ॥" (ओघ. ७६१) यद्येवं तर्हि यतिरूपमपि यतिबुद्ध्या नमस्यतो विशुद्धचित्तस्य न कश्चिद्दोषः, परिणामविशुद्धेस्तत्रापि सद्भावात्, आह च भाष्यकृत्—"अस्संजयजइरूवे पावाणुमई मई, न पडिमाए । नणु देवाणुगयाए पडिमाइवि होज्ज सो दोसो ॥ १ ॥ अह पडिमाएँ न दोसो जिणबुद्धीएँ नमतो विसुद्धस्स । तो जइ-रूवं नमतो जइबुद्धीए कहं दोसो ? ॥ २ ॥" (वि. २३६७–८) अथैवं वदतां भवतामतिप्रसङ्गः, प्रकटमसंयतरूपानपि पार्श्वस्थादीन् नमस्यतो विशुद्धचित्तस्य दोषाभावप्रसक्तेः, तदसम्यक्, तद्वन्दनस्य भगवन्निषिद्धतया दोषहेतुत्वात्, ते हि प्रकटमसंयमचेष्टया चेष्टमानाः प्रवचनविडम्बिनः, प्रवचनविडम्बिनां च नमनं लिङ्गधारिणो विडम्बकस्येव प्रवचन-लाघवादिसम्पादकतया दोषहेतुः, अतो भगवता निषिद्धम्, उक्तं च–"जह वेलंबगलिंगं जाणंतस्स नमतो हवइ दोसो । निद्धंधसंपि नाऊण वंदमाणे धुवं दोसो ॥ १ ॥" (आ. ११४९ नि.) इत्यादि, ये तु सम्यक् संयमचेष्टया चेष्टन्ते ते प्रवचनोन्नतिकारिणोऽपरेषां संयमविषयबहुमानोत्पादकाः, अत एव सन्तानेन तीर्थप्रवृत्तिहेतवश्चेति, तेषु भवतां व्यव-हारतो नमस्करणमनुज्ञातमनेकगुणसद्भावात्, अन्यथा तीर्थोच्छेदप्रसक्तेः, तथाहि–द्वौ जिनशासने नयौ–निश्चयनयो व्यवहारनयश्च, तत्र निश्चयनयतः सर्वे दुर्ज्ञेयं, साम्भोगिका अपि हि साधवस्तत्त्वतः कुशीला वा अकुशीला वा चारित्रि-णोऽचारित्रिणो वेति न ज्ञातुं शक्यते, ततस्तैः सह संवासोऽपि न भवतामुचितो, गृहिणोऽपि वन्दमानाः किं ते तदानीं भावयतस्य उत गृहस्था एवेति दुर्लक्ष्यमतस्तेषु यथोक्तरूपाऽऽशीरपि न दातुं शक्या, व्रतार्थमुपस्थितोऽपि किं भव्यः किं वाऽभव्यो यदिवा किं चौरो वा पारदारिको वेति को वेद ?, ततः स्थिता दीक्षापि शिष्याणामिति, तदेवं निश्चयन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

येनैव केवलेन वर्त्तमान्युपगमे सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः, व्यवहारतस्तु यस्य सूत्रोक्ता यतिगुणाः स यतिरितरस्त्वयतिः, गृहस्थोचितनेपथ्यादिपरिकलितो गृही शेषस्त्वगृही, प्रशमसंवेगादिगुणान्वितो भव्य इतरस्त्वभव्यः, परोक्षेऽपि ग्रहणोचितसामग्र्यामपि च परद्रव्यानपहारतोऽचौरः, परस्त्रीसम्भाषणादिविकलोऽपारदारिकः, शेषस्तु चौरः पारदारिकश्चेति ज्ञातुं शक्यते, ततो व्यवहारप्रवृत्तिस्तीर्थानुच्छेदश्च, तस्माज्जिनवचनं प्रमाणीकुर्वद्भिरवश्यं द्वावपि नयौ प्रतिपत्तव्यौ, तत्प्रतिपत्तौ च पूर्वप्रव्रजितानां वन्दनमिति, उक्तं च—"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारनिच्छए मुयह । ववहारपरिच्चाए तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥ १ ॥ निच्छयतो दुन्नेयं को भावे कम्मि वट्टए समणो ? । ववहारतो य जुज्जइ जो वुत्तिहितो चरित्तम्मि ॥ २ ॥" (विशेषा. २२८२-३) इत्यादि, एवं भणमाणावि जाहे न पडिवज्जंति ताहे उग्घाडिया, ततो ते विहरंता रायगिहं गया, तत्थ मोरियवंसप्पसूतो बलभद्दो नाम समणोवासतो, तेण आगमिया अहा इहमागच्छंति, ताहे तेण गोहा आणत्ता—वच्चह गुणसिलए जे पव्वइयगा ते इहमाणेह, तेहिं आणिया, रण्णा भणिया—तिग्घं कडगमद्देण मारेह, ततो तेहिं पुरिसेहिं हत्थी कडगा य आणीया, ताहे ते साहुणो पभणिया—अम्हे जाणामो, जहा तुमं सावतो, तो अम्हं (कहं) मारावेसि ?, राया भणइ—तुब्भं चोरा णु चारिया णु अभिमरा णु ? को जाणइ ?, ते भणंति—अम्हे साहुणो, राया भणइ—किह तुब्भे समणा वा चारिगा वा, अहंपि समणोवासतो वा न वा ?, ताहे ते संबुद्धा, लज्जिया पडिवन्ना, निस्संकिया जाया, ताहे अंवाडिया सरेहिं मउएहि य, पच्छा संघोहणट्ठाए तुब्भं मए इमं एयारूवं कयंति मुक्का खामिया य । अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेयवि पोलासाढे जोगे तद्दिवसहिअयसूले य । सोहम्मि नलिणिगुम्मे रायगिहे मुरिअबलभद्दे ॥१३०॥ (भा.)

श्वेताम्ब्यां नगर्यां पोलासे उद्याने आषाढाख्य आचार्यः, योगे उत्पाटिते सति तद्दिवस एव हृदयशूले, समुत्पन्ने मृत इति वाक्यशेषः, स च सौधर्म्मकल्पे नलिनीगुल्मे विमाने समुत्पद्यावधिना पूर्ववृत्तान्तमवगम्य विनेयानां योगान् सारितवानिति वाक्यशेषः । सुरलोकगते तस्मिन् अव्यक्तमताः सन्तस्तद्विनेया विहरंतो राजगृहे नगरे मौर्यवंशोद्भवो बलभद्रो नाम राजा, तेन सम्बोधिता इति वाक्यशेषः ॥ उक्तस्तृतीयो निह्नवः, सम्प्रति चतुर्थमभिधित्सुराह—

वीसा दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स । सामुच्छेइअदिट्ठी मिहिलपुरीए समुप्पन्ना ॥ १३१ ॥ (भा.)

सिद्धिं गतस्य वीरस्य भगवतो यदा विंशत्युत्तरे द्वे वर्षशते गते तदा सामुच्छेदिकदृष्टिर्मिथिलायां पुर्यां समुत्पन्ना । कथमुत्पन्ना ?, उच्यते–मिहिलाए नयरीए लच्छिघरे चेइए महागिरी आयरिया, तेसिं सीसो कोडिन्नो, तस्स सीसो आसमित्तो, सो अणुप्पवाए पुवे नेउणियं वत्थुं पढइ, तत्थ छिन्नछेयनयवत्तवयाए आलावगो जहा–सवे पडुपण्णसमयनेरइया वोच्छिज्जिस्संति, एवं जाव वेमाणिया, एवं बिइयादिसमएसु वत्तवं, एत्थं तस्स वितिगिच्छा जाया जहा सवे पडुप्पण्णसमयसंजाया वोच्छिज्जिस्संति, एवं च कुतः सुकृतदुष्कृतानां कर्म्मणामनुभवनम्, उत्पादानन्तरमेव सर्वस्य विनाशसद्भावात्, तथा चोक्तं तन्मतेन—"एवं च कतो कम्माणुवेयणं सुकयदुक्कयाणंति । उप्पायाणंतरतो सवस्सवि णासस्सब्भावा ॥ १ ॥" स एवमादि प्ररूपयन् गुरुभिरभिहितो–वत्स ! इदमेकस्य क्षणक्षयवादिन ऋजुसूत्रनयस्य मतं, न सर्वनयानां, जिनमतं तु सर्वनयसापेक्षम्, अतो मिथ्यात्वं मा प्राजीत्, न खलु स्वपरपर्यायानन्तधर्म्मात्मकस्य वस्तुनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आ.सू.६९

कालपर्यायमात्रविनाशे सर्वथा विनाश उपपत्तिक्षमः, सतः सर्वथा विनाशायोगात्, 'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सत' इति वचनात्, अथ किमत्र कुर्म्मः ? सूत्रे साक्षादेवमभिहितत्वात्, तदयुक्तं, सूत्रे द्रव्यार्थतया शाश्वतस्यापि प्रतिपादनात्, तथा च सूत्रम्—"नेरइया णं भंते ! किं सासया ? असासया ?, गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?, गोयमा ! दवट्ठयाए सासया पज्जवट्ठयाए असासया" इत्यादि, अपिच—'सवे पडुप्पण्ण-समया नेरइया वोच्छिज्जिस्संती'त्यादावपि सूत्रे न सर्वथा विनाशोऽभिहितः, प्रथमसमयादिविशेषणोपादानात्, तथाहि—प्रथमसमयविशिष्टा नारका व्यवच्छेत्स्यन्ति, न सर्वथा, मूलद्रव्याविनाशतः, एवं द्वितीयादिसमयविशेषणोपादानेऽपि भावनीयमिति, उक्तं च भाष्यकृता—"एगनयमएणमिदं (णं) सुत्तं वच्चाहि मा हु मिच्छत्तं। निरवेक्खो सेसाणवि नयाण हिययं वियारेहि ॥ १ ॥ न य सवहाविणासो अद्धापज्जायमेत्तनासम्मि । सपरपज्जायाणंतधम्मिणो वत्थुणो जुत्तो ॥ २ ॥ (वि. २३९३) अह सुत्ताउत्ति मई नणु सुत्ते सासयंपि निद्दिट्ठं। वत्थुं दवट्ठाए असासयं पज्जयट्ठाए ॥ ३ ॥ (वि.२३९४) त (ए) त्थवि न सवनासो समयाइविसेसणं जतो विहियं। इहरा न सवनासे समयाइविसेसणं जुत्तं ॥४॥ (वि.२३९५)" ततः कथं सुकृतदुष्कृतानां कर्म्मणामनुभवनाभावः ? । एवं जाहे पण्णवितोवि णेच्छइ ताहे उग्घाडितो, ततो सो समुच्छेदं वागरेंतो कंपिल्लपुरं गतो, तत्थ खंडरक्खा नाम समणोवासगा, ते य सुंकवाला, तेहिं आगमियेल्लगा, ततो तेहिं गहेऊण मारेउमारद्धा, ताहे ते भयभीया भणंति—अम्हेहिं सुयं जहा तुब्भे सावगा, तहावि एए साहू मारेह, ते भणंति—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जे पव्वइयगा ते वोच्छिन्ना पुवं चेव, (तुम्हं) सिद्धंतो एस, अतो तुब्भे अण्णे केऽवि चोरा, ते भणंति–मा मारेह, एवं तेहिं संबोहिया पडिवन्ना सम्मत्तं ॥ अमुमेवार्थमुपसञ्जिघृक्षुराह—

मिहिलाए लच्छिघरे महगिरि कोडिन्न आसमित्ते अ। नेउणियणुप्पवाए रायगिहे खंडरक्खा य ॥१३२॥(भा.)

मिथिलायां नगर्यां लक्ष्मीगृहे चैत्ये महागिरय आचार्यास्तेषां शिष्यः कौण्डिन्यः, तस्यापि शिष्योऽश्वमित्रः, सोऽनुप्रवादाभिधाने पूर्वे नैपुणिकं वस्तु पठन् छिन्नच्छेदनकनयवक्तव्यतायामालापकानधीयानो मिथ्यात्वमगमत्, स च समुच्छेदं प्ररूपयन् काम्पिल्यपुरं राजगृहापरनामकं गतः, तत्र खण्डरक्षकाभिधानाः श्रमणोपासकास्तैः प्रतिबोधितः ॥ उक्तश्चतुर्थो निह्नवः, सम्प्रति पञ्चमं निह्नवमभिधित्सुराह—

अट्ठावीसा दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स। दोकिरियाणं दिट्ठी उल्लुगतीरे समुप्पन्ना ॥१३३॥(भा.)

यदा भगवतो द्वे वर्षशते अष्टाविंशत्युत्तरे गते तदा द्विक्रियाणां दृष्टिरुल्लुकातीरे समुत्पन्ना ॥ यथोत्पन्ना तथा प्रदर्श्यते– उल्लुका नाम नदी, तीए तीरे एगम्मि खेडट्ठाणं, बीयम्मि उल्लुगातीरं नगरं, तत्थ महागिरीणं आयरियाणं सीसो धणगुत्तो नाम आयरितो; तस्सवि सीसो गंगो नाम, सो आयरिओ, सो तीसे नदीए पुव्विमे तडे, आयरिया से अवरिमे तडे, ततो सो सरयकाले आयरियवंदतो उत्तलितो, सो य खल्लीडो, तस्स खल्ली उण्हेण डज्झइ, हेट्ठा य सीयलेण पाणिएण सीयं, ततो सो चिंतेइ–जहा सुत्ते भणियं–एगेण समएण एगा किरिया वेइज्जइ, सीया वा उसिणा वा, अहं च दो किरियातो वेएमि, अतो दो किरियातो एगेण समएण वेइज्जंति, ताहे आयरियाण साहइ, प्रमाणयति च–भवतो द्वावपि युग-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदुपयोगौ अनुभवसिद्धत्वात्, मम पादशिरोगतशीतोष्णक्रियासंवदनवत्, आचार्याः प्राहुः–कथं यूयमेवं प्रज्ञापयत, न खल्वेकेन समयेन द्वावुपयोगौ, केवलं समयस्य मनसश्चातिसूक्ष्मत्वात् सन्नपि कालभेदो नोपलक्ष्यते, तथाहि–शीघ्रसञ्चरणशीलं मनः, ततो येनेन्द्रियदेशेन यस्मिन् काले तन्मनः सम्बध्यते तदा तस्मिन्निन्द्रियदेशे तन्मात्रज्ञानहेतुरुपयुज्यते, दूरभिन्नदेशव्यवस्थितानि च पादशिरांसि, ततः कथमुपलभते भवान् युगपत् दूरभिन्नदेशे पादशिरोगतशीतोष्णवेदनानुभवरूपे द्वे क्रिये, उक्तं च–"सुहुमाऽऽसुचरं चित्तं इंदियदेसेण जेण जं कालं। संवज्झइ तं तम्मत्तनाणहेउत्ति णो तेण ॥ १ ॥ उवलभए किरियातो जुगवं दो दूरभिन्नदेसातो। पायसिरोगयसीउण्हवेयणाणुभवरूवातो॥२॥ जुग्मं। (वि.२४२९-३०) इतश्च नैककालमुपयोगद्वयं, यतोऽयमुपयोगमयो जीवस्ततो येनेन्द्रियदेशेन करणभूतेन यस्मिन् काले उपयोगवान् भवति तदा सर्वात्मना तथास्वाभाव्यात् तन्मात्रोपयोगवानेव जायते, नार्थोपयुक्तो, यथेन्द्रियोपयोगे वर्त्तमानो माणवकः सर्वात्मना तदुपयोगमात्रः, ततस्तदुपयोगमात्रोपयुक्तशक्तित्वात् कथं तत्कालमेवार्थान्तरोपयोगं गन्तुमर्हति?, तथा चोक्तम्–"उवतोगमतो जीवो उवजुज्जइ जेण जंमि जं कालं। सो तम्मेत्तुवयोगो होइ जहेंदोवयोगम्मि ॥ १ ॥ सो तदुवयोगमेत्तोवउत्तसत्तित्ति तस्समं चेव। अत्थंतरोवयोगं जाउ कहं केण वऽसेण? ॥ २ ॥" (विशेषा. २४३१-२) ततो यदुक्तमनुभवसिद्धत्त्वादिति साधनं तदसिद्धं प्रतिपत्तव्यं, दृष्टान्तोऽपि च साध्यसाधनविकलः, केवलमतिसूक्ष्मातीन्द्रियपुद्गलस्कन्धनिष्पादितत्वात् सूक्ष्मं मनः शीघ्रं सञ्चरणशीलं च, कालोऽपि च समयावलिकादिरतिसूक्ष्मः, तत उत्तराधरव्यवस्थापितोत्पलपत्रशतवेध इव यदिवाऽलातचक्र इव सन्तमपि कालभेदं भवान्नोपलक्षयते, आह च–"समयाइसुहु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मयातो मज्झसि जुगवं च भिन्नकालंपि । उप्पलसयवेहंपिव जह व तमलायचक्कं च ॥ १ ॥ (विशे. २४३३) एवं पण्णविज्जमाणोऽवि जाहे न पडिवज्जइ ताहे उग्घाडितो, सो हिंडंतो रायगिहं गतो, महातवोतीरप्पभं नाम पासवणं, तत्थ मणिनागो नाम नागो, तस्स चेइए ठाइ, सोऽवि तत्थ परिसामज्झे कहेइ जहा एगेण समएणं दो किरियातो वेइज्जंति, ततो मणिनागेण तीसे परिसाए मज्झे भणियं–अरे दुट्ठसेह ! कीस एयमपण्णवणं पण्णवेसि ?, एत्थ चेव ठाणे ठिएण भयवया वद्धमाणसामिणा वागरियं जहा एगेणं समएणं एगं किरियं जीवो वेएइ, तुमं किं सि लट्ठयरो जातो ?, ता छड्डेहि एयं वायं, मा ते दोसेण सेहामि, एवं वीहावितो उवट्ठितो भणइ–मिच्छामि दुक्कडंति, उक्तं च–"मणिनागेणारद्धो भयोववत्तिपडिबोहितो वोत्तुं । इच्छामो गुरुमूलं गन्तूण ततो पडिक्कंतो ॥ १ ॥" (वि.२४५०) एनमेवार्थं सङ्गिघृक्षुराह—

नइखेडजणवउल्लुग महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य । किरिया दो रायगिहे महातवोतीर मणिनागो ॥१३४॥(भा.)

उल्लुका नाम नदी, तदुपलक्षितो जनपदोऽप्युल्लुका, उल्लुकायाश्च नद्या एकस्मिन् तीरे धूलीप्राकारावृतनगररूपं खेटं, द्वितीये उल्लुकातीरं नाम नगरं, तत्र महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम, तस्यापि शिष्य आर्यगङ्गः, स शिरसा खल्वाटः, स मार्गशिरसि मासे नदीमुत्तरन् पादशिरोगतशीतोष्णवेदनानुभवतो युगपत् द्वे क्रिये अनुभूयेते इति प्रतिपन्नवान्, राजगृहे गतः, तत्र महातपस्तीरप्रभं नाम प्रश्रवणं, तत्र मणिनागो नाम नागः, स तं प्रतिबोधितवानिति वाक्यशेषः । उक्तः पञ्चमो निन्हवः, सम्प्रति षष्ठमुपदर्शयन्नाह—

पंच सया चोयाला तइआ सिद्धिं गयस्स वीरस्स । पुरिमंतरंजिआए तेरासियदिट्ठि उप्पन्ना ॥ १३५ ॥ (भा.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

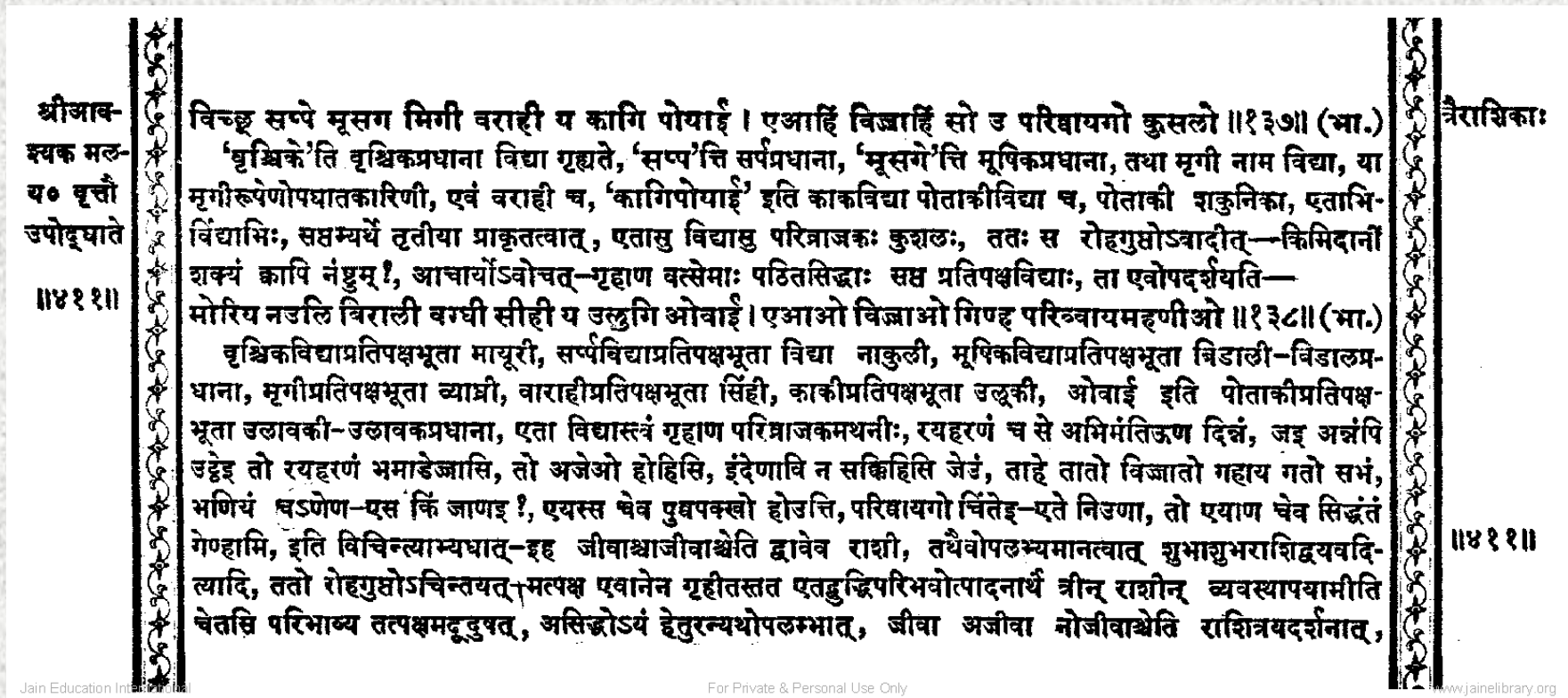
यदा सिद्धिं गतस्य वीरस्य भगवतो पञ्च वर्षशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि गतानि तदा पुरि अंतरञ्जिकायां, मकारोऽलाक्षणिकः, त्रैराशिकानां दृष्टिरुत्पन्ना ॥ कथमिति चेत्, उच्यते–अंतरंजिया नाम पुरी, तत्थ भूयगुहं नाम चेइयं, तत्थ सिरिगुत्ता नाम आयरिया ठिया, तत्थ बलसिरी नाम राया, तेसिं पुण सिरिगुत्ताणं नाम थेराण भायणिज्जो रोहगुत्तो नाम सीसो, सो पुण अन्नगामे ठियल्लतो, पच्छा आयरियं वंदओ एइ, तत्थ य एगो परिवायगो पोट्टं लोहपट्टेण बंधित्ता जंबूसालं च गहाय हिंडइ, पुच्छितो भणइ माणेण–पोट्टं फुट्टइ, ता लोहपट्टेण बद्धं, जंबूसाला जहा एत्थ जंबुदीवे नत्थि मम पडिवादी, ताहे तेण य पडहगो नीणावितो, जहा सुण्णा परप्पवाया, तस्स य पोट्टसालो नामं कयं, सो पडहगो रोहगुत्तेण वारितो, अहं वायं देमित्ति, ततो सो पडिसेहित्ता गतो आयरियसगासं, आलोएइ–एवं मए पडहगो वारितो । अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

पुरिमंतरंजि भूअगुह बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते अ । परिवाय पुट्टसाले घोसण पडिसेहणा वाए ॥१३६॥(भा.)

पुरी अन्तरञ्जिका, तस्या बहिर्भूतगुहं नाम चैत्यं, तत्र श्रीगुप्तनामाचार्यः स्थितः, तस्यां च पुरि बलश्रीर्नामराजा, तस्य चाचार्यस्य भागिनेयो रोहगुप्तो नाम शिष्यः, सोऽन्यग्रामे स्थितः, तस्यां च नगर्यां पोट्टशालो नाम परिव्राजकः, स वादे–वादविषये पटहेन घोषणां कारितवान्, तेन च रोहगुप्तेनान्यस्माद् ग्रामादागच्छता पटहकः प्रतिषेधितः, आगतेन चाचार्येभ्यो निवेदितम्, आचार्याः प्राहुः–विरूपं कृतं, स विद्याभिर्बलीयान्, ततो वादे पराजितोऽपि विद्याभिरुपतिष्ठते, ताश्च विद्यास्तस्येमाः सप्त—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** निह्नव-कथानक मध्ये अत्र त्रैराशिक-मत-वादिन: कथा



श्रीआवश्यक मल० वृत्तौ उपोद्घाते ॥४११॥

विच्छू सप्पे मूसग मिगी वराही य कागि पोयाई । एआहिं विज्जाहिं सो उ परिव्वायगो कुसलो ॥१३७॥ (भा.)

'वृश्चिके'ति वृश्चिकप्रधाना विद्या गृह्यते, 'सप्प'त्ति सर्पप्रधाना, 'मूसगे'त्ति मूषिकप्रधाना, तथा मृगी नाम विद्या, या मृगीरूपेणोपघातकारिणी, एवं वराही च, 'कागिपोयाई' इति काकविद्या पोताकीविद्या च, पोताकी शकुनिका, एताभिर्विद्याभिः, सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात्, एतासु विद्यासु परिव्राजकः कुशलः, ततः स रोहगुप्तोऽवादीत्—किमिदानीं शक्यं क्वापि नंष्टुम्?, आचार्योऽवोचत्—गृहाण वत्सेमाः पठितसिद्धाः सप्त प्रतिपक्षविद्याः, ता एवोपदर्शयति—

मोरिय नउलि विराली वग्घी सीही य उलुगि ओवाई । एआओ विज्जाओ गिण्ह परिव्वायमहणीओ ॥१३८॥ (भा.)

वृश्चिकविद्याप्रतिपक्षभूता मायूरी, सर्पविद्याप्रतिपक्षभूता विद्या नाकुली, मूषिकविद्याप्रतिपक्षभूता बिडाली–बिडालप्रधाना, मृगीप्रतिपक्षभूता व्याघ्री, वाराहीप्रतिपक्षभूता सिंही, काकीप्रतिपक्षभूता उलूकी, ओवाई इति पोताकीप्रतिपक्षभूता उलावकी–उलावकप्रधाना, एता विद्यास्त्वं गृहाण परिव्राजकमथनीः, रयहरणं च से अभिमंतिऊण दिन्नं, जइ अन्नंपि उट्ठेइ तो रयहरणं भमाडेज्जासि, तो अजेओ होहिसि, इंदेणावि न सक्किहिसि जेउं, ताहे तातो विज्जातो गहाय गतो सभं, भणियं च डंडेण–एस किं जाणइ?, एयस्स चेव पुव्वपक्खो होउत्ति, परिव्वायगो चिंतेइ–एते निउणा, तो एयाण चेव सिद्धंतं गेण्हामि, इति विचिन्त्याभ्यधात्–इह जीवाश्चाजीवाश्चेति द्वावेव राशी, तथैवोपलभ्यमानत्वात् शुभाशुभराशिद्वयवदित्यादि, ततो रोहगुप्तोऽचिन्तयत्–मत्पक्ष एवानेन गृहीतस्तत एतद्बुद्धिपरिभवोत्पादनार्थं त्रीन् राशीन् व्यवस्थापयामीति चेतसि परिभाव्य तत्पक्षमदूदुषत्, असिद्धोऽयं हेतुरन्यथोपलम्भात्, जीवा अजीवा नोजीवाश्चेति राशित्रयदर्शनात्,

त्रैराशिकाः

॥४११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्र जीवा नारकतिर्यगादयः, अजीवा घटादयः, नोजीवा गृहकोकिलापुच्छादयः, ततो जीवाजीवनोजीवरूपास्त्रयो राशयस्तथैवोपलभ्यमानत्वात्, अधममध्यमोत्तमराशित्रयवत् एवमनेकाभिर्युक्तिभिः स निष्प्रश्नव्याकरणः कृतः । ताहे सो परिव्वायगो रुट्ठो विच्छुए मुयइ, ततो सो तेसिं पडिवक्खे मोरे पक्खिवइ, ताहे तेहिं विच्छुएसु हएसु पच्छा सो सप्पे मुयइ, इयरो तेसिं पडिघायणत्थं नउले, ताहे उंदरे, इयरो तेसिं मज्जारे, पच्छा सो मिगे, इयरो तेसिं वग्घे, ताहे वराहे, इयरो तेसिं सीहे, ततो कागे, तेसिं पडिवक्खे उलूगे, ततो पोयागिं मुयइ, इयरो तासिं ओयाइं, एवं जाहे न तरइ ताहे गद्दही मुक्का, सा तेण रयहरणेण आहता, सा परिव्वायगस्स उवरिं छेरित्ता गया, ताहे सो परिव्वायगो हीलिज्जंतो निच्छूढो, ततो सो परिव्वायगं पराजिणिऊण गतो आयरियसगासं, आलोएइ जहा एवं सो परिव्वायगो जितो, आयरिया भणंति–कीस ते उवट्ठिएण न भणियं–नत्थि तिन्नि रासीतो?, मए एयस्स बुद्धिपरिभवणत्थं पण्णवियातो, इयाणिंपि गंतुं भणिहि, सो नेच्छइ, मा मे ओहावणा होज्जा, पुणो पुणो भणितो भणइ–यदि नाम त्रयो राशयः प्ररूपितास्ततः कोऽत्र दोषो?, जीवदेशरूपस्य नोजीवस्यागमेऽपि प्रतिपादनात्, तथाहि–देशनिषेधपरो नोशब्दस्तत्र तत्र प्रदेशे श्रुते प्रसिद्धः, ततो गृहकोकिलापुच्छादि जीवाजीवेभ्यो विलक्षणं जीवद्रव्यदेशरूपं नोजीवशब्दवाच्यं भवति, गृहकोकिलापुच्छादिकं हि न जीवत्वेन व्यपदेष्टुं शक्यं, तत्कार्यैकदेशत्वेन तद्विलक्षणत्वात्, नाप्यजीव इति प्रतिपाद्यं, स्फुरणादिभिस्तेभ्योऽपि विलक्षणत्वात्, अथ च जीवद्रव्यदेशरूपं ततो नोजीव इति, अन्यच्च–सर्वनयसमूहात्मकं जिनमतं, नयाश्च नैगमादयः सप्त, तत्र समभिरूढो नयो जीवप्रदेशं नोजीवशब्दवाच्यमिच्छन्नागमेऽप्यभिहितः, तथा चानुयोगद्वारेषु प्रमाणद्वारान्तर्गतं नयप्रमाणं विचारयता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रोक्तं–"समभिरूढो सद्दनयं भणइ–जइ कम्मधारएण भणसि तो एवं भण–जीवे य से पएसे नोजीवे"त्ति, ततः प्रदेश-लक्षणो जीवैकदेशो नोजीवः श्रुतेऽप्युक्त इति न कश्चिद्दोषः, एवं षडुलूकेनोक्ते आचार्यः प्रतिविधत्ते–यदि नाम तव श्रुतं प्रमाणं ततो यदेवाभिहितं श्रुते तदेवाङ्गीकर्त्तव्यं, न शेषं, श्रुते च तत्र तत्र प्रदेशे द्वावेव जीवाजीवलक्षणौ राशी प्रतिपाद्येते, न तृतीयं नोजीवलक्षणं राश्यन्तरम्, तथा च स्थानाङ्गे सूत्रम्–'दुवे रासी पन्नत्ता, तंजहा—जीवा चेव अजीवा चेव, अनुयोगद्वारेषु–कइविहा णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?, गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तंजहा–जीवदव्वा य अजीवदव्वा य। उत्तराध्ययनेषु—'जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए' इत्यादि, यदप्युक्तं–'देशनिषेधपरो नोशब्द इत्यादि', तद-प्यसमीक्षिताभिधानं, प्रायेण विवक्षितद्रव्यैकदेशे द्रव्यात्पृथग्भूते नोशब्दः प्रवर्त्तते, सर्वत्र तथाप्रयोगदर्शनात्, न च पुच्छादिकं गृहकोकिलादिभ्यो भिन्नं, तत्सम्बद्धत्वात्, तथापि हि छिन्नेऽपि गृहकोकिलापुच्छादौ तदन्तराले सम्बद्धा एव जीवप्रदेशाः सन्ति, तथा सूत्रेऽभिधानात्, तथा च व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्–अह भंते ! कुम्मो कुम्मावलिया गोहा गोहा-चलिया गोणे गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिसावलिया एएसि णं दुहा वा तिहा वा संखेज्जहा वा छिन्नाणं जे अंतरा तेवि णं तेहिं जीवपएसेहिं फुडा ?, हंता फुडा, पुरिसे णं भंते ! ते(सिं) अंतरे हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा आमुसमाणे वा संफुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अण्णयरेण वा तिक्खेण सत्थजाएणं आच्छिंदमाणे वा विच्छिंदमाणे वा अगणिकाएणं समोडहेमाणे वा तेसिं जीवपएसाणं किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएइ छविच्छेयं वा करेइ ?, नो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ" इति, अथ यद्यन्तरालेऽपि जीवप्रदेशाः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बद्धाः सन्ति ततस्ते तैजसकार्म्मणशरीरानुगता वर्त्तन्ते इति किमिति चक्षुषा न गृह्यन्ते ?, उच्यते, स्वतो जीवप्रदेशानाम-मूर्त्तत्वात्, कार्मणतैजसपुद्गलानां चातिसूक्ष्मत्वात्, उक्तं च–"गिहकोइलाइपुच्छे छिन्नेऽवि तदंतरालसंबंधो । सुत्तेऽभिहितो सुहुमामुत्तत्तणतो तदग्गहणं ॥१॥"(वि.२४६४) ननु मा भूच्चक्षुषा ग्रहणं, केवलं यथा देहे पुच्छादौ च स्फुरणादिभिर्लिङ्गैर्जीव-प्रदेशानामुपलम्भनं तथाऽन्तरालेऽपि कस्मान्न भवति ?, उच्यते, देहे देहैकदेशे वा स्थितानां तेषां. तथोपलभ्यमानस्वभा-वत्वात्, वस्तुस्वभाव एष न पर्यनुयोगमर्हति, तथाहि–प्रदीपरश्मयो मूर्त्ता अपि स्थूला अपि च भूकटकुड्यवरण्डकान्धकारा-दिस्थूलमूर्त्तवस्तुगता एव ग्रहणमायान्ति,न केवलेष्वाकाशप्रदेशेषु,तथा स्वभावत्वाद्, एवमत्रापि भावनीयम् ,उक्तं च–"गेज्झा मुत्तगयातो नागासे जह पदीवरस्सीतो । तह जीवलक्खणाइं देहे न तदंतरालंमि॥१॥"(वि.२४६५)केवलमतिशयिना दृष्टत्वात् ते सन्तीति प्रतिपत्तव्याः, ततोऽपान्तरालेऽपि प्रदेशानां सद्भावतः सम्बद्धत्वात् पुच्छादिकं गृहकोकिलादिजीवेभ्यो न भिन्न-मिति जीव एव, न तु नोजीव इति, यदप्युक्तं 'तत्र समभिरूढो नयो जीवप्रदेशं नोजीवशब्दवाच्यमिच्छन् आगमेऽप्य-भिहित' इत्यादि, तन्न सम्यक्, यतः समभिरूढोऽपि नयो नोजीवमिति ब्रुवाणो न जीवादन्यं प्रदेशमभिमन्यते 'जीवे य से पएसे' इति कर्म्मधारयसमासाङ्गीकरणात्, उक्तं च–"नोजीवंति न जीवादन्नं देसमिह समभिरूढोत्ति । इच्छइ वेइ समासं जेण समाणाहिगरणं सो ॥१॥"(वि. २४७६) ततः पृथग्भूतस्य देशस्य तेनाप्यपरिकल्पनान्न तृतीयराशिसम्भवः, अथवा भवतु तस्य भिन्नदेशपरिकल्पना तथापि न तन्मतं प्रमाणम् ,एकनयात्मकतया मिथ्यारूपत्वात् , प्रमाणं तु सर्वनयम-तावरोधि सम्यग्रूपत्वात्, प्रमाणभूतं चेह वस्तु विचार्यते, ततो द्वावेव राशी प्रतिपद्यतामिति, उक्तं च–"इच्छउ व

Jain Education Intern For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

श्रीआवश्यक मल० वृत्तौ उपोद्घाते ॥४१३॥

समभिरूढो देसं नोजीवमेगनइगं तु । मिच्छं तं संमत्तं सवनयमयावरोहेण ॥ १ ॥ तं जइ सवनयमयं जिणमयमिच्छसि पवज्ज दो रासी । पयविप्पडिवत्तीएवि मिच्छत्तं किं न रासीसु ? ॥ २ ॥" (वि. २४७९-८०) अपिच–भवतु भवदभिप्रायेण जीवदेशस्य भेदपरिकल्पना नोजीवशब्दवाच्यता च, तथाऽप्येवमजीवदेशोऽपि नोअजीवशब्दवाच्यः प्रसजति, न्यायस्योभयत्र समानत्वात्, ततश्चत्वारो राशयः प्रसक्ताः–जीवा नोजीवा अजीवा नोअजीवा इति, न त्रयो राशयः, आह च–"एवंपि रासतो ते न तिन्नि चत्तारि संपसज्जंति । जीवा तहा अजीवा नोजीवा नोअजीवा य ॥ १ ॥" (वि.२४७३) तत एवमपि भवतः प्रतिज्ञाव्याघातः, तस्माज्जिनवचनमेवाश्रयणीयं, न स्वमत्या किञ्चित्परिकल्पयितव्यमपारसंसारप्रसक्तेः । एवं पण्णविज्जमाणोऽवि न जाहे पडिवज्जइ ताहे आयरिएहिं चिंतियं–जहा एस पणट्ठो बहुलोगं नासिहिइ, तो णं रायसभाए गंतूण बहुलोगपच्चक्खं निगिण्हामि, जेण गज्झवको न हवइ, एवं चिंतिऊण आयरिया रायसभं गया, बलसिरिरायाणं भणंति–तेण मम सीसेण अवसिद्धंतेण भणितो, अम्हं दुवे चेव राशी, इयाणिं सो विप्पडिवण्णो तो तुज्झे अम्हं वायं सुणेह, राइणा पडिस्सुयं, ततो तेसिं रायसभाए रायपुरतो आवडियं, जहेगदिवसं एवं उट्ठाय छम्मासा गया, ताहे राया भणइ–मम रज्जं अवसीयइ, ततो आयरिएहिं भणियं–इच्छाए मए एच्चिरं कालं धरितो, एत्ताहे पासह, कलं दिवसे आगए निगिण्हामि, ततो पभाए भणइ–कुत्तियावणे परिक्खिज्जउ, तत्थ सवदव्वाणि अत्थि, तत्थ गया, ततो भणियं–आणेह जीवे अजीवे नोजीवे य, ताहे देवयाए जीवा अजीवा य दिन्ना, नोजीवा नत्थित्ति भणियं, अजीवं वा पुणो देइ, एवमादिचोयालसएण पुच्छाण निग्गहितो । अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

त्रैराशिका ॥४१३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरिगुत्तेणवि छलुगो छम्मास विकड्ढिऊण वायजिओ।आहरण कुत्तिआवण चोयालसएण पुच्छाणं॥१३९॥(भा.)

श्रीगुप्ताचार्येण षटपदार्थप्ररूपणात् उलूकगोत्रत्वाच्च षडुलूको–रोहगुप्तः, उक्तं च–"नामेण रोहगुत्तो गोत्तेणालप्पए स वोलूगो। दवाइछप्पयत्थोवएसणा सो छलूगत्ति ॥१॥" (वि.२५०८) पूर्वं षण्मासान् विकृष्य–अतिवाह्य वादे जितो–निगृहीतः, कथमित्याह–'आहरणकुत्तियावणे'त्यादि, स्वर्गमर्त्यपातालभूमीनां त्रिकं कुत्रिकं, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति भुवनत्रयेऽपि यद्वस्तु जातं तत् कुत्रिकमित्युच्यते, तस्य पणायानिमित्तमापणो–हट्टः कुत्रिकापणः, यदिवा कौ–पृथिव्यां त्रिकस्य–जीवधातुमूलात्मकस्य समस्तलोकभाविनो वस्तुजातस्यापणः कुत्रिकापणः, अस्मिंश्च कुत्रिकापणे वणिजः कस्यापि मन्त्राद्याराधितः सिद्धो व्यन्तरः सुरः क्रायकजनसमीहितं समस्तमपि वस्तु कुतोऽप्यानीय सम्पादयति, तन्मूल्यद्रव्यं तु वणिग् गृह्णाति, अन्ये त्वभिदधति–वणिग्विवर्जिताः सुराधिष्ठिता एव ते आपणाः सन्ति, मूल्यद्रव्यमपि स एव व्यन्तरसुरः स्वीकरोति, एते च कुत्रिकापणाः प्रतिनियतेष्वेव नगरेषु भवन्ति, न सर्वत्र, एष च कुत्रिकापणो दृष्टान्त इति वादिप्रतिवादिप्रतिज्ञातार्थनिर्णयसमर्थ इत्याहरणं, आहरणं च स कुत्रिकापणः तस्मिन् यत् वक्ष्यमाणभूजलज्वलनादिविषयाणां पृच्छानां चतुश्चत्वारिंशं शतं तेन, तत्र चतुश्चत्वारिंशं शतमिदं–तेन रोहगुप्तेन षट् पदार्थाः प्रकल्पिताः, तद्यथा–द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः, उक्तं च–"दवगुणकम्मसामन्नविसेसा छट्ठओ य समवाओ। एए मूलपयत्था छलुगेण पक्खिया पढमं ॥ १ ॥" तत्र द्रव्यं नवभेदं, तद्यथा–पृथिवी जलं तेजः पवनं आकाशं कालो दिक् आत्मा मनश्च, उक्तं च–"भूजलजलणानिलनहकालदिसाऽऽया मणो य दवाइं। भन्नंति नवेयाइं सत्तरस गुणा इमे अन्ने ॥१॥" (विशे.२४९०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणाः सप्तदश, तद्यथा–रूपं रसो गन्धः स्पर्शः सङ्ख्या परिमाणं पृथक्त्वं संयोगो विभागः परत्वापरत्वे बुद्धिः सुखं दुःखं इच्छा द्वेषः प्रयत्नश्च, कर्म्म पञ्चविधम्–तद्यथा–उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति, उक्तं च–"रूवरसगंधफासा संखा परिमाणमह पुहुत्तं च । संजोगविभागपरापरत्तबुद्धी सुहं दुक्खं ॥१॥ इच्छा दोस पयत्ता एत्तो कम्मं तयं च पंचविहं । उक्खेवणमक्खेवणपसारणाऽऽकुंचणा गमणं ॥२॥" (वि. २४९१-२) सामान्यं त्रिविधं, तद्यथा–सत्ता १ सामान्यं २ सामान्यविशेषश्च ३, तत्र द्रव्यगुणकर्मलक्षणेषु पदार्थेषु सदुद्धिहेतुः सत्ता, सामान्यं द्रव्यत्वगुणत्वादि, सामान्यविशेषः पृथिवीत्वं जलत्वं कृष्णत्वं नीलत्वमित्याद्यवान्तरसामान्यरूपः, अन्ये त्वित्थं सामान्यस्य त्रैविध्यमुपवर्णयन्ति–अविकल्पं महासामान्यं १ त्रिपदार्थसदुद्धिहेतुभूता सत्ता २ सामान्यविशेषो द्रव्यत्वादि ३, महासामान्यसत्तयोर्विशेषणव्यत्यय इत्यन्ये, द्रव्यगुणकर्म्मरूपपदार्थत्रयसदुद्धिहेतुः (महा) सामान्यं, अविकल्पा सत्तेति, अन्त्या विशेषाः, अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिहेतिप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः, अमीषां च नवानां द्रव्याणां सप्तदशानां गुणानां पञ्चानां कर्म्मणां त्रयाणां सामान्यानां विशेषसमवाययोश्चैकत्र मीलने षट्त्रिंशद्भवन्ति, एकैकविषयाश्च चत्वारो विकल्पाः, पृथिवी अपृथिवी नोपृथिवी नोअपृथिवी च, एवमबादिष्वपि प्रत्येकं भावनीयं, ततः षट्त्रिंशच्चतुर्भिर्गुणिताश्चतुश्चत्वारिंशं शतं भवति, ततः पृथिवीं देहीत्युक्ते मृत्तिकां ददाति, अपृथिवीं देहीत्युक्ते मृत्तिकाव्यतिरिक्तं तोयादि, नोपृथिवीं देहीत्युक्ते न किञ्चिद् ददाति तोयादिकं वा प्रयच्छति, न पृथ्व्या राश्यन्तरं, नोअपृथिवीत्युक्तावपि न किञ्चिद्ददाति, यदिवा तामेव मृत्तिकां ददाति, एवं सर्वत्र पृच्छा, उक्तप्रकारेण दानं च, न च पुनः क्वापि तृतीयस्य राश्यन्तरस्य प्रदानमिति, आह च भाष्यकारः–"जीवम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवं दाउं नोजीवं जाइ तो पुणरजीवं । देइ चरिमंमि जीवं न उ णोजीवं न जीवदलं ॥ १ ॥" इत्यादि (वि. २५०४)

एवं स षडुलूकः कुत्रिकापणे गुरुणा राजसमक्षं निर्जितः, ततो गुरुः श्रीगुप्तनामा नरपतेः सकललोकाच्च परमां पूजामवाप, षडुलूकोऽपि च गुरुप्रत्यनीकत्वात् जनप्रयुक्तधिक्कारोपहतो राज्ञा राजसभातो निष्कासितः । ततः किमित्याह—

वाए पराजिओ सो निव्विसओ कारिओ नरिंदेणं । घोसाविअं च नयरे जयइ जिणो वद्धमाणुत्ति ॥१४०॥(भा.)

स रोहगुप्तो गुरुणा वादे पराजितः सन् नरेन्द्रेण निर्विषयः कारितः, तथा पटहकप्रदापनेन समस्तेऽपि नगरे घोषितं यथा जयति जिनः श्रीमान् वर्द्धमान इति, तस्य च रोहगुप्तस्य वादे निर्जितस्य भागिनेयेनापि सताऽनेन महती मम प्रत्यनीकता कृतेति सञ्जातप्रबलकोपेन गुरुणा शिरसि खेलमल्लकः स्फोटितः, ततोऽभिनिवेशात्तेन भस्मखरण्टितवपुषैव स्वमत्या द्रव्यादयः पदार्थाः परिकल्पिताः, तांश्च परिकल्प्य वैशेषिकमतं प्ररूपयामास, तच्चान्यैस्तच्छिष्यादिभिः परमां स्फातिमुपनीतम्, आह च भाष्यकृत्–"तेणाभिनिवेसातो समइविगप्पियपयत्थमादाय । वइसेसियं पणीयं फाइकयमन्नमन्नेहिं ॥ १ ॥" (वि. २५०७) गतः षष्ठो निन्हवः, सम्प्रति सप्तमं प्रतिपिपादयिषुराह—

पंचसया चुलसीआ तइआ सिद्धिं गयस्स वीरस्स । अव्वद्धिगाण दिट्ठी दसपुरनयरे समुप्पन्ना ॥१४१॥ (भा.)

यदा सिद्धिं गतस्य भगवतो वीरस्य पञ्च वर्षशतानि चतुरशीतानि संमतिक्रान्तानि तदा दशपुरनगरे अबद्धिकनिन्हवदृष्टिः समुत्पन्ना । कथमुत्पन्ना ?, उच्यते–इह आर्यरक्षितवक्तव्यतायां कथानकं प्रायः कथितमेव यावत् गोष्ठामाहिलः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

अन्युद्ग(द्ग)रके विन्ध्यनाम्नि कर्मबन्धचिन्तायां कर्मोदयादभिनिविष्टो विप्रतिपन्नः, तत्र कथानकानुसन्धानाय प्रागुक्तानुवादपरां सङ्ग्रहगाथामाह—

दसपुरनगरुच्छुघरे अज्जरक्खिअपूसमित्ततिअगं च। गुट्ठामाहिल नवअट्ठमेसु पुच्छा य विंझस्स ॥१४२॥ (भा.)

दसपुरनगरुच्छुघरे–स्वकीये इक्षुगृहे आर्यरक्षितस्तोसलिपुत्राणामाचार्याणामन्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः, तस्य चाचार्यपदोपविष्टस्य पुष्पमित्रत्रिकमभूत्, तद्यथा–दुर्बलिकापुष्पमित्रः घृतपुष्पमित्रो वस्त्रपुष्पमित्रश्च, एतत् प्रागेव भावितं, विन्ध्यस्य दुर्बलिकापुष्पमित्राचार्यप्रोक्तं व्याख्यानमनुभाषमाणस्य पार्श्वे गोष्ठामाहिलस्य शृण्वतो नवमेऽष्टमे च पूर्वे पृच्छाऽभवत्, एषोऽक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः, तत्रायं प्रकृताभिसम्बन्धः–विंझो अणुभासमाणो गोट्ठामाहिलस्स अट्ठमे कम्मप्पवायपुवे कम्मं परूवेइ, यथा किञ्चित्कर्म्म बद्धं भवति, किञ्चित् बद्धस्पृष्टं, किंचित् बद्धस्पृष्टनिकाचितं च, तत्र यत् जीवप्रदेशैः सह सम्बन्धमात्रमेव समापन्नं तद्बद्धं, यथा–अकषायस्य ईर्यापथप्रत्ययं कर्म्म, तच्च कालान्तरस्थितिमनवाप्यैव जीवप्रदेशेभ्यो विघटते, शुष्ककुड्यापतितचूर्णमुष्टिवत्, बद्धस्पृष्टं नाम यत् प्रथमतो बद्धं–जीवेन सह संयोगमात्रमापन्नमित्यर्थः परिणामविशेषतः स्पृष्टम्–आत्मप्रदेशैरात्मीकृतमिति भावः, तच्च कालान्तरेण विघटते, आर्द्रलेपकुड्ये सस्नेहचूर्णवत्, बद्धस्पृष्टनिकाचितं नाम तदेव बद्धस्पृष्टं गाढतराध्यवसायेन बद्धत्वादपवर्त्तनादिकरणायोग्यतां नीतं, तच्च कालान्तरेऽपि विपाकतोऽनुभवनमन्तरेण प्रायो नापगच्छति, गाढतरबद्धत्वात्, अयं च त्रिविधोऽपि बन्धः सूचीकलापं दृष्टान्तीकृत्य सम्यगेव भावनीयः, गुणावेष्टितसूचीकलापोपमं बद्धं, लोहपट्टबद्धसूचीसंघातसदृशं बद्धस्पृष्टं, अग्नितप्तघनेना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऽऽहतसूचीकलापसन्निभं बद्धस्पृष्टनिकाचितमिति, एवं श्रुत्वा गोष्ठामाहिलः प्राह–नन्वेवं मोक्षाभावः प्रसज्यते, तथाहि–न जीवात्कर्म्म वियोगमर्हति, अन्योऽन्याविभागबद्धत्वात् स्वप्रदेशवत्, तस्मादेवमिष्यताम्—

पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ । एवं पुट्ठमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ॥ १४३ ॥ (मू. भा.)

यथा स्पृष्टः–स्पर्शमात्रेण संयुक्तोऽबद्धः–क्षीरनीरन्यायेन न लोलीभूतः कञ्चुकिनं पुरुषं कञ्चुकः समन्वेति–समनुगच्छति, एवं स्पृष्टमबद्धं कर्म्म जीवं समन्वेति । प्रयोगश्च–जीवः कर्म्मणा स्पृष्टो, न बद्धः, वियुज्यमानत्वात्, कञ्चुकेनेव तद्वद्वत्, एवं गोट्ठामाहिलेण भणिए विंझेण भणियं–अम्हं एवं चेव गुरुणा वक्खाणियं, गोट्ठामाहिलेण भणियं–न याणइ सो किं वक्खाणेइ?, ताहे सो संकिओ समाणो पुच्छिउं गतो, मा मए अन्नहा गहियं भवेज्जा, ताहे पुच्छिया आयरिया, ते भणंति-जहा मए भणियं तहा तुमएवि अधिगयं, ततो विंझेण माहिलवुत्तंतो कहितो, ततो गुरू भणंति–माहिलभणिती मिच्छा, कथं ?, यदुक्तं 'जीवात्कर्म्म न वियुज्यते' इत्यादि, अत्र प्रत्यक्षविरोधिनी प्रतिज्ञा, यस्मादायुःकर्म्मवियोगात्मकं मरणमध्यक्षसिद्धमेव, हेतुरप्यनैकान्तिकः, अन्योऽन्याविभागबद्धानामपि क्षीरोदकादीनामुपायतो विभागदर्शनात्, दृष्टान्तोऽपि न साधनधर्मानुगतः, स्वप्रदेशस्य युतत्वासिद्धेस्ताद्रूप्येणानादिरूप्य(रूप)त्वात्, भिन्नं च जीवात्कर्म्मेति, तथा यदुक्तं–'जीवः कर्म्मणा स्पृष्टो न पुनर्बद्ध' इत्यादि, अत्रापि किं प्रतिप्रदेशं स्पृष्टो नभसेव त्वङ्मात्रेण कञ्चुकेनेव वा?, तत्र यदि प्रतिप्रदेशमिति पक्षस्तर्हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यं, कञ्चुकेन प्रतिप्रदेशमस्पर्शात्, अथ त्वङ्मात्रे स्पृष्ट इत्यभ्युपगमः ततो नापान्तरालगत्यनुयायि कर्म्म, पर्यन्तमात्रवर्तित्वात्, बाह्याङ्गमलवत्, एवं सर्वोऽपि प्राणी भवापान्तरालगतिसंभवे मोक्षभाक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवेत् कर्मानुगमरहितत्वात् मुक्तवत्, तथा अन्तर्वेदनाऽभावप्रसङ्गः, तन्निमित्तकर्म्मसङ्गस्य तत्राभावात्, यथा सिद्धस्य, नच भिन्नदेशं वेदनानिमित्तमिति वक्तुं शक्यं, शरीरान्तरगतेनातिप्रसङ्गात्, अथ स्वकृतत्वमत्रातिप्रसङ्गनिवारणायालं, तदसम्यक्, अन्तर्वर्तिप्रदेशानां कर्म्मयोगरहितानां कर्तृत्वायोगात्, नाप्यन्तर्वेदनैव नास्तीति वाच्यं, बहिर्निर्वेदनस्याप्यन्तर्बहुशः प्रतिप्राणि वेदनायाः स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धत्वात्, उक्तं च–"देहंतो जा वियणा कम्माभावंमि किंनिमित्ता सा ?। निक्कारणावि जइ तो सिद्धोऽवि न वेयणारहितो ॥ १ ॥ जइ बज्झनिमित्ता सा तदभावे सा न होज्ज तो अंतो। दिट्ठा य सा सुबहुसो बाहिं निवेयणस्सावि ॥ २ ॥ जइवा विभिन्नदेसंपि वेयणं कुणइ कम्ममेवं तो। कहमन्नसरीरगयं न वेयणं कुणइ अन्नस्स ?॥ ३ ॥" (वि.२५२५-६-७) तस्मादन्तरपि कर्मास्तीति प्रतिपत्तव्यमन्तर्वेदनासम्भवाद्, अन्यच्च–मिथ्यात्वादिप्रत्ययं कर्म्म "मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रमादयोगाः कर्म्मबन्धहेतव" इति वचनात्, मिथ्यात्वादयश्च प्रतिप्रदेशं सन्ति, ततः कर्मापि प्रतिप्रदेशमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्, आह च–"अंतोवि अत्थि कम्मं वियणासब्भावतो तयाएव। मिच्छत्ताईपच्चयसब्भावातो य सव्वत्था ॥ १ ॥" (वि. २३५०) एवं गिण्हिऊण सो विंझेण भणितो–एवं आयरिया भणंति, ताहे सो तुण्हिक्को ठितो चिंतेइ–समप्पेउ, तो खोडेहामि ॥ अन्नया नवमे पुवे पच्चक्खाणं साहूण वन्निज्जइ, जहा पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए इत्यादि, गोट्ठामाहिलो भणइ–नेवं सोहणं, किं तर्हि ?,

पच्चक्खाणं सेयं अपरिमाणेण होइ कायव्वं। जेसिं तु परीमाणं तं दुट्ठं आससा होइ ॥ १४४ ॥ (मू. भा.)

प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाणेन–परिमाणाभावेन, कालावधिं विनैवेति भावार्थः, क्रियमाणं श्रेयः, तस्मात्तदेव भवति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधूनां कर्त्तव्यं, येषां तु मतेन यावज्जीवादिकं परिमाणं प्रत्याख्यानस्य तेषामेवत्प्रत्याख्यानं दुष्टम्–अशोभनं, यतस्तत्र 'आससा होइ'त्ति अनुस्वारलोपादाशंसा भवति, आशंसा च दुष्टपरिणामः, ततस्तद्दूषितं न शोभनमिति, उक्तं च–"आसंसा जा पत्ते सेविस्सामित्ति दूसियं तीए । जेण सुयंमिवि भणियं परिणामातो असद्धं तु ॥ १ ॥ रागेण व दोसेण व परिणामेणं न दूसियं जं तु । तं खलु पच्चक्खाणं भावविसुद्धं मुणेयव्वं ॥ २ ॥" (वि. २५२०–१) आशंसादोषदुष्टतायां चायं प्रयोगः– यावज्जीवकृतावधिप्रत्याख्यानमाशंसादोषदुष्टं परिमाणपरिच्छिन्नावधित्वात्, श्वः सूर्योदयात्परतः पारयिष्यामीत्युपवासप्रत्याख्यानवत्, तस्मादपरिमाणमेव प्रत्याख्यानं श्रेयः आशंसारहितत्वात् तीरितादिविशुद्धोपवासादिवदिति ॥ एवं पण्णवितो विंझेण भणितो–न होइ एयं जं तुमे भणियं, एत्थंतरे जं तस्स अवसेसं नवमपुव्वस्स तं सम्मत्तं, ततो सो अभिनिवेसेण दुब्बलियापूसमित्तसगासं चेव गंतूण भणइ–अन्नहा आयरिएहिं भणियं, अन्नहा तुमं पण्णवेसि, उपन्यस्तश्चानेन तत्पुरतः स्वपक्षः, तत्राचार्यः प्राह–ननु यदुक्तं भवता'यावज्जीवकृतावधिप्रत्याख्यानमाशंसादोषदुष्टमित्यादि', तदयुक्तं, यतः– कृतप्रत्याख्यानानां साधूनां न मृता वयं सेविष्याम इत्येवंरूपा आशंसा, किन्तु मृतानां देवभवे मा भूद् व्रतभंग इति कालावधिकरणम्, अपरिमाणपक्षे तु भूयांसो दोषाः, तथाहि–अपरिमाणमिति कोऽर्थः ?, किं यावच्छक्तिरुतानागताद्धा आहोस्विदपरिच्छेदः ?, तत्र यदि यावच्छक्तिरस्ति, एवं सति शक्तिमितिकालावध्यभ्युपगमात् अस्मन्मतानुवाद एव, आशंसादोषोऽपि च काल्पनिकस्तुल्यः, अन्यच्च–यथाऽस्मत्पक्षे मृतस्य न व्रतभङ्गदोषो यावज्जीवमित्यवधेः परिपूर्णत्वात् तथा (त्वन्मते) जीवतोऽपि भोगान् भुञ्जानस्य न स्यात्, एतावत्येव मम शक्तिरिति प्रत्याख्यानस्य पूर्णत्वात्, तथैव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाभ्युपगमे व्रतविषयं न किमपि भयमिति प्रत्याख्यानं कृत्वा पुनर्भोगासेवनं पुनर्यथाशक्ति प्रत्याख्यानमित्यनवस्था प्रत्याख्यानस्य, यदपि चागमे तत्र तत्र प्रदेशे प्रसिद्धव्रतानामा(प्रतिषिद्धानामा)चरणे प्रायश्चित्तमेकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्ग इत्यादि, तदपि प्रलयमगमत्, एतावत्येव मम शक्तिर्नाधिकेति प्रतिपत्तितोऽतीचारादीनामनवकाशात्, आह च भाष्यकृत्–"जह न वयभंगदोसो मयस्स तह जीवओऽवि सेवाए। वयभंगनिब्भयातो पच्चक्खाणाऽणवत्था य ॥ १ ॥ एत्तियमेत्ती सत्तित्ति नाइयारो न यावि पच्छित्तं। न य सव्ववयनियमो एगेणवि संजयत्तत्ति ॥ २ ॥"(वि.२५३६-७) अथ अनागताद्धा अपरिमाणमिति पक्षः सोऽप्यसमीचीनो, भवान्तरेऽवश्यंव्रतभङ्गसम्भवाद्, अपिच–सिद्धोऽपि सकलामनागताद्धां यावत् संवरधर इति संयतः प्राप्नोति, यावज्जीवमित्यवधिकरणाभावात्, तथा च सति यदुच्यते–'सिद्धे नोसंजये नोअसंजये नोसंजयासंजए' इति तदनवकाशम्, आह च–"अहवा सव्वाणागयकालग्गहणं मयं अपरिमाणं। तेणापुन्नपइन्नो मयोऽवि भग्गव्वतो नाम ॥१॥ सिद्धोऽवि संजयोच्चिय सव्वाणागयद्धसंवरधरोत्ति।" इत्यादि (वि. २५३८-९) परिमितकालानामपि च नमस्कारपौरुष्येकासनादिप्रत्याख्यानानां सूत्राभिहितानामप्युच्छेदप्रसङ्गः, अपरिमाणत्वेन तस्याभ्युपगतौ तेषामसम्भवात्, अपरिच्छेदपक्षेऽपि कालानियमात् व्रतभङ्गादयो दोषास्तदवस्था एव, तत एतद्दोषपरिहाराय श्रुते यावज्जीवमिति निर्दिष्टं। एवं आयरिएहिं पण्णवितोऽवि जाहे न पडिवज्जइ ताहे जे अण्णगच्छिल्लया थेरा बहुस्सुया य ते पुच्छिया, तेवि एत्तियं चेव भणंति, सो भणइ–तुज्झे किं जाणह?, तित्थयरेहिं एत्तियं चेव भणियं जहाऽहं भणामि, ते भणंति-तुमं न जाणसि, मा तित्थयरे आसाएह, जाहे न ठाइ ताहे संघसमवातो कतो, ततो सव्वसंघेण देवयाए काउस्सग्गो कतो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

जा भद्दिया सा आगया, भणइ–संदिसह, ताहे सा भणिया–वच्च तित्थगरं पुच्छ, किं जं गोट्ठामाहिलो भणइ तं सच्चं ? किं वा जं दुब्बलियपूसमित्तपमुहो संघो भणइ तंति ?, ततो सा भणइ–मम अणुग्गहं देह, काउस्सग्गं गमणापडिघायनिमित्तं, ततो ठिया काउस्सग्गं, ताहे सा भयवंतं तित्थयरं पुच्छिऊण आगया, भणइ–जहा संघो सम्मावादी, इयरो मिच्छावादी, निण्हतो एस सत्तमो, ताहे सो भणइ–एसा अप्पड्ढिआ वराइ, का एयाए सत्ती गंतूणवि ?, तोऽवि न सद्दहइ, ताहे पूसमित्ता तस्स समीवं गच्छंति, भणंति य–अज्जो ! पडिवज्ज मा उग्घाडिज्जिहिसि, नेच्छइ, ताहे तेण संघेण बज्झो कतो बारसविहेणं संभोगेण–उवहि १ सुय २ भत्तपाणे ३, अंजली पग्गहे इय ४ । दायणा ५ य निकाए ६ य, अब्भुट्ठाणेत्ति ७ आवरे ॥१॥ किइकम्मस्स ८ य करणे, वेयावच्चकरणे ९ इय । समोसरणे १० संनिसेज्जा ११ कहाए य निमंतणा १२ ॥२॥ इत्येवंलक्षणेन, ततो सो अणालोइयअपडिक्कंतो कालगतो । गतः सप्तमो निन्हवः ॥ तदेवमुक्ता देशविसंवादिनो निन्हवाः ॥ साम्प्रतमनेनैव प्रस्तावेन प्रभूतविसंवादिनो बोटिका भण्यन्ते, तत्र कदैते सञ्जाता इति प्रतिपादयन्नाह—

छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तइआ सिद्धिं गयस्स वीरस्स । तो बोडिआण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पन्ना ॥१४५॥(भा.)

यदा सिद्धिं गतस्य भगवतो वीरस्य षट् वर्षशतानि नवोत्तराण्यतिक्रान्तानि तदा रथवीरपुरे बोटिकानां दृष्टिः समुत्पन्ना । कथमुत्पन्नेति चेत्, उच्यते–रथवीरपुरं नगरं, तत्थ दीवगमुज्जाणं, तंमि अज्जकण्हा नाम आयरिया समोसढा, तत्थ एगो साहस्सियमल्लो सिवभूइ नाम स रायाणमुवगतो–तुमं ओलग्गामि, राया भणइ–परिक्खामि, अण्णया राइणा भणितो–वच्च चामुंडाघरे सुसाणे कण्हचउद्दसीए बलिं देह, सुरा पसूओ य दिण्णो, अण्णे य पुरिसा भणिया–एवमेवं एयं वीहावेज्जा, सो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** सप्त-निह्नव-वर्णन अनन्तर बोटिक-मत वर्णनं आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

गंतूण चामुंडाए बलिं दाऊण छुहिणा (ओ) मित्ति तत्थेव सुसाणे तं पसुयं मारेऊण पउलित्ता खाइतो, ते गोहा सिवावासिएहिं समंता भेरवं रवं करेंति, तस्स रोमुब्भेओऽवि न जायइ, ताहे उट्ठितो गतो, तेहिं सिट्ठं, वित्ती दिण्णा, अण्णया सो राया दंडे आणवेइ-वच्चह महुरं गेण्हह, ते सबबलेणं निग्गया, सिवभूती य, अदूरसामंते गंतूण चिंतियं-अम्हेहिं न पुच्छियं-कयरं मधुरं वच्चामो ?, राया य अविण्णवणिज्जो, एवं ते गोंगएंता अच्छंति, सिवभूती य तेसिं समवाए आगतो भणइ-किं भो अच्छह ?, तेहिं सिट्ठं, सोऽवि भणइ-दोवि समं चेव गेण्हामो, ते भणंति-न सक्का दलस्स दो भागे काउं, परिवाडीए एक्केकाए गहणे बहु कालो लग्गइ, सो भणइ-जा दुज्जया तं मम समप्पेह, पंडुमहुरा समप्पिया, ताहे सो पढति-शूरे त्यागिनि विदुषि च वसति जनः स च जनाद्गुणीभवति । गुणवति धनं धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥ १ ॥ एवं च पढित्ता पहाविंतो पंडुमहुरं, तेण तत्थ दुग्गो भिण्णो, पच्चंताणि ताविउमारद्धाणि जाव नगरसेसं जायं, पच्छा नगरमोरोहियं च, ततो णेण रण्णो निवेइयं, तुट्ठेण भणियं-भण किं देमि ?, सो चिंतिउं भणइ-जं मए गहियं तं सुग्गहीयं होउत्ति, अहं जहिच्छितो भमिस्सामि, राइणा भणियं-एवं होउ, सो य बाहिं हिंडंतो अद्धरत्ते घरे आगच्छति वा न वा, तस्स भज्जा ताव न जेमेइ सुवइ वा जाव समागतो भवइ, सा निव्विण्णा । अन्नया मायरं से वट्टेइ-तुज्झ पुत्तो दिवसे दिवसे अद्धरत्ते एइ, अहं जग्गामि छुहाइया अच्छामि, ताहे ताए भण्णइ-मा दारं देज्जाहि, अहं अज्ज जग्गामि, सा पसुत्ता, इयरा जग्गइ, अद्धरत्ते आगतो बारं मग्गइ, मायाए अंबाडितो-जत्थ एयाए वेलाए उग्घाडियाणि बाराणि तत्थ वच्च, सो निग्गतो, भवियव्वयाए एतेण मग्गंतेण साडुपडिस्सओ उग्घाडओ दिट्ठो, तत्थ पविट्ठो,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

वंदित्ता भणइ–ममं पव्वावेह, ते नेच्छंति, तेण सयं लोओ कओ, ताहे से लिंगं दिण्णं, ते विहरिया, पुणो आगया, रण्णा आगमियं जहा सो सिवभूती पव्वइतो इहमागतो, ततो सद्दावित वंदित्ता कंबलरयणं से दिन्नं, आयरिएहिं भणियं–किं एएण महल्लमोल्लेण जईणं ?, तं किं गहियंति ?, तस्स अणापुच्छाए फालियं, साहुणो निसज्जातो कयातो, ताहे सो कसाइतो, अण्णया जिणकप्पिया वण्णिज्जंति जहा–जिणकप्पिया य दुविहा पाणीपाया पडिग्गहधरा य । पाउरणमपाउरणा एक्केक्का ते भवे दुविहा ॥ १ ॥ दुगतिगचउक्कपणगं नव दस एक्कारसं व बारसगा । एए अट्ठ विग्गप्पा जिणकप्पे होंति उवहिस्स ॥ २ ॥ (प्रव.) केसिंचि दुविहो उवही–रयहरणं मुहपोत्ती य, अन्नेसिं तिविहो–दो ते चेव तइतो एगो कप्पो, चउविहे दो कप्पा, पंचविहे तिन्नि, नवविहे रयहरणं मुहपोत्तिया तहा–पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया । पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छतो पायनिज्जोगो ॥ १ ॥ (ओघ. ६७९) दसविहे एगो कप्पो वड्ढिओ, एगारसविहे दो कप्पा, बारसविहे तिण्णि, एत्थंतरे सिवभूइणा पुच्छियं–किमियाणिं एत्तिओ उवही धरिज्जइ ? जेण जिणकप्पो न कीरइ, गुरुणा भणियं–न तीरइ इयाणिं, वोच्छिन्नो, सो भणइ–किं वोच्छिज्जइ ?, अहं करेमि, परलोगत्थिणा नणु सो चेव कायव्वो, किं उवहिपरिग्गहेण ?, परिग्गहसब्भावे कसायमुच्छाभयाइया बहवो दोसा, तथाहि–वस्त्राद्युपकरणधारणे यदि कथमपि च वस्त्रादिकं न भवति तदा श्रावकेभ्यस्तद्याचनीयम्, याच्ञा च प्रवचनलाघवकरीति महान् दोषः, तथा तेषु वस्त्रेषु परिभुज्यमानेषु शरीरस्वेदमलसम्पर्कतः षट्पदिकाः सम्मूर्च्छन्ति, तासां च शरीरसङ्घर्षतः प्राणविपत्तिरिति प्राणातिपातव्रतभङ्गप्रसङ्गः, इतश्च उत्प्रसङ्गः, वस्त्राणि हि वर्षाकालादर्वाक् अवश्यं प्रक्षालनीयानि, प्रक्षालने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

च वातकायकीटिकादिसत्त्वव्याघातः, तथा जघन्यतोऽपि वस्त्रं रूपकपञ्चकादिमूल्यं, ततस्तत्प्रदाने दातुर्महती पीडा, साधुकरी च वृत्तिरागमे प्रतिपादिता, ततस्तद्वृत्तियुष्मच्चेष्टितयोः परस्परविरोधः, अन्यच्च–वस्त्रादिकं लब्धमपि प्रच्छादनपटिकादिकरणाय संधानीयं, मूषकभक्षितादिकं च सीवनीयं, ततः सन्धानादिकरणे सूत्रार्थक्षरणव्याघातः, अपिच–शोभनतरवस्त्रपरिधाने तथाविधजनापेक्षया तच्छरीरस्य महती शोभोपजायते, आत्मनि चोत्कर्षः, ततो विभूषाप्रत्ययनिविडतरकर्म्मबन्धानुषङ्गः, उक्तं च–"विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं। संसारसागरे घोरे, जेणं पडइ दुत्तरे ॥ १ ॥" (दश. २७४) तथा दुर्बलवस्त्रलाभे पुनरिदं कुतो लप्स्ये इति महती मूर्च्छा समुपजायते, सा च मूर्च्छा भवसरित्पतिनिमज्जनकारणं, सर्वतश्च शङ्का प्रादुर्भवति, ममेदं ग्रहीष्यति, शङ्कापि च सङ्क्लिष्टाध्यवसायरूपत्वान्नरकप्रपातकारिणी, चौराद्याशङ्कात एव ग्रामनगरादिप्रतिबद्धतया विहारक्रमाभावः, एकत्र वासे च प्रतिबन्धो लघुतेत्याद्यागमाभिहितानेकदोषानुषङ्गः, विहारक्रमे च सर्वोऽप्युपधिः साधुना स्वयं वोढव्य इति तद्वहने भारवहनं, तथा च सति महान् शरीरस्य क्लेशस्तद्भावे च सूत्रार्थपरिमन्थः, अन्यच्च–यदि कथमपि विहारक्रमे स्वोपाश्रये वा तिष्ठतो वस्त्रादि तस्करैरपहियते प्रमादतो वा नाशो भवति ततोऽधिकरणप्रसङ्गः, हा! गतं मे वस्त्रमित्यात्मनि शोकश्च, किञ्च–वस्त्रानुज्ञाने तत्सापेक्षता भवति, तदपेक्षायां च व्रताभाव इति, दातुर्दानादकार्यसिद्धिरपात्रे दानात्, आचेलक्यपरीषहश्च सूत्रेऽभिहितः, सोऽपि न सोढो भवेत्, प्रतिक्रुष्टं च परिग्रहनिवृत्तिं प्रतिपादयता भगवता वस्त्रादिकग्रहणं, ततस्तद्ग्रहणे भगवदाज्ञाविलोपः, तल्लाभौ च दीक्षानैरर्थक्यं, तथा गृहस्था अपि वस्त्राणि परिदधति यतयोऽपि, ततो गृहस्थयतीनाम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषताप्रसङ्गप्रसक्तिरिति गृहिलिङ्गत्वाद्वस्त्रं परित्यक्तव्यं, किञ्च-सर्वत्र श्रुते श्रमणा निर्ग्रन्थाः ख्यावर्ण्यंते, वस्त्रं च ग्रन्थस्ततस्तत्परिभोगे निर्ग्रन्थत्वव्याघात् इति श्रमणव्यपदेशस्याप्यभावप्रसङ्गः, उक्तं च-"जायणसंमुच्छणमो धुवणे पाणाण होइ वावत्ती । दायारस्सवि पीडा संधणमाईसु पलिमंथो ॥ १ ॥ राढा मुच्छा य भयं अविहारो चेव भारवहणं च । तेनाहडाहिगरणं सोगो य पमायनट्ठेऽवि ॥ २ ॥ सावेक्खयाए दाणादकज्जसिद्धी परीसहासहणं । गुरुपडिकुट्ठं गिहालिंग गंथमो वत्थदोसा उ ॥ ३ ॥" (धर्मसंग्रहण्यां १०१७-९) तत एतद्दोषदुष्टत्वान्न साधूनां वस्त्रग्रहणमुचितमिति, अत्र स्थविराः प्राहुः-यदि याञ्चादोषात् वस्त्रपरित्यागस्तत आहारोऽपि परित्यक्तव्यस्तस्यापि याञ्चामन्तरेणासम्भवात्, 'सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइय' मिति(उत्त० ७६)वचनात्, आह च-"वत्थमिह जायणातो जइ मुच्चइ इंतमेव मोयव्वो । आहारोऽवि हु जइणा अजाइतो सो जं न होइ ॥ १ ॥" इति (धर्म. १०२५) अथ मन्येथा धर्म्मकायोपष्टम्भहेतुरयमाहार इति याञ्चादोषेऽपि स प्रतिगृह्यते, गुरुलाघवपर्यालोचनपरं हि पारमेश्वरं प्रवचनमिति, यद्येवं तर्हि वस्त्रमपि धर्मकायपरिपालनात् महदुपकारि, तथाहि-महति हिमानीकणानुषक्ते प्रपतति शीते यदि तृणग्रहणाग्निसेवनादि समाचरति ततस्तेजःकायादिजंतुविनाशप्रसङ्गः, अभ्याद्यनासेवने तु धर्म्मकायस्य विपत्तिः, सा चार्षे तथाविधपुष्टकारणमन्तरेण प्रतिषिद्धा, यद्यपि च न धर्म्मकायस्य विपत्तिस्तथापि धर्म्मध्यानं शीतपरिगतस्य नियमतोऽप्यपगच्छति, अथोत्तमसंहननोपेतस्य धर्म्मध्यानस्यापि नापगमो, पुष्टावष्टम्भत्वात्, यद्येवं तत उत्तमसंहननवन्तं मुक्त्वा शेषाणां न प्रव्रज्योचिता, प्रागुक्तदोषप्रसङ्गात्, अथ च मन्दसंहननानामपि भगवता तदनुग्रहाय प्रव्रज्याऽनुज्ञाता'दुप्पसहन्तं चरणं'मित्यादिवचनात्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

श्रीआव-श्यक मल-य० वृत्तौ उपोद्घाते

॥ ४२० ॥

ततोऽन्याद्यारम्भपरिहारेण धर्म्मध्यानोपष्टम्भहेतुतया च परमोपकारि वस्त्रमिति लयनमिव तदुपादेयम्, उक्तं च–"अह धम्मकायपरिपालणेण उवगारगो उ आहारो। वत्थंपि हु एवं चिय उवगारगमो मुणेयव्वं ॥ १ ॥ तणगहणअग्गिसेवण-कायवहवज्जणेण उवगारो। तदभावे य विणासो अणारिसो धम्मकायस्स ॥ २ ॥ जइवि न णस्सति चिय से देहो झाणं तु नियमतो चलति। सीयादिपरिगयस्सेह तम्हा लयणं व तं गेज्झं ॥ ३ ॥ अह उत्तमसंघयणे सुहझाणस्सवि न होइ नासोत्ति। मोत्तुं तयं न जुत्ता उ सेसेसुं इंत पव्वज्जा ॥ ४ ॥" (धर्म. १०२६-९) यदप्युक्तं 'शरीरस्वेदमलसम्पर्कतः षट्पदिकाः सम्मूर्च्छन्ती'त्यादि, तदप्यपरिभावितामिधानं, प्रायो विधिसेवनायां सम्मूर्च्छनाया अभावात्, अथास्ति सम्भवमात्रमिति तत्परित्यागः, हन्त! तर्हि देहे आहारेऽपि च सम्मूर्च्छनासम्भवोऽस्तीति तावपि परित्यक्तव्यौ, अथ तौ धर्म्मसाधनं तावन्तरेण धर्म्मस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् ततः सम्मूर्च्छनादोषसम्भवेऽपि न तौ परित्यज्येते, तदेतद्वस्त्रेऽपि समानं, तस्याप्युक्तयुक्तितो धर्मसाधनत्वात्, आह–"संमुच्छणा न जायइ पायं विहिसेवणाए वत्थम्मि। संभवमित्तेणं पुण देहाईसुंपि सा दिट्ठा ॥ १ ॥ तम्हा निग्गंथेणं एयं दोसं विवज्जमाणेणं। देहो आहारो चिय वज्जेयव्वो पयत्तेण ॥ २ ॥ अह धम्मसाहणं सो वत्थंपि तहेव होइ दट्ठव्वं। भणितोववत्तितोच्चिय जइणो तं कायठिइहेऊ ॥ ३ ॥" (धर्म. १०३१-२-४) यदप्यभाषत 'वस्त्रप्रक्षालने वातकायकीटिकादिसत्त्वव्याघात' इति तदप्यसम्यक्, पूर्वभागमोक्तप्रकारेण वस्त्राणां परिशो-धनं, ततोऽपि अप्रासुकपानीयपरिहारेण यतनया प्रक्षालनं, प्रक्षालने च निरन्तरमुपयोग इत्येवं जिनभणितविधिना प्रक्षालने प्राणविपत्तेरसम्भवात्, आह च–"जिणभणियविहीए नय धुवणे पाणाण होइ वावत्ती। पडिलेहणा दगंपि य

वोटिकाः

॥ ४२० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

आ.सू. ७१

फासुउवयोगमो य विही ॥१॥" (धर्म. १०३५) अथ यथोक्तविधिनाऽपि प्रक्षालयतो दृश्यते कदाचित्प्राणविपत्तिस्ततो दोष इति, तदप्ययुक्तम्, आगमोक्तमेतदिति श्रुतबहुमानतोऽशठभावं यतनया प्रक्षालने प्राणिविपत्तावपि दोषासम्भवात्, संसक्तकुक्षिकपुरीषोत्सर्गवत्, तथाहि-संसक्तकुक्षिकस्य साधोर्यतनया 'छायाए०' इत्याद्यागमोक्तया पुरीषमशठभावं व्युत्सृजतो गुदकृमिव्यापत्तावपि न दोषभाक्त्वं भवति, प्रायश्चित्तविषयत्वात्, एवमिहापि भावनीयम्, उक्तं च-"जो पुण विहीए दोसो संसत्तगहणिवोसिरणतुल्लो। असढस्स सोऽवि भणितो पायच्छित्तस्सऽविसओ उ॥ १॥" (धर्म. १०३८) अथ पुरीषोत्सर्गोऽशक्यप्रतीकारस्ततो यथोक्तयतनया तत्र प्रवर्त्तमानस्य भवतु दोषाभावः, इह तु किं नामाशक्यं वस्त्राभावे इति?, उच्यते, संयमः, तथाहि-न शक्नुवन्ति साधवः सम्प्रति मन्दसत्त्वाः शीतादिकालेषु संयमं निराबाधं परिपालयितुम्, आर्त्तरौद्रध्यानप्रवृत्तिसम्भवात्, अपरेषां हीनतरसत्त्वानामशक्यं वस्त्राभावे इति, अश्याद्यारम्भप्रवृत्तिभावाच्च, किल "कालचउक्कं उक्कोसएण जहन्नि तियं तु बोद्धव्व"मित्यादिवचनतः समस्तामपि रात्रिं जाग्रद्भिः साधुभिश्चत्वारः काला ग्रहीतव्याः, निरन्तरं कालिकमुत्कालिकं वा श्रुतं पठनीयं परावर्त्तनीयञ्च, एतत्सर्वमपि कर्त्तुं शक्यते शीतकाले कल्पप्रावरणेन, नान्यथा नाम, तथा महावातोल्किशा सचित्ता पृथिवी महीत्यपरनामप्रसिद्धा या च महिका धूमिकापरपर्याया या च पानीयवृष्टिर्वर्षाकालादिषु यश्चावश्यायो लोकप्रतीतो यच्च रजः सचित्तमीषदाताम्रं चैत्रादिमासेषु यच्च प्रदीपादितेजःस्पर्शनाम तद्गतानां सत्त्वानां कल्पैः प्रावरणे परिरक्षा भवति, उक्तं च-"किं संजमोवयारं करेइ वत्थाइ? जइ मई सुणसु। सीयत्ताणं ताणं जलणतणगयाण सत्ताणं॥१॥ तह [illegible] चातुकालं सज्झायज्झाणसाहणमिसीणं। महिमहियावासोसारयाइरक्खा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निमित्तं वा ॥ २ ॥" इत्यादि. (वि.२५७५-६) ततो न शक्यः परिपालयितुं वस्त्रं विना संयम इति, यतनया तत्प्रक्षालने प्राणविपत्तावपि दोषाभावः, अथ बहवो यथोक्तं विधिमुल्लङ्घ्यान्यथा प्रवर्त्तमाना दृश्यन्ते, ततः कथं दोषाभावः ?, नन्वेष प्राणिनां दोषो, न प्रवचनस्य, प्रवचनं तु यथार्थनिरूपकतया निर्दोषमेव, आह च–"उल्लंघिऊण एयं केई अह अन्नहा करेन्तित्ति । एसो खु पाणिदोसो न एस दोसो पवयणस्स ॥ १ ॥" यदप्यवोचत् 'जघन्यतोऽपि वस्त्रं रूपकपञ्चकादिमूल्य-' मित्यादि तदप्यसमीक्षिताभिधानं, यतो यत् परिजीर्णमल्पमूल्यं वस्त्रं तत् यतीनां भगवद्भिरनुज्ञातं, ततो दातुरपि तथाभूतं वस्त्रं ददतो न काचन पीडा, अथाल्पधनस्य भवति, ननु सा भोजनमात्रदानेऽपि तुल्या, अथ भोजने तादृशं यतीनामग्राह्यं, वस्त्रमप्यल्पधनेष्वग्राह्यमिति समानः पन्थाः, उक्तं च–"परिजुन्नमप्पमुल्लं तमणुन्नायं जतो जिणिंदेहिं । दायारस्सवि पीडा न होइ तो तंमि देन्तस्स ॥ १ ॥ अप्पस्स होइ अह सा भोयणमेत्तेऽवि तुल्लमेवेदं । तं तारिसे न गेज्झं वत्थम्मिवि एव को दोसो ? ॥ २ ॥" (धर्म. १०४१-२) तथा यथाकृतवस्त्रलाभे सन्धानादयोऽपि दोषा नोपजायन्ते, ततः कथं तु परिमन्थदोषोऽपि ?, निमित्ताभावात्, यदि पुनर्यथाकृतवस्त्रलाभो न भवति तत इतरेषामपि ग्रहणे सन्धानादावपि च न परिमन्थदोषो, भोजने इव, तथाहि–चर्यार्थी प्रविष्टोऽपि यदि कथमप्यलाभो भवति ततः प्रभूतान्यन्यान्यपि गृहाणि हिंडते, न तत्र सूत्रार्थव्याघातरूपः परिमन्थदोषः, अथ भोजनं धर्मसाधनमिति तत्र दोषाभावो, ननु वस्त्रमपि धर्म्मसाधनमेव यथोक्तं प्रागिति समानं, तथा चोक्तम्–"आहागडस्स गहणे संघणमाई न होंति दोसा उ । तदभावादनिमित्तो कहं तु पलिमंथदोसो उ ? ॥ १ ॥ तस्सालाभे इयरस्स गहभावोऽवि भोयणसमाणो । तं धम्मसाहणं चेव वत्थंपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तहेव नणु भणियं ॥ २ ॥" (धर्म. १०४३-४) यदपि चोक्तम्–'शोभनतरवस्त्रपरिधाने तथाविधजनापेक्षया तच्छरीरस्य महती शोभोपजायते' इत्यादि तदप्यनवकाशं, परिजीर्णमल्पमूल्यं विधिना परियाचितं वस्त्रं म्रियमाणस्य भिक्षणशीलस्य भूषाया असम्भवात्, अथ कस्याप्यविवेकतस्तन्मात्रादपि सा भवति, ननु पिच्छिकाकुण्डिकादिमात्रधारणेऽप्यविवेकतः सा भवन्ती दुर्निवारेति समानम्, आह च–"एवंविहं च एयं विहिणा परिजाइयं धरेंतस्स । भिक्खणसीलस्स तहा राढाए हंत को अग्घो(ट्ठो) ? ॥ १ ॥ अह अविवेगाउ तई तम्मत्ताओवि होइ केसिंचि । तट्टिगपिच्छिगकुंडिगदेहेसु तई कहं न भवे ? ॥" (धर्म. १०४५-६) योऽपि च प्राक् दुर्लभवस्त्रलाभे कुतः पुनरिदं लप्स्ये इत्यादिना मूर्च्छादोष उद्भावितः स देहाहारादिष्वपि समानः, तत्रापि मूर्च्छासम्भवात्, अथ देहाहारादिषु मोक्षसाधनबुद्ध्योपादीयमानेषु न मूर्च्छा सम्भवति, तदेतद् धर्म्मसाधनत्वं वस्त्रादिष्वपि समानमिति न तत्रापि मूर्च्छाया अवकाशः, उक्तं च–"अह देहाहाराइसु न मोक्खसाहणमईइ ते मुच्छा। का मोक्खसाहणेसुं मुच्छा वत्थाइएसुं ते ? ॥१॥"(वि.२५६३) अपिच–यदि स्थूलेऽपि वस्त्रादौ सुलभे बाह्ये च यदि भवान् मूर्च्छां विदधाति ततः शरीरे अत्यन्ते दुर्लभतरे सुतरां मूर्च्छां करिष्यति, शरीरस्यान्तरङ्गतया प्रबलमूर्च्छाहेतुत्वात्, तथाहि–दृश्यन्ते तिर्यञ्चः शबरादयश्च वस्त्रादिग्रन्थरहिता अपि देहाहारादिमात्रविषयमूर्च्छया नरकोपगामिनः, ततो यथा परमयतीनां देहादिषु न मूर्च्छा तथा वस्त्रेष्वपीति न किञ्चित्, तथा च श्रूयन्ते केचन मुनय उपसर्गादिषु देहन्यस्तवस्त्रमाल्यानुलेपनाभरणधारिणोऽपि केवलज्ञानमुत्पादयन्तः, तथा चोक्तम्–"अह कुणसि थुल्लवत्थाइएसु मुच्छं धुवं सरीरेऽवि। अत्यंतदुल्लभतरे काहिसि मुच्छं विसेसेणं ॥ १ ॥ वत्थाइगंथरहिया देहाहाराइमेत्तमुच्छाए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिरियसवरादयो नणु हवंति निरयोवगा बहुसो ॥ २ ॥ अपरिग्गहावि परसंतिएसु मुच्छाकसायदोसेहिं । अविणिग्गहियप्पाणो कम्ममलमणंतमज्जंति ॥ ३ ॥ देहत्थवत्थमछाणुलेवणाभरणधारिणो केई । उवसग्गाइसु मुणयो निस्संगा केवलमुवेंति ॥ ४ ॥ (वि. २५६४-७)" यदपि च 'सर्वतश्च शङ्का प्रादुर्भवती'त्यादिना वस्त्रस्य भयहेतुत्वमुक्तं तदपि ज्ञानादिषु समानं, तथाहि–ज्ञानादिष्वपि विषये तदुपघातकेभ्यो भयमुपजायते, देहेऽपि श्वापदादिभ्यः, ततो वस्त्रादेरिव तेषामपि परित्यागः कार्यः, अथ ते मोक्षसाधनमिति भयहेतवो न परित्यज्यन्ते, ननु मोक्षसाधनत्वं वस्त्रादेरपि प्रागुक्तनीत्या समानमिति तस्याप्यपरित्यागः, आह च–"जइ भयहेऊ वत्थं तो नाणाईण तदुवघाएहिं । भयमिइ तेसिं चागो देहस्सवि सावयाईहिं ॥ १ ॥ अह मोक्खसाहणमईए न य भयहेतुत्तणेवि परिचागो । वत्थंपि मोक्खसाहणमईए सुद्धं कहं चागो ? ॥ २ ॥" (वि. २५६८-९) अपिच–तादृशे परिजीर्णेऽल्पमूल्ये वाससि न कुतोऽप्याशङ्केति न भयहेतुता, एतेनाविहारोऽप्यपाकृतः, कुतोऽप्याशङ्काया असम्भवात्, तथाभूतेषु च तेष्वल्पप्रमाणेषु परिमितसङ्ख्याकेषु भारवहनमपि न सङ्गच्छते, अल्पत्वात्, अथ भवति तावन्मात्रैरपि पीडा, ननु सा नियतविहारक्रमकरणतः किं नोपजायते ?, सा उपकारिणीति चेत् उपकारोऽत्रापि दर्शित एवेति यत्किञ्चिदेतत्, आह च–"जइदेहस्सऽह पीडा निययविहाराउ सा न किं होई ? । उवगारिणा तई अह एत्थवि भणितो उ उवगारो ॥१॥" (धर्म. १०४९) यदपि तस्करैरपहारे अधिकरणप्रसङ्गापादनं कृतं तदप्यसमीचीनं, तथाभूतस्य वाससस्तस्करैः प्रयोजनाभावात् अपहाराकरणतः, अथाल्पसत्त्वः कोऽपि तदप्यपहरति, तदेतत् पिच्छिकादिष्वपि समानं, अथ पिच्छिकादिषु व्युत्सृष्टेष्वस्माकं दोषाभावः, वस्त्रेष्वप्येवं दोषाभावः किं नाम न भवति ?, अथ परलो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कसाधनाङ्गं पिच्छिकादि तेनोक्तदोषसम्भवेऽपि तद् ग्राह्यं, ननु तत्परलोकसाधनाङ्गत्वं वस्त्रेष्वपि तुल्यं, यथोक्तं प्राक्, उक्तं च–"न हरन्ति तहाभूयं वत्थं तेणा पयोयणाऽभावा। खुद्दहरणं च पिच्छिगकुंडिगमाईसुवि समाणं ॥ १ ॥ वोसिरिएसु न दोसो पिच्छिगमाईसु अह उ वत्थेवि। तुल्लं चिय वोसिरणं साहणभावो य परलोए॥ २॥ (धर्म.१०५०–१) तथा अप्रमत्तस्य सतो वस्त्रं प्रायेण न नश्यति, नष्टेऽपि च कथमपि तस्मिन् त्यक्तकलत्रादिग्रन्थस्य शोको नोपजायते, विदितभवस्वरूपत्वात्, आह च–"अपमत्तस्स न नासइ नट्ठेऽवि न जायई तहिं सोगो। मुणियभवसरूवस्स चत्तकलत्तादिगंथस्स ॥ १ ॥" (धर्म. १०५२) ततो यदुक्तं 'हा गतं मे वस्त्रमित्यात्मनि शोकश्चे'त्यादि, तन्न, वस्त्रेष्वपेक्षाया असम्भवात्, यो हि जिनवचनभावितान्तःकरणः स्वजनवर्गं कुप्यसङ्घातं सुवर्णसञ्चयं विषयानपि च मनोरमान् परित्यजति तस्य कथं नामापेक्षा परिजीर्णाल्पमूल्यवस्त्रमात्रे?, अथ यस्माल्लज्जते स्त्र्यादिभ्यस्तेन तद् गृह्णातीति तत्रापेक्षा, ननु लुञ्चितशिरस्कस्य भिक्षार्थं प्रतिगृहमटने लज्जा न भवति नाग्न्यमात्रे लज्जा भविष्यतीत्यतिसाहसं, यद्येवं ततः कस्मान्न परित्यजति?, उच्यते, उपकारनिरीक्षणात् यथाऽऽहारं, उपकारकारिता च संयमयोगहेतुतया पूर्वमभिहितैव, उक्तं च–"जो चयइ सयणवग्गं हिरण्णजायं मणोरमे विसए। जिणवयणनीइकुसलो तस्स अवेक्खा कहं वत्थे? ॥ १ ॥" लज्जइ जमित्थियाइसु तेणं तं गिण्हइत्ति सावेक्खो। लुंचियसिरस्स भिक्खं हिंडंतस्सेह का लज्जा? ॥ २ ॥ ता किं न तं चएइ? उ उवगारनिरिक्खणा जहाऽऽहारं। भणितो य ततो पुव्विं संजमजोगाण हेउत्ति ॥ ३ ॥" (धर्म. १०५४-६) यदपि परिषहासहनमुद्भावितं तदप्यसमीचीनं, यतो यानि परिजीर्णान्यल्पमूल्यानि च वस्त्राणि तानि परमार्थेनावस्त्राणि, विशिष्टवस्त्रकार्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

करणात्, तथा च परिहितपरिजीर्णपरिधाना काचित् युवतिः कोलिकं प्रत्येवमाचष्टे–त्वर कोलिक! नग्नाऽहं वर्त्ते इति, ततः संयमयोगस्फातिनिमित्तं तथारूपाणि वस्त्राणि धारयतो यतेः सदा ममत्वरहितस्य कथं न परीषहसहनम्?, आह च–"संयमयोगनिमित्तं परिजुन्नादीणि धारयंतस्स। कह न परिसहसहणं जइणो सइ निम्ममत्तस्स? ॥१॥" (वि. १०६०) अथ सूत्रे 'नगिणस्स वावि मुंडस्से' त्यादिना साक्षान्नग्नत्वमभिहितं, परिजीर्णाल्पमूल्यवस्त्रपरिधाने तु न तदनुपचरितं भवति, उपचरिते च नग्नत्वे परीषहसहनमप्युपचरितमेव प्राप्नोति, न चोपचारादर्थसिद्धिः, नहि माणवको दहनोपचारादाधीयते पाके इति प्रतीतमेतत्, तदप्यशोभनं, सम्यक् जिनवचनापरिज्ञानात्, न खलु क्षुत्परीषहसहनमप्युपचरितमेव प्राप्नोति, पिपासापरीषहसहनं च, सर्वथा वाऽशनपानप्रतिषेधत उपपद्येते, किन्त्वनेषणीयपरित्यागाद्, अन्यथा भगवतामप्यर्हतामजितपरीषहत्वप्रसक्तिः, तेषामप्येषणीयान्नपानोपादानात्,ततो यथैषणीयान्नपानपरिभोगतः क्षुत्पिपासापरीषहसहनमेवं परिजीर्णाल्पमूल्यवस्त्रपरिधानेऽप्यचेलपरीषहसहतेति, उक्तं च–"जइ चेलभोगमेत्तादजिताचेलयपरीसहो तेणं । अजियदिगिंछाइपरीसहोऽवि भत्ताइभोगातो ॥ १ ॥ एवं तुह न जियपरीसहा जिणिंदादि सव्वहाऽऽवण्णं । अहवा जो भत्तादिसु स विही चेलेवि किं नट्ठो? ॥ २ ॥ जह भत्तादि विसुद्धं, रागद्दोसरहिओ निसेवंतो । विजियदिगिंछाइपरीसहो मुणी सपडियारोऽवि ॥ ३ ॥ तह चेलं परिसुद्धं रागद्दोसरहिओ सुयविहीए। होइ जियाचेलपरीसहो मुणी सेवमाणोऽवि ॥ ४ ॥" (वि. २५९४-९७) स्यादेतत्-यदि परिजीर्णाल्पवस्तुपरिभोगेऽप्यचेलकपरीषहः सोढोऽभ्युपगम्यते ततः काणकुण्टादियुवतिरपि न परमार्थतो युवतिः, परिपूर्णयुवतिलक्षणायोगात्, ततस्तत्परिभोगेऽपि स्त्रीपरीषहः सोढो भवेत्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यायस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, न, सूत्रान्तरेण स्त्रीपरिभोगस्य सर्वस्यापि प्रतिषेधनात्, तच्च सूत्रान्तरमिदम्,–"नवि किंचिप्पडिसिद्धं नऽणुन्नायं वावि जिणवरिंदेहिं। मोत्तुं मेहुणभावं न विणा सो रागदोसेहिं ॥ १ ॥" (धर्म. १०६४) ततो नातिप्रसङ्गदोषः, उक्तं च–"सिय पावई अणिट्ठं एवं इत्थीपरीसहपसंगा। नो सुत्तंतरबाहानिवारणादिह पसंगस्स ॥ १ ॥" (धर्म. १०६३) न च भगवता प्रतिक्रुष्टं वस्त्रम्, उपधिप्रमाणस्य कल्पाध्ययनादिषु साक्षादभिधानात्, न च यतयो गृहस्था इव वस्त्राणि परिभुञ्जते, किन्तु लोकरूढप्रकारादन्यप्रकारेण, कच्छाबन्धाभावात् कूर्पराभ्यामग्रभाव एव चोलपट्टकधरणात् मस्तकोपरि प्रावरणाद्यभावाच्च, ततो न गृहिलिङ्गम्, अथ गृहस्थैरपि परिभोगात् गृहिलिङ्गं, यद्येवं ततः करचरणादयोऽपि गृहिलिङ्गं, तेषामपि गृहस्थेषु भावात्, ततस्तेषामपि परित्यागः कर्त्तव्यः, अथ करचरणादिपरित्यागे देहाभावस्तदभावे च परलोकासाधनमिति तदपरित्यागः, ननु वस्त्रस्याप्यभावे तृणग्रहणादिप्रसक्तेः परलोकसाधनाभावः समान एवेति यत्किञ्चिदेतत्,आह च—"गिहिलिंगंपि न एतं एगंतेणं तदन्नहाधरणे। होंति य कहिंचि नियमा करचरणाईवि गिहिलिंगं ॥ १ ॥ तेसि परिच्चागातो देहाभावे कहं नु परलोगो?। नणु वत्थस्सवि चाए तणगहणाईहिं तुलमिणं ॥ २ ॥" (धर्म. १०६८–६) अथास्माकं युष्माकं चार्हन्तो गुरवः, भगवन्तश्चार्हन्तोऽचेलास्ततोऽचेलत्वमेवास्माकं युक्तयुपपन्नं, न वस्त्रपरिधारणं, शिष्याणां गुरुलिङ्गप्रतिपत्तेरर्चितत्वात्, उक्तंच–"जारिसयं गुरुलिंगं सीसेणवि तारिसेण होयव्वं। नहु होइ बुद्धसीसो सेयवडो नग्गखमणो वा ॥ १ ॥" (धर्म. ११०९) ननु यदि भगवन्तो गुरवः प्रमाणं तर्हि तदुपदेशः कर्त्तव्यः, भगवदुपदेशश्चायं–निरुपमधृतिसंहननाद्यतिशयोपेतेनाचेलेन भवितव्यं, न निरतिशयेन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआवश्यक मलय० वृत्तौ उपोद्घाते ॥४२४॥

अतिशयविकलश्च भवान्, ततो मा भूस्त्वं निरतिशयः सन्नचेलः, उपदेशाद्धि गुरूणां कार्यसिद्धिर्न वेषचरितमात्रानुष्ठानात्, न खलु रोगी वैद्यस्य वेषं चरितं वाऽनुकुर्वन्नरोगीभवति, किन्तूपदेशात्, आह च भाष्यकृत्—"अरहंता जमचेला तेणाचेलत्तणं जइ मयं ते। तो तव्वयणातोच्चिय निरतिसओ होहि माऽचेलो ॥ १ ॥ रोगी जहोवएसं करेइ वेज्जस्स होयऽरोगी य। न उ वेसं चरियं वा करेइ न य पउणइ करेंतो ॥ २ ॥ तह जिणवेज्जाएसं कुणमाणोऽवेइ कम्मरोगातो। नउ तन्नेवत्थधरो तेसिं आएसमकरेंतो ॥ ३ ॥" (वि. २५८५-७) अथोपदिष्टो भगवद्भिर्जिनकल्पस्ततः सोऽस्माभिराश्रीयते, ननु यदि जिनोपदेशात्तस्याश्रयणं तत एतदपि जिनोपदेशात् प्रतिपत्तव्यं—ये उत्तमधृतिसंहननाः पूर्वविदः सातिशया गच्छे कृतपरिकर्माणस्ते जिनकल्पं प्रतिपद्यन्ते, न शेषाः, उक्तं च—"उत्तमधिइसंघयणा पुव्वविदोऽतिसयिणो सया कालं। जिणकप्पियादिकप्पं कयपरिकम्मा पवज्जंति ॥१॥" (वि.२५९१) तथा व्यवच्छिन्नः सम्प्रति जिनकल्प इत्येतदपि, तथा चोक्तम्—"मणपरमोहिपुलाए आहारग खवग उवसमे कप्पे। संजमतियकेवलसिज्झणा य जंबुम्मि वोच्छिन्ना ॥ १ ॥" (वि. २५९३) ततः कथं भवतो जिनकल्पाश्रयणम्?, अथ यथा तदुपदेशः क्रियते तथा तद्गतवेषचरितानुकारोऽपि, तत्रेदं प्रष्टव्यं—तद्गतवेषचरितानुकार्यें किं सर्वथा उत देशतः?, तत्र यद्याद्यः पक्षः सोऽसम्भवी, तीर्थकृतामेव तीर्थकरगुणोपेतता, न प्राकृतगुणयुक्तानां युष्मादृशां, तीर्थकरगुणाश्चेमे—निरुपमधृतिसंहनना मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानिनः सत्त्वसम्पन्ना अच्छिद्रपाणिपात्रा देवदानवैरप्यक्षोभ्याः सततमप्रमादिनो जितपरीषहाः, ततस्ते वस्त्रपात्राद्युपकरणरहिता अपि न यथोक्तं दोषमाप्नुवन्तीति न कुर्वते वस्त्रादिग्रहणं, केवलमस्माभिः सवस्त्रो

बोटिक-निरासः ॥४२४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

धर्म्मः प्ररूपयितव्य इति अभिनिष्क्रमणकाले शक्रेण समर्प्पितमेकं देवदूष्यं प्रतिगृह्णन्ति, उक्तं च–"निरुवमधिइसंघयणा चउनाणाऽतिसयसत्तसंपण्णा । अच्छिद्दपाणिपत्ता जिणा जियपरीसहा सव्वे ॥ १ ॥ तम्हा जहुत्तदोसे पावंति न वत्थपत्तर-हियावि । तदसाहणंति तेसिं तो तग्गहणं न कुवंति ॥ २ ॥ तहवि गहिएगवत्था सवत्थतित्थोवएसणत्थंति । अभि-निक्खमंति सव्वे तम्मि चुएऽचेलया होंति ॥ ३ ॥" (वि. २५८१-३) ततः कथं तैः सह सर्वसाम्यं प्रतिपत्तुं शक्यम् ?, अन्यच्च–सर्वसाम्यप्रतिपत्तौ तीर्थकरैरिव न परोपदेशोऽपेक्षणीयः, नापि छद्मस्थैः सद्भिः परेभ्य उपदेष्टव्यं, न च शिष्यवर्गो दीक्षणीय इत्यापन्नस्तीर्थव्यवच्छेद इति नैष पक्षः, आह च–"न परोवएसवसया न य छउमत्था परोवएसंपि । देंति नय सीसवग्गं दिक्खंति जिणा जहा सव्वे ॥ १ ॥ तह सेसेहिवि सव्वं, कज्जं जइ तेहिँ सव्वसाहम्मं । एवं च कतो तित्थं? न चेदचेलोत्ति को गाहो ? ॥ २ ॥"(वि. २५८६–७) देशपक्षस्त्वस्माभिरभ्युपगत एव, वेषानुकारस्य लोचकरणमात्रेण चरिता-नुकारस्यैषणीयाहारपरिभोगानियतवासादिना (च) क्रियमाणत्वात्, यदप्युक्तम्–'वस्त्रं च ग्रन्थ' इत्यादि, तदपि न सुन्दरं, संयमोपकारितया वस्त्रे धर्मोपकरणत्वेन ग्रन्थत्वायोगात्, तथाहि–यद्धर्मोपकरणं न स ग्रन्थः, धर्मोपकरणं च वस्त्र-मिति व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, ग्रंथत्वं हि बन्धुहेतुत्वेन व्याप्तं, ग्रथ्नाति जीवं कर्म्ममलेनेति ग्रन्थ इति व्युत्पत्तेः, कर्म्मबन्धहेतुताप्रतिपक्षभूतेन च कर्म्ममलापगमहेतुत्वेन व्याप्तं धर्मोपकरणत्वं, तथाहि–धर्मः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपः, स उपक्रियते–उपष्टभ्यते स्फीतिं नीयते इतियावद् अनेनेति धर्मोपकरणं, यच्च सम्यग्दर्शनादिकं धर्म्ममुपष्टभ्नाति तत् परं-परया कर्म्ममलापगमहेतुः, सम्यग्दर्शनादिप्रभावतः सकलकर्मापगमलक्षणस्य मोक्षस्याभ्युपगमात्, वस्त्रमपि च शुभध्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नद्धेतुतया प्राणिरक्षकतया च धर्मोपष्टम्भकम्, अतो वस्त्रे यत् ग्रन्थत्वस्य व्यापकं कर्म्मबन्धहेतुत्वं तस्य विरुद्धं यत्कर्म्म-मलापगमनिबन्धनत्वं तेन व्याप्तस्य धर्मोपकरणत्वस्योपलब्धेः ग्रन्थत्वप्रतिषेधः, अथ वस्त्रपरिग्रहाभ्युपगमे साधूनां पर-स्परं शुभेतरवस्त्रविशेषदर्शनतो मात्सर्यादिरुपजायते, तस्करादीनां च तद्विषयो लोभादिः, अतः कषायहेतुत्वात् ग्रन्थः, प्रयोगश्च–यत् कषायहेतुस्तत् ग्रन्थो यथा स्वापतेयं, कषायहेतुश्च वस्त्रमिति, तदसमीचीनं, हेतोरसिद्धत्वात्, तथाहि–न भावितजिनवचनानां साधूनां शुभेतरवस्त्रविशेषदर्शनेऽपि मात्सर्यादिः, इतरेषां च तत्सम्भव आहारेऽपि समः, तस्करादी-नामपि च परिजीर्णाल्पमूल्यवस्त्रविषये न लोभादि, क्षुद्रसत्त्वानां तु तत्सम्भवे पिच्छिकादिष्वपि समानं, तस्मात् तत्त्वतो न कषायहेतुता, अनैकान्तिकोऽपि चायं हेतुः, भगवतः सङ्गमकगोशालादीन् प्रति धर्म्मपराणां जिनमतस्य च प्रत्यनीकान् प्रति कषायहेतुत्वेऽपि ग्रन्थत्वायोगात्, उक्तं च–"अत्थि य किं किंचि जए जस्स व कस्स व कसायवीयं जं। वत्थुं न होज्ज ? एवं धम्मोवि तुमे न घेत्तव्वो ॥ १ ॥ जेण कसायनिमित्तं जिणोऽवि गोसालसंगमाईणं। धम्मो धम्मपरावि य पडिणीयाणं व जिणमयं च ॥ २ ॥" (वि. २५५९-६०) तस्माद्यत्किञ्चिदेतत्, एवं स्थविरैस्तस्य कथनं कृतं ॥ अमुमे-वार्थमुपसञ्जिघृक्षुराह–

रहवीरपुरं नगरं दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य। सिवभूइस्सुवहिम्मी पुच्छा थेराण कहणा य ॥ १४६ ॥ (मू. भा.)

रथवीरपुरे नगरे दीपकं नाम उद्यानं, तत्रार्यकृष्णो नामाचार्यः समवसृतः, तत्र शिवभूतेर्जिनकल्पिकप्ररूपणावसरे उपधौ पृच्छा, स्थविराणां च–आर्यकृष्णानां कथनेति गाथासंक्षेपार्थः, भावार्थः प्रागेवोक्तः। स च शिवभूतिस्तथा स्थविरैः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

प्रज्ञाप्यमानोऽपि मिथ्यात्वोदयात् कुलिङ्गभावो जिनमतमश्रद्धधानश्चीवराणि परित्यज्योपाश्रयाद्विनिर्गतः, तस्योत्तरा भगिनी, सा उद्याने स्थितं वन्दितुमागता, तं च तथाभूतं दृष्ट्वा तयापि चीवराणि तदनुरागेण परित्यक्तानि, ततो द्वावपि तौ भिक्षार्थं प्रविष्टौ, गणिकया च तदवस्था दृष्टा, साऽचिन्तयत्–नूनमेवं स्त्रीणां बीभत्सं रूपं दृष्ट्वा लोकोऽस्माकं विरक्तो भविष्यतीति, ततस्तया सा परिपूर्णं परिधापिता, सा नैच्छदिति मुक्तवती, ततो बलादपि तस्या उरसि कटिप्रदेशे चैकं वस्त्रं सन्दधे, तदपि त्यजन्ती भ्रात्रा कथमपि दृष्ट्वा भणिता–तिष्ठत्वेतत्तव देवतया दत्तम्, आह च भाष्यकृत्–"तस्स भगिणी समुज्झियवत्था तह चेव तदणुरागेण । संपत्थिया नियत्था तो गणियाए पुणो मुयइ ॥ १ ॥ तीए पुणोवि बद्धो-रसेगवत्था तयंपि छड्डेंती । अच्छउ ते तेणं चिय समणुण्णाया धरेसी य ॥ २ ॥" (वि. २६०७-८) तेन शिवभूतिना द्वौ शिष्यौ प्रव्राजितौ–कौण्डिन्यः कोट्टवीरश्च, ततः परम्परास्पर्शः समुत्पन्नः, उक्तंच–"कोडिन्नकोट्टवीरे पवावेसी य दोन्नि सो सीसे । तत्तो परंपराफासतो व सेसा समुप्पन्ना ॥ १ ॥" (वि. २६०९) एवं बोटिका उत्पन्नाः, अमुमेवार्थं मूलभा-ष्यकारः सङ्ग्रहीर्षुराह—

ऊहाए पन्नत्तं बोडिअ सिवभूइउत्तराहिं इमं । मिच्छादंसणमिणमो रहवीरपुरे समुप्पन्नं ॥ १४७ ॥ (मू. भा.)

ऊहया–स्वतर्कबुद्ध्या प्रज्ञप्तं-प्रणीतं बोटिकं शिवभूत्युत्तराभ्याम् 'इणमो'त्ति एतच्च मिथ्यादर्शनं क्षेत्रतो रथवीर-पुरे समुत्पन्नम् ।

बोडिअसिवभूईओ बोडिअलिंगस्स होइ उप्पत्ती । कोडिन्नकुट्टवीरा परंपराफासमुप्पन्ना ॥ १४८ ॥ (मू. भा.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोटिकशिवभूतेः सकाशात् बोटिकलिङ्गस्य-बोटिकदृष्टेर्भवत्युत्पत्तिः, वर्त्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्वत्, पाठान्तरं वा 'बोडियलिंगस्स आसि उप्पत्ती', ततः कौण्डिन्यश्च कोट्टवीरश्च कौण्डिन्यकोट्टवीरं समाहारो द्वन्द्वस्ततः परम्परास्पर्शम्-आचार्यशिष्यसम्बन्धलक्षणमधिकृत्योत्पन्ना-सञ्जाता, बोटिकदृष्टिरिति वाक्यशेषः॥ सम्प्रति निह्नववक्तव्यतां निगमयन्नाह-

एवं एए कहिआ ओसप्पिणिए उ निण्हता सत्त । वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पवयणे नत्थि ॥ ७८४ ॥

एवम्-उक्तेन प्रकारेण एते-अनन्तरोक्ताः कथिताः-प्रतिपादिता अस्यामवसर्पिण्यां निन्हवाः सप्त, अष्टमस्तु बोटिकः तुशब्दसमुच्चितो, वीरवरस्य भगवतः प्रवचने-तीर्थे, शेषाणां तु तीर्थकृतां प्रवचने नत्थित्ति प्राकृतत्वान्नासीरन् निन्हवाः ॥

मुत्तूणमेसिमिक्कं सेसाणं जावजीविया दिट्ठी । इक्किक्कस्स य इत्तो दो दो दोसा मुणेअव्वा ॥ ७८५ ॥

मुक्त्वा एषामेकं गोष्ठामाहिलं निन्हवानां शेषाणां-जमालिप्रभृतीनां प्रत्याख्यानमङ्गीकृत्य यावज्जीविका दृष्टिरासीत्, न ते प्रत्याख्यानं गोष्ठामाहिल इवापरिमाणमिच्छुरिति भावना, आह-प्रकरणादेवेदमवसीयते किमर्थमस्योपन्यासः ?, उच्यते, प्रतिदिवसोपयोगेन प्रत्याख्यानस्यातीवोपयोगित्वात्, मा भूत् कश्चित्तथैव प्रतिपद्यते, ततः प्रज्ञाप्यते-निन्हवानामपि प्रत्याख्यानविषये इयमेव दृष्टिरिति, 'एत्तो'त्ति प्राकृतत्वादमीषां मध्ये एकैकस्य निन्हवस्य द्वौ द्वौ दोषौ ज्ञातव्यौ, मुक्त्वैकमिति वर्त्तते, तथाहि-बहुरता जीवप्रदेशिकान् प्रत्यूचुः-भवन्तो द्वाभ्यां कारणाभ्यां मिथ्यादृष्टयः, तत्रैकमिदं यद्भणथ एकः प्रदेशो जीव इति, द्वितीयं क्रियमाणं कृतमिति, जीवप्रदेशिका अपि बहुरतान् प्रत्यवादिषुः-यूयमपि कारणद्वयेन मिथ्यादृष्टयः, एकं तावदिदं यद्वदथ क्रियमाणमकृतं (द्वितीयं च चरमप्रदेशं) जीव इति प्रतिपद्यध्वे,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं शेषाणामपि परस्परं भावनीयं, गोष्ठामाहिलमधिकृत्य पुनरेकैकस्य त्रयो दोषाः, तथाहि–बहुरतान् प्रति गोष्ठामाहिलोऽब्रवीत्–कारणत्रयाद् भवन्तो मिथ्यादृष्टयः, तत्र–एकमिदं यत्कृतं कृतमिति (यूयं) वदतेति, द्वितीयं स्पृष्टं बद्धं कर्म्म, तृतीयमपरिमाणं प्रत्याख्यानमिति, बहुरता अपि तं प्रत्यवोचन्, भवानपि कारणत्रयान्मिथ्यादृष्टिः–एकं तावदिदं यत् क्रियमाणं कृतमिति वदति, द्वितीयं स्पृष्टमबद्धं कर्म्म, तृतीयं सपरिमाणं प्रत्याख्यानमिति, एवं सर्वान् प्रति योजनीयम्, अन्ये त्वाहुः–एकैकस्य द्वौ द्वौ दोषावेवं वेदितव्यौ, एकं तावत्स्वयं विप्रतिपन्ना द्वितीयं परानपि व्युद्ग्राहयन्तीति ॥ नन्वेता दृष्टयः संसाराय आहोस्विदपवर्गायेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह–

सत्तेया दिट्ठीओ जाइजरामरणगब्भवसहीणं । मूलं संसारस्स उ हवंति निग्गंथरूवेणं ॥ ७८६ ॥

सप्ताप्येता दृष्टयो, बोटिकास्तु मिथ्यादृष्टय एवेति न तद्विचारः, 'जातिजरामरणगर्भवसतीना'मिति जातिग्रहणं नारकादिप्रकृतिग्रहे चरितार्थमिति गर्भवसतिग्रहणमदुष्टं, मूलं–कारणं, भवतीति योगः, मा भूत्सकृद्भाविनीनां जातिजरामरणगर्भवसतीनां मूलमिति प्रत्ययस्तत आह–'संसारस्स उ' इति संसरणं संसारः–तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिरूपः प्रदीर्घः तस्यैव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, केन रूपेणेत्याह–निर्ग्रन्थरूपेण ॥ अथैते निन्हवाः किं साधव उत तीर्थान्तरीया आहोस्विन्मिथ्यादृष्टयः ?, उच्यते, न साधवो, यतः साधूनामेकस्याप्यर्थाय यत्कृतमशनादि तच्छेषाणां न कल्पते, नैवं निन्हवानां, तथा चाह–

पवयणनीहूआणं जं तेसिं कारिअं जहिं जत्थ । भज्जं परिहरणाए मूले तह उत्तरगुणे अ ॥ ७८७ ॥

आ.सू.७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

'निह्नव'त्ति देशीवचनमकिञ्चित्करार्थे, ततः प्रवचने पारमेश्वरे यथोक्तक्रियाकलापं प्रत्यकिञ्चित्कराणां, अथवा 'निह्नव'त्ति आर्षत्वात् निन्हुतं, तत्र प्रवचनं निन्हुतम्–अपलपितं यैस्ते प्रवचननिन्हुताः, सुखादिदर्शनात् निष्ठांतस्य पाक्षिकः परनिपातः, तेषां यद् अशनादि तेषामुपभोगो(गाय) यत् कारितं यस्मिन् काले यत्र क्षेत्रे तद्भाज्यं–विकल्पनीयं परिहरणे, कदाचित्परिहियते कदाचिन्नेति, यदि लोको न जानाति यथैते निन्हवाः साधुभ्यो भिन्नास्तदा परिहियते, अथ जानाति तदा न परिहारः, अथवा परिहरणा नाम परिभोगः, तथा चोक्तम्–"धारणया उवभोगो परिहरणा (होइ) तस्स परिभोगो' ततः कदाचित् परिभुज्यते कदाचिन्नेति, निन्हवत्वे परिज्ञाते भुज्यते, शेषकालं नेति, कथंभूतं तत् अशनादि तन्निमित्तं कारितमित्यत आह–'मूले' मूलगुणविषयं आधाकर्म्मादि, तथोत्तरगुणविषयं च–क्रीतकृतादि, ततो नैते साधवो, नापि गृहस्था नाप्यन्यतीर्थ्याः, यतस्तदर्थाय कृतमेकान्तेन कल्पमेव भवति, यत्र तु भजना ततोऽव्यक्ता इति ॥ आह–यद्बोटिकानां कारितं मूले–मूलगुणविषयमुत्तरगुणे–उत्तरगुणविषयं तत्सर्वमपि, तत्र का वार्त्ता ?, उच्यते–

मिच्छादिट्ठीआणं जं तेसिं कारिअं जया जत्थ । सव्वंपि तयं सुद्धं मूले तह उत्तरगुणे अ ॥ ७८८ ॥

तेषां मिथ्यादृष्टीनां बोटिकानामुपभोगाय यत्कारितमशनादि, गृहस्थैः कारितं, 'मूले' मूलगुणविषयमुत्तरगुणे–उत्तरगुणविषयं तत्सर्वमपि शुद्धं, कल्पनीयमिति भावः॥ उक्तं समवतारद्वारम्, अधुनाऽनुमतद्वारव्याख्यावसरः, तत्र यत् यस्य नयस्य सामायिकं मोक्षमार्गत्वेनानुमतं तदुपदर्शयन्नाह–

तवसंजमो अणुमओ निग्गंथं पवयणं च ववहारो । सद्दु–जुसुआणं पुण निव्वाणं संजमो चेव ॥ ७८९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तापयत्यष्टप्रकारं कर्मेति तपः, तपतेरौणादिकोऽसूप्रत्ययः, अनशनोनोदरतादि तत्प्रधानः संयमस्तपःसंयमः, असावनुमतः–अभीष्टो मोक्षांगतया, तथा निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थं, आर्हतमित्यर्थः, किं ?, प्रवचनं–श्रुतं, इह तपोग्रहणेन द्वादशप्रकारमपि तपः परिगृह्यते, संयमो नाम पापोपरमः, स च सप्तदशप्रकारः, एतेन च चारित्रसामायिकं परिगृहीतं, नैर्ग्रन्थं प्रवचनं–श्रुतं, चशब्दः सम्यक्त्वादिसामायिकसमुच्चयार्थः,'ववहारो'त्ति एवं व्यवहारो व्यवस्थितः,व्यवहारग्रहणात् तदधोवर्त्तिनौ नैगमसंग्रहावपि गृहीतौ, तत एतदुक्तं भवति–नैगमसङ्ग्रहव्यवहारास्त्रिविधमपि सामायिकं मोक्षमार्गतयाऽनुमन्यन्ते इति । आह च भाष्यकृत्–कस्स नयस्साणुमयं किं सामइयमिह मोक्खमग्गोत्ति ? । भण्णइ नेगमसंगह-ववहाराणं तु सव्वाइं ॥१॥ तवसंजमा चरित्तं निग्गंथं पवयणंति सुयनाणं । तग्गहणे सम्मत्तं तग्गहणातो य नायव्वं ॥ २ ॥ (विशे. २६२२-३) आह–यदि नैगमादयस्त्रिविधमपि सामायिकं मोक्षमार्गतयाऽनुमन्यन्ते किमिति तर्हि ते मिथ्यादृष्टयः ?, उच्यते, व्यस्तानामेव तेषां तैः मोक्षमार्गतयाऽनुमाननात्, न सापेक्षाणामेवेति, शब्दऋजुसूत्रयोः पुनः कारणे कार्योपचारात् निर्वाणमार्गो निर्वाणं संयम एवेत्यनुमतं, इह ऋजुसूत्रमुल्लङ्घ्यादौ शब्दनयोपन्यासोऽशेषोपरितननयपरिग्रहार्थः, तत एतदुक्तं भवति–ऋजुसूत्रादयः सर्वे चारित्रमेवैकं मोक्षमार्गमनुमन्यन्ते, न ज्ञानदर्शने, तद्भावेऽपि मोक्षासम्भवात्, तथाहि–न सर्वज्ञानसर्वदर्शनलाभेऽपि तत्कालमेवापवर्गप्राप्तिः, किन्तु सर्वसंवरलाभे, ततः स एवैको मोक्षमार्ग इति, उक्तं च–"उज्जुसुयाइमयं पुण निव्वाणपहो चरित्तमेवेगं । न उ नाणदंसणाइं भावेवि न तेसि जं मोक्खो ॥ १ ॥ जं सव्वनाणदंसणलंभेवि न तक्खणं चिय विमोक्खो । मोक्खो य सव्वसंवरलाभे मग्गो स एवातो ॥ २ ॥" (विशे. २६२५-६) एवं ब्रुवाणान् ऋजुसूत्रप्रभृतीन्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रति नैगमादयो ब्रुवते—ननु ज्ञानदर्शनाभ्यामपि विना न प्रकर्षप्राप्तः सर्वसंवरलाभ उपजायते, तत्सहितस्यैव तद्भावाभ्युपगमात्, ततः कथं न त्रितयं मोक्षमार्ग ? इति, ऋजुसूत्रादयः प्राहुः, तदसम्यक्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, तथाहि—यदि नाम न ज्ञानदर्शनाभ्यां विना यथोक्तसंवरलाभस्ततस्ते तस्य कारणं भवताम्, ननु मोक्षस्य सर्वसंवरसाध्यस्य, कथं ?, तद्भावे भाव एवेत्यन्वयानुगमाभावात्, इह यत् यस्यान्वयं व्यतिरेकं वा नानुविधत्ते न तस्य तत्कारणं, यथा कुशूलन्यस्तं बीजमङ्कुरस्य, न भवति च मोक्षः सर्वज्ञानसर्वदर्शनसम्भवेऽपि तत्कालमेवेति, अथ सतोरेव सर्वज्ञानसर्वदर्शनयोः सर्वसंवरलाभो, न तदभावे, तेन ते अपि मोक्षकारणस्य सर्वसंवरस्य कारणत्वान्मोक्षकारणमिति, तदयुक्तं, परम्परयापि कारणत्वाभ्युपगमे सकलस्यापि भुवनस्य मोक्षकारणत्वप्रसक्तेः, भुवनोदरवर्त्तिनां सर्वेषामपि वस्तूनां ज्ञेयश्रद्धेयप्रवृत्तिनिवृत्तिविषयतया ज्ञानदर्शनचारित्रोपयोगित्वात्, तथा च सति ज्ञानादित्रिके एव को भवतामाग्रहः?, ततो यथा न समस्तं भुवनं मोक्ष(कारणं तद)कारणत्वादेवं ज्ञानदर्शने अपीति स्थितम्। तथा चाह भाष्यकृत्—आह नणु नाणदंसणरहियस्स न सव्वसंवरो दिट्ठो। तस्सहियस्सेव तओ तम्हा तियंपि मोक्खपहो ॥१॥(वि.२६२७)॥ जइ तेहिं विणा नत्थित्ति संवरो तेण ताइं तस्सेव। जुत्तं कारणमिह न उ संवरसज्झस्स मोक्खस्स ॥२॥(वि.२६२८)॥ अह कारणोवगारित्ति कारणं तेण कारणं सव्वं। भुवणं नाणाईणं जइणो नेयाइभावेणं ॥३॥(वि.२६२९)॥ अह पञ्चासन्नतरं नेयरमिहोवगारगारिंपि। तो सव्वसंवरमयं चारित्तं चेव मोक्खपहो ॥४॥(वि.२६३०)॥ तदेवं यत् यस्य नयस्य सामायिकं मोक्षमार्गत्वेनानुमतं तदभिहितं, भगवतस्तु मतेन त्रीण्यपि ज्ञानादीनि सामायिकानि परस्परसापेक्षाणि मोक्षमार्गः, एकस्याप्यभावे मोक्षस्यासंभवात्, 'तस्मात्सर्वस्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यस्य, सामग्री जनिका मते'ति वचनात्, उक्तमनुमतद्वारं, तद्भणने च व्याख्याता 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिका उपोद्घातनिर्युक्तिगता प्रथमद्वारगाथा ॥ सम्प्रति द्वितीयद्वारगाथाप्रथमावयवः किमिति द्वारं व्याख्यायते–तत्र सामायिकं नाम किं जीवः ? उताजीवः ? अथोभयम् ? आहोस्विदनुभयं ?, जीवत्वेऽपि किं द्रव्यमुत गुण ? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह–

आया खलु सामइअं पच्चक्खायंतओ हवइ आया । तं खलु पच्चक्खाणं आयाए सव्वदव्वाणं ॥ ७९० ॥

आत्मा–जीवः, खलुशब्दोऽवधारणे, आत्मैव–जीव एव सामायिकम्, एतेन प्रागुपन्यस्तशेषाजीवादिविकल्पव्युदासः, स च न सामान्येन, किन्तु प्रत्याचक्षाणः–प्रत्याख्यानं कुर्वन्, प्रत्याख्यानपरिणामे वर्त्तमान इति भावः, 'हवइ आया' इति स एव च प्रत्याचक्षाणः परमार्थतो भवत्यात्मा, श्रद्धानज्ञानसावद्यविनिवृत्तिरूपस्वभावावस्थितत्वात्, शेषः संसारी पुनरात्मैव न भवति, प्रचुरघातिकर्म्मपरमाणुभिस्तस्य स्वाभाविकगुणतिरस्करणात्, अत एव यथोक्तात्मप्रतिपत्त्यर्थं द्वितीयात्मग्रहणं, 'तं खलु पच्चक्खाणं'ति खलुशब्दः सामायिकस्य जीवपरिणतिरूपत्वज्ञापनार्थः, तत् खलु प्रत्याख्यानं जीवपरिणतिरूपं विषयमधिकृत्य सर्वद्रव्याणामापाते–आभिमुख्येन सन्निपतने, निष्पद्यते इति वाक्यशेषः, सर्वद्रव्याणां श्रद्धेयतया (ज्ञेयतया) यथायोगं प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयतया च तद्विषयत्वात्, ननु किं सामायिकमिति स्वरूपप्रश्ने प्रक्रान्ते विषयनिरूपणमस्थान्याय्यम्, अप्रस्तुतत्वात्, बाह्यशास्त्रवत्, उच्यते, अप्रस्तुतत्वादित्यसिद्धं, तथाहि–सामायिकविषयनिरूपणं प्रस्तुतं सामायिकाङ्गत्वात्, यत् यत्सामायिकाङ्गं तत्प्ररूपणं प्रस्तुतं, यथा सामायिकस्वात्मप्ररूपणमित्यलं विस्तरेण ॥ तत्र यदुक्तम् 'आत्मा खलु सामायिक'मिति तत्र यथाभूतोऽसौ सामायिकं तथाभूतमभिधित्सुराह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ अग्रे 'सामायिक" व्याख्या-आदि आरभ्यते

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

सावज्जजोगविरओ, तिगुत्तो छसु संजओ । उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइअं होइ ॥ १४९ ॥ (मू. भा.)

अवद्यं–मिथ्यात्वकषायनोकषायलक्षणं, सह अवद्यं यस्य येन वा स सावद्यः स चासौ योगश्च सावद्ययोगः तस्माद् विरतो-निवृत्तः सर्वसावद्ययोगविरतः, तथा त्रिभिः–मनोवाक्कायैर्गुप्तः, तथा षट्सु जीवनिकायेषु संयतः–प्रयत्नवान्, अथ अवश्यकर्त्तव्येषु योगेषु सततमुपयुक्तो, यतमानः, यतनं–तेषामासेवनं, इत्थंभूत आत्मा सामायिकमिति, इयं मूलटीकानुसारेण व्याख्या ॥ साम्प्रतमियमेव गाथा कथं कालिकसूत्रेऽपि प्रतिसूत्रं पूर्वभवतेरुर्नया इति सकौतुकविनेयजनानुग्रहाय पूर्वसूरिकृतव्याख्यानुसारेण नयैर्व्याख्यायते, सङ्ग्रहनयः प्राह–आत्मा सामायिकं–सामायिकशब्दवाच्यो, न तदतिरिक्तं गुणान्तरं, गुणानां द्रव्यात् पृथग्भूतानामसम्भवाद्, अपृथग्भूतानां द्रव्ये एवान्तर्भावात्, एवं ब्रुवाणं सङ्ग्रहं प्रति व्यवहारोऽवोचत्–न शक्यमेतत् प्रतिपत्तुमतिप्रसङ्गदोषात्, तथाहि–यद्यात्मा सामायिकं ततो यो य आत्मा स सामायिकमिति प्रसक्तं, तत एवं प्ररूपय 'जयमाणो आया सामाइयं होइ' इति, यतमानो नाम प्रयत्नपरः, तथाभूत आत्मा सामायिकं, न शेष इति, एवं व्यवहारेणोक्ते सति ऋजुसूत्रनय उवाच–यदि नाम यतमान आत्मा सामायिकं तत एवं तामलिप्रभृतयोऽपि स्वच्छंदसा यतमानाः सामायिकं प्रसक्ताः, तेषामपि स्वसमयागतयतनामात्रसम्भवात्, न चैतदिष्टं, तेषां मिथ्यादृष्टित्वात्, तत एवमवबुध्यस्व–उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति, उपयुक्तो नाम ज्ञेयप्रत्याख्येयज्ञानप्रत्याख्यानपरिणामः, एवं सति तामलिप्रभृतीनां व्यवच्छेदः, तेषां सम्यग्ज्ञानसम्यक्प्रत्याख्यानासम्भवात्, एवमृजुसूत्रेणोक्ते शब्दनयोऽभाणीत्–यद्युपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकम्, एवं तर्ह्यविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरताश्च सामायिकं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययन [१] 'सामयिक' आरभ आरब्ध:

प्राप्नुवन्ति, तेषामपि यथायोगं ज्ञेयज्ञानप्रत्याख्येयप्रत्याख्यानसम्भवात्, तत एवमाचक्ष्व-षट्सु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति, षट्सु-पृथिवीकायिकादिषु सम्यक्-सूत्रोक्तनीत्या यतः-सङ्घट्टनपरितापनादिभ्यो विरतः संयतः, एवं चाविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतव्यवच्छेदः, तेषां त्रिविधंत्रिविधेन षड्जीवनिकायपरितापनादिभ्यो विरत्यभावात्, एवमुक्ते समभिरूढः प्राह-यदि षट्सु जीवनिकायेषु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकं ततः प्रमत्तसंयतानामपि सामायिकत्वप्रसंगः, तेषामपि षट्सु संयतत्वात्, तत एवमवगच्छ-त्रिगुप्तः षट्सु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति, त्रिगुप्तो नाम मनोवाक्कायगुप्तः, किमुक्तं भवति?-अकुशलमनोवाक्कायप्रवृत्तिनिरोधी कुशलमनोवाक्कायोदीरकः, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् पञ्चसु ईर्याभाषैषणाऽऽदानभाण्डमात्रनिक्षेपणोच्चारप्रश्रवणादिपरिष्ठापनरूपासु समितिषु समित इत्यपि गृह्यते, ततः प्रमत्तसंयतानां व्यवच्छेदः, तेषां निद्राविकथादिप्रमादोपेतानां यथोक्तरूपगुप्तिसमित्यभावात्, एवं समभिरूढेनाभिहिते एवंभूतो वदति-यदि नाम यथोक्तस्वरूप आत्मा सामायिकं ततोऽप्रमत्तसंयतादयोऽपि सामायिकं भवेयुः, तेषामपि यथोक्तविशेषणविशिष्टत्वभावात्, तत एवं प्रतिपद्यस्व-सावद्ययोगविरतत्रिगुप्तः षट्सु संयतः उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिकमिति, सावद्ययोगविरतो नाम अवद्यं-कर्मबन्धः, सहावद्यं यस्य येन वा स सावद्यः, योगो व्यापारः सामर्थ्यं वीर्यमित्येकार्थं, "जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा । सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवंति पज्जाया ॥ १ ॥" इति वचनात्, सावद्यश्चासौ योगश्च सावद्ययोगस्तस्मात् विरतः-प्रतिनिवृत्तः सावद्ययोगविरतो, ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिज्ञातसमस्तसावद्ययोगः, किमुक्तं भवति?-निरुद्ध-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्मबादरमनोवाक्कायव्यापारो विगतक्रियानिवर्त्तिध्यानमधिरूढः शैलेशीं प्रतिपन्नो नामात्मा सामायिकमिति, एवं चाप्रमत्तसंयतादीनां व्यवच्छेदः, तेषां मनोवाक्कायव्यापारवत्तया सावद्ययोगपरिकलितत्वात्, 'नत्थि हु सक्किरियाणं अबंधगं किंचि इह अणुट्ठाण'मिति वचनात्, नैगमस्य त्वनेकगमत्वात् समस्तैतद्विशेषणविशिष्टो वा द्वित्रिचतुःपञ्चविशेषणविशिष्टो वा सामायिकमिति ॥ अन्ये त्वेवमभिदधति–सङ्ग्रहो वक्ति–आत्मा सामायिकं–सामायिकशब्दवाच्यः, भावना प्रागिव, एवमुक्तं व्यवहारस्तं प्रति भाषते–यदि नामात्मा सामायिकमित्येतावन्मात्रमभ्युपगम्यते ततः सावद्यव्यापारबहुलानामपि सामायिकत्वप्रसङ्गः, ततो मा वादीरेवं, किन्त्वेवं वद–सावद्ययोगविरत आत्मा सामायिकमिति, एवं च सावद्यव्यापारनिषण्णानां सामायिकत्वव्युदासः, ऋजुसूत्रः पुनः संयममेव सामायिकं मन्यते, न सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं वा, विरत्यभावे तयोर्निष्फलत्वात्, 'ज्ञानस्य फलं विरति'रिति वचनात्, विरतिभावे च तयोः तत्रैवान्तर्भावात्, तत उक्तप्रकारेण वदन्तं व्यवहारं प्रति स प्राह–विरतिर्नाम परिज्ञानमात्रेऽपि तदासत्त्वभावतो लोके व्यवह्रियते, तथाहि–केचित्प्रबलचारित्रावरणीयकर्मोदयसमेताः कदाचित्तीर्थकरादिसमीपे धर्म्मश्रवणवेलायां नरकादिदुःखाकर्णनतस्तद्भीता विषयान् नरकादिकुगतिप्रपातहेतूनवबुद्ध्य तेभ्यो विरज्यन्ते–हा धिग्! वयमेतेष्वेवंरूपेष्वपि प्रसक्ता इति, लोकानामपि च तथारूपचेष्टादिदर्शनत एवं प्रत्यय उपजायते–यदेते विरक्ता इति, परं ते न तान् विषयान् त्यक्तुं शक्नुवन्ति, प्रबलचारित्रावरणीयकर्मोदयात्, ततः सावद्ययोगविरत आत्मा सामायिकमित्येतावन्मात्रोक्तौ तेषामपि सम्यक्त्वसामायिकवतां च व्यवहारतः सावद्ययोगविरतानां सामायिकत्वं प्राप्नोति, तस्मादेवमभिधानीयं–सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्त आत्मा सामायिकमिति, त्रिगुप्त

॥४३०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्यस्य व्याख्यानं प्राग्वत्, त्रिगुप्त इत्युपलक्षणं, तेन पञ्चसमित इत्यपि द्रष्टव्यं, शब्दनयः पुनर्देशविरतिसामायिकमपि नेच्छति, तत एवमभिदधानमृजुसूत्रं प्रति स ब्रूते–यदि नाम सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः सामायिकमित्युच्यते ततो देशविरता अपि सामायिकं प्राप्नुवन्ति, तेषामपि सामायिकं कुर्वतां सावद्ययोगविरतत्वात् यथायोगं पञ्चसमितित्रिगुप्तिभावाच्च, ततस्तेषां सामायिकत्वप्रतिषेधार्थमेवमभिदध्याः–सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयतः आत्मा सामायिकमिति, षट्सु संयतो नाम त्रिविधंत्रिविधेन षट्सु जीवनिकायेषु सङ्घट्टनपरितापनादिभ्यो विरतः, तत एव देशविरतानां सामायिकमपि कुर्वतां सामायिकत्वव्युदासः, त्रिविधंत्रिविधेन विरत्यभावाद्, द्विविधंत्रिविधेनेति सामायिकसूत्रोच्चारणात्, समभिरूढः पुनः प्रमत्तसंयतानामपि सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तानां सामायिकत्वं नेच्छति, तत उक्तप्रकारेण ब्रुवन्तं शब्दनयं प्रति स प्राह—यदि नाम सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयत आत्मा सामायिकमिति ब्रूषे, ततः प्रमत्तसंयतादीनामपि सामायिकत्वप्रसङ्गः, तेषामपि यथोक्तविशेषणाविशिष्टत्वात्, तस्मादेवं वद–सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयत उपयुक्त आत्मा सामायिकमिति, उपयुक्तो नाम कषायोदयलेशेनाप्यकलङ्कितः सन् समभावव्यापृतः, ते च उपशान्तमोहादय एव, न प्रमत्तसंयतादयः, ततस्तेषां व्युदासः, एवंभूतः पुनः समुद्घातादिगतं सयोगिकेवलिनमयोगिकेवलिनं वा सामायिकमिच्छति, न शेषं, यतः सामायिकस्य फलं मोक्षः, ततो यैव सम्यक् समभावे व्यवस्थितस्य समस्तकर्म्मविमोक्षार्थमायोजिकाकरणसमुद्घातादिका विगतक्रियाऽनिवर्त्तिध्यानप्रतिपत्तिरूपा वा क्रिया सैव सामायिकशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, अतस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह–सावद्ययोगविरतस्त्रिगुप्तः षट्सु संयत उपयुक्तो यतमान आत्मा सामायिक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

मिति, एवं चोपशान्तमोहादीनां सामायिकत्वप्रतिक्षेपः, तेषां यथोक्तलक्षणक्रियारूपाया यतनाया असम्भवात्, नैगमस्त्वनेकगमत्वादेव प्राग्वत् सामायिकमिच्छन् भावनीयः ॥ सम्प्रति यदुक्तं–'तं खलु पच्चक्खाणं आवाए सवदव्वाणं'ति, तत्र साक्षान्महाव्रतरूपं चारित्रसामायिकमधिकृत्य सर्वद्रव्यविषयतामुपदर्शयति–

पढमम्मि सव्वजीवा बीए चरिमे अ सवदव्वाइं । सेसा महव्वया खलु तदिक्कदेसेण दव्वाणं ॥ ७९१ ॥

तत्र साक्षान्महाव्रते विषयद्वारेण चिन्त्यमाने (प्रथमे–प्राणातिपातविरमणरूपे आद्ये महाव्रते) सर्वजीवाः–त्रसस्थावरसूक्ष्मेतरभेदा विषयत्वेन द्रष्टव्याः, तस्य तदनुपालनरूपत्वात्, द्वितीये मृषावादविनिवृत्तिरूपे चरमे च—परिग्रहविनिवृत्तिलक्षणे सर्वद्रव्याणि विषयत्वेनावगन्तव्यानि, कथमिति चेत्, नास्ति पञ्चास्तिकायात्मको लोक इति हि मृषावादः सर्वद्रव्यविषयः, तन्निवृत्तिरूपं च द्वितीयं महाव्रतं, तथा परिग्रहोऽपि मूर्च्छाद्वारेण समस्तद्रव्यगोचरः, तन्निवृत्तिरूपं च पञ्चमं महाव्रतम्, अतो द्वे अप्यशेषद्रव्यविषये, 'सेसा' इत्यादि, खलुशब्दोऽवधारणे, तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः, शेषाणि महाव्रतानि द्रव्याणां विषये तदेकदेशेनैव,भवन्तीति क्रियाध्याहारः,तेषां द्रव्याणामेकदेशस्तेनैव हेतुभूतेन भवन्ति, नतु समस्तद्रव्यविषयाणि,कथं ?, तृतीयस्य ग्रहणधारणीयद्रव्यादत्तादानविरतिरूपत्वात् चतुर्थस्य 'रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु' इत्यादिवचनतो रूपरूपसहगतद्रव्यसम्बन्ध्यब्रह्मविरतिरूपत्वात् षष्ठस्य च रात्रिभोजनविरमणरूपत्वादिति, एवं तावच्चारित्रसामायिकं निवृत्तिद्वारेण सर्वद्रव्यविषयं, श्रुतसामायिकमपि श्रुतज्ञानात्मकत्वात् सर्वद्रव्यविषयमेव, सम्यक्त्वसामायिकमपि सर्वद्रव्याणां सगुणपर्यायाणां विषये श्रद्धानं, तद्रूपत्वात् सर्वविषयमित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः ॥ तत्र सामायिकमजीवादिव्युदासेन जीव एवेत्युक्तं, जीवश्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अत्र चारित्र-सामायिकं अधिकृत्य सर्व-द्रव्य एवं पर्याय-विषय दर्शयते

द्रव्यगुणसमुदायात्मक इति द्रव्यगुणयोः सामायिकमिति द्रष्टव्यम्, अत्र नयैश्चिन्ता, यतः केचिन्नया द्रव्यं सामायिकमिति प्रतिपन्नाः, अपरे गुण इति, सकलनयानां च आधारभूतौ द्वौ नयौ, तद्यथा–द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च, तत्र नैगमसङ्ग्रहव्यवहारा द्रव्यार्थिकनयाः, उपरितना ऋजुसूत्रप्रभृतयश्चत्वारः पर्यायार्थिकनयाः, आह च चूर्णिकृत्–"आइतिगं नयाणं दवट्ठिओ, उवरिल्ला चत्तारि पज्जवट्ठितो" इति, तत्र द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिको वा यत् सामायिकमिच्छति तदुपदर्शयन्नाह—

जीवो गुणपडिवन्नो नयस्स दवट्ठियस्स सामइयं। सो चेव पज्जवट्ठियनयस्स जीवस्स एस गुणो ॥ ७९२ ॥

जीवः–आत्मा गुणैः–सम्यक्त्वादिभिः प्रतिपन्नः–आश्रितो गुणप्रतिपन्नः द्रव्यमेवार्थो यस्य न पर्यायाः स द्रव्यार्थिकः, अथवा 'दवट्ठिय' इति द्रव्यस्थित इति संस्कारः, द्रव्ये वस्तुतत्त्वबुद्ध्या स्थितो न तु पर्याये इति द्रव्यस्थितः, यदिवा द्रव्यास्तिक इति संस्कारः, तत्र अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकः, 'दैष्टिकास्तिकनास्तिका' इति निपातनादिकण् इत्यास्तिको, नतु पर्याये इति द्रव्यास्तिकः, किमुक्तं भवति ?–द्रव्यमेव तात्त्विकमस्ति न पर्याया इति यः प्रतिपन्नः स द्रव्यास्तिक इति, तस्य द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यस्थितस्य द्रव्यास्तिकस्य वा नयस्य मतेन सामायिकं, इयमत्र भावना–गुणाः खल्वौपचारिकत्वादसन्त एव, परमार्थतो द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामनुपलम्भात्, अथ यदि रूपादयो न सन्ति कथं तर्हि लोकस्य द्रव्ये तत्प्रतिपत्तिः, चित्रे निम्नोन्नतभेदप्रतिपत्तिवत्, गुणप्रतिपन्न इत्यत्रापि गुणस्य विशेषणीभावेन जीवस्यैव तात्त्विकत्वं, यथा पावक इत्यत्र पुरुषस्य पचनक्रियायाः, ततोऽस्य द्रव्यार्थिकनयस्य न्यग्भूतगुणग्रामो जीव एव सामायिकं, न पर्याय इति। पर्यायार्थिकस्य पर्यायस्थितस्य पर्यायास्तिकस्य वा पुनर्नयस्य स एव सामायिकादिर्गुणः परमार्थतो, नतु जीवद्रव्यं, गुणातिरेकेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्यानुपलम्भात्, तथाहि–नास्ति गुणातिरिक्तो जीवः, प्रमाणेनानुपलब्धेः, रूपाद्यर्थान्तरभूतघटवत्, यदप्युक्तं प्राक् 'आत्मा खलु सामायिक'मिति तदपि यदेतत् ज्ञानादित्रिकरूपं सामायिकं स एव जीवस्य गुण इतिकृत्वा उपचारतोऽभिहितं, यथा शुक्लः पटः पीता हरिद्रा कृष्णो भ्रमर इति, तत्त्वतस्तु स एव गुणः सामायिकमिति ॥ सम्प्रति पर्यायार्थिक एव स्वं पक्षं समर्थयमान आह–

उप्पज्जंति वयंति य परिणामंति अ गुणा न दव्वाइं । दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइं दव्वाइं ॥ ७९३ ॥

उत्पद्यन्ते–उत्पत्तिमासादयन्ति व्ययन्ते–विनाशमुपगच्छन्ति, चशब्दः समुच्चये, तथा परिणमन्ति–सङ्ख्यातीतानि तारतम्यानि अनुभवन्ति प्रतिक्षणम्, अन्यथाऽन्यथा प्रायस्तरतमभावात्, चशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे, तस्य चैवं प्रयोगो–गुण एव, न द्रव्याणि, तेषामाकालमेकरूपत्वेनावस्थानाभ्युपगमात्, उक्तं च–"जीवे दव्वट्ठयाए सासए पज्जवट्ठयाए असासए" इति, ततस्त एव गुणास्तत्त्वतः सन्ति, उत्पादव्ययपरिणामोपेतत्वात्, पत्रगतनीलतारक्तादिवत्, तदतिरिक्तस्तु गुणी नास्त्येव, उत्पादव्ययपरिणामरहितत्वात्, गगनेन्दीवरवत्, उक्तं च–"उप्पायविगमपरिणामतो गुणा पत्तनीलयाइव । संति न उ दव्वमिट्ठं तविरहातो खपुप्फंव ॥ १ ॥" (विशे. २६४९) किंच–'दव्वप्पभवा य गुणा' द्रव्यात्प्रभवः–उत्पादो येषां ते द्रव्यप्रभवाः, चशब्दो युक्त्यन्तरसमुच्चये, गुणा न भवन्ति, किन्तु परस्परप्रत्ययभावप्रभवाः, 'न गुणप्पभवाइं दव्वाइं' इति अत्रापि नेति सम्बध्यते, नापि गुणप्रभवानि द्रव्याणि, तेषां नित्यत्वेनाभ्युपगमात्, ततो न द्रव्याणां कारणत्वं नापि कार्यत्वमिति तद्भावः, सतो नियमेन कारणरूपतया कार्यरूपतया वा सम्भवात्, तथा च नास्ति परा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिमतं द्रव्यं, कारणकार्यरूपविकलत्वात्, खरविषाणवत्, अस्तित्वं हि नामार्थक्रियाकारित्वं, 'यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थस'दिति वचनात्, सर्वो अर्थक्रियाकारिता कारणकार्यरूपत्वेन व्याप्ता, द्रव्यस्य कारणकार्यरूपविकलस्यार्थक्रियाया अदर्शनात्, किं हि तदस्ति वस्तु यदकारणरूपमकार्यरूपं वा सत् अर्थक्रियां कुर्यात् ?, ततः कारणकार्यरूपत्वं व्यावर्त्तमानं स्वव्याप्यमप्यस्तित्वं निवर्त्तयतीति व्यापकानुपलब्धिरेषा, तस्माद् गुण एव समभावलक्षणः सामायिकमिति । एवं पर्यायार्थिकेन स्वमते प्रतिपादिते द्रव्यार्थिक आह–

जं जं जे जे भावे परिणमइ पओग–वीससा दव्वं । तं तह जाणेइ जिणो अपज्जवे जाणणा नत्थि ॥ ७९४ ॥

यत् यत् आत्ममृदादिकं वस्तु यान् यान् भावान्–पर्यायान् विज्ञानघटादीन् परिणमति–तदात्वेन प्रतिपद्यते प्रयोगतो विस्रसातो वा, तत्र प्रयोगश्चेतनावतो व्यापारः, विस्रसा स्वभावः, तत्सर्वमुत्प्रेक्षितपर्यायं द्रव्यमेव, उत्फणविफणत्वकुंडलिकादिपर्यायसमन्वितसर्प्पद्रव्यवत्, तथाहि–न तत्र केचन उत्फणतादयः सर्प्पद्रव्यातिरिक्ताः पर्यायाः सन्ति, प्रमाणेनानुपलब्धेः, गगनकुसुमस्य मुकुलितार्द्धमुकुलितत्वादिपर्यायवत्, तस्मात्तदेव द्रव्यं, तत्र (च) परमार्थसदिति । किञ्च–तत् द्रव्यं तथैव–अन्वयपर्यायोपसर्जनं जानाति–परिच्छिनत्ति जिनो–भगवान् केवली, कस्मात् पर्यायोपसर्जनं जानाति, नतु पर्यायरहितमित्यत आह–'अपज्जवे जाणणा नत्थित्ति' अपर्याये–पर्यायरहिते यतो जाणणा–परिज्ञा केवल्यादीनामपि नास्ति, ततस्ते उत्प्रेक्षामात्रेण व्यवह्रियन्ते, नतु परमार्थतः सन्ति, ततो द्रव्यमेव तात्त्विकमिति जीव एव सामायिकमिति गाथार्थः। अथवा 'दव्वप्पभवा य गुणा' इत्यादि द्रव्यार्थिकनयमतेन व्याख्यायते, उत्पद्यन्ते व्ययन्ते परिणमन्ति च यस्मात्

आ. सू. ७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणा एव, न द्रव्याणि, तस्मात्त एव तात्त्विका इति पर्यायार्थिकेनोक्ते द्रव्यार्थिकः प्राह–द्रव्याण्येव च परमार्थतः सन्ति, न गुणाः, यतो द्रव्यप्रभवा गुणाः, न गुणप्रभवानि द्रव्याणि, किमुक्तं भवति ?–द्रव्यत्वेनोत्पादविगमपरिणामप्रकारैस्तेषां तेषां गुणानामुत्पादो भवति, तेषां परोपादानत्वात्, नतु गुणेषूक्तप्रकारेण द्रव्याणां, तेषामपरोपादानत्वात्, तस्मात् तान्येव द्रव्याण्यन्तर्विशेषणीभूतगुणानि तात्त्विकानि, न गुणा इत्यात्मैव सामायिकम्, एवं पर्यायार्थिकेन द्रव्यार्थिकेन च स्वमते उद्भाविते परस्परविरुद्धमतार्कर्णनतो व्याकुलीचित्तः सन् शिष्यः प्रश्नयति–भगवन्! किमत्र तत्त्वमिति ?, तत आचार्यः स्वसिद्धान्तमुपदर्शयति–'जं जं जे जे भावे' गाथा, यत् यत् द्रव्यमात्ममृदादिकं यान् यान् भावान्–पर्यायान् विज्ञानघटादीन् परिणमति–तादात्म्येन प्रतिपद्यते प्रयोगतो विश्रसातो वा 'तं तहे'ति–अगृहीतवीप्सोऽपि प्राग्वीप्सोपन्यासादयं शब्दो वीप्सां गमयति, तत् तत् तथा तथा परिणमन्तं जानाति जिनो–भगवान् केवली, यस्मादपर्याये–पर्यायरहिते 'जाणणा' केवलज्ञानेनापि परिज्ञा नास्ति, तस्मात् द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु तात्त्विकं, केवलिना तथाऽवगतत्वाद्, अतः सामायिकभावपरिणत आत्मा सामायिकमिति स्थितं । व्याख्यातं किमिति द्वारं, अधुना कतिविधमिति द्वारं व्याचिख्यासुराह—

सामाइयं च तिविहं समत्त सुअं तहा चरित्तं च । दुविहं चेव चरित्तं अगारमणगारिअं चेव ॥ ७९५ ॥

सामायिकं प्राग्निरूपितशब्दार्थं, चः पूरणे, त्रिविधं–त्रिभेदं, तद्यथा–सम्यक्त्वम्, अत्रानुस्वारलोप आर्षत्वात्, श्रुतं चारित्रं, सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं चारित्रसामायिकमित्यर्थः, चशब्दः स्वगतानेकभेदप्रदर्शनार्थः, तत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** आगम साक्षी-पाठ: रूपेण गाथा || ७९४ || हारिभद्र-वृतौ || ७९५ || रुपेण अपि उक्तं, अत्र सा 'गाथा-व्याख्या' वृत्ति रूपेण प्रदर्शिता:

*** अथ सामायिकस्य त्रिविध / चतुर्विध भेदानां परिचय आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

सम्यक्त्वसामायिकं द्विविधं, तद्यथा–निसर्गसम्यक्त्वसामायिकमधिगमसम्यक्त्वसामायिकं च, तत्र निसर्गः स्वभावः, तेन सम्यक्त्वसामायिकं निसर्गसम्यक्त्वसामायिकं, यदुपदेशमन्तरेणापि जीवस्य तथास्वभावत एवोपजायते तन्निसर्ग-सम्यक्त्वसामायिकमिति भावः, परोपदेशतो जीवादिपदार्थाधिगमपुरस्सरमुपजायते तदधिगमसम्यक्त्वसामायिकं, अथवा दशविधम्' एकैकस्य औपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकवेदकक्षायिकभेदात्, तत्र औपशमिकमुपशमश्रेणौ प्रथमसम्यक्त्व-लाभे वा अन्तरकरणव्यवस्थितस्य, सास्वादनमौपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां व्यवस्थितस्य मिथ्यात्वं गन्तुमनसो मिथ्यात्वमग्रा-सस्य, क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वपुद्गलान् वेदयमानस्य, वेदकं दर्शनत्रिकं क्षपयतश्चरमग्राससम्यक्त्वाणुवेदनस्वभावं, क्षायिकं दर्शनत्रिकक्षयनिष्पन्नं शुद्धात्मस्वभावरुचिरूपं, अथवा त्रिविधं–क्षायिकमौपशमिकं क्षायिकं च; सास्वादनस्यौ-पशमिके वेदकस्य च क्षायोपशमिके अन्तर्भाववविवक्षणात्, यदिवा त्रिविधमेवं–कारकं रोचकं दीपकं च, तत्र यस्मिन् सम्यक्त्वे सति सदनुष्ठानं श्रद्धत्ते सम्यक् करोति (च, करोति) सदनुष्ठानमिति कारकं, यत्तु सदनुष्ठानं रोचयत्येव केवलं न पुनः कारयति तत् रोचकं, यत् स्वयं तत्त्वश्रद्धान (हीन) एव मिथ्यादृष्टिः परस्य धर्म्मकथादिभिस्तत्त्वश्रद्धानं दीपयति–उत्पादयति तस्य परिणामविशेषः कारणे कार्योपचारात् सम्यक्त्वं दीपकमुच्यते, उक्तं च–"सयमिह मिच्छदिट्ठी धम्मकहाईहिं दीवइ परस्स। सम्मत्तमिणं दीवग कारणकज्जोवयारातो॥ १॥" श्रुतसामायिकं त्रिविधं, तद्यथा–सूत्रमर्थ-स्तदुभयं च, अक्षरानक्षरादिभेदादनेकविधं वा, चारित्रसामायिकं त्रिविधं–क्षायिकमौपशमिकं क्षायोपशमिकं च, तत्र क्षीणमोहादेः क्षायिकम्, उपशान्तमोहस्यौपशमिकं, प्रमत्तसंयतादीनां क्षायोपशमिकं, अथवा पञ्चविधं–सामायिकं छेदोप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

स्थाप्यं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातं च, अथवा गृहीताशेषविकल्पं द्विविधम्—अगारसामायिकमनगार-च, तथा चाह—'दुविहं चेव चरित्तं अगारमणगारियं चेव ॥ ७९६ ॥' सामायिकं द्विविधमेव—द्विभेदमेव मूलभेदेन चारित्रं—चारित्रसामायिकम्, अगाः—वृक्षास्तैः कृतत्वाद् आ समन्तात् राजते इति अगारं—गृहं, 'क्वचिदि'ति (ड) प्रत्ययः, तदस्यास्तीति 'अभ्रादिभ्य' इति मत्वर्थीयोऽकारप्रत्ययः, अगारो—गृही तस्मिन् भवमागारिकम्, अध्यात्मादिभ्य इतीकण् प्रत्ययः, इदं चानेकभेदं, देशविरतेश्चित्ररूपत्वात्, अनगारः—साधुः, न विद्यते स्वस्वामिभावेनागारमस्येति व्युत्पत्तेः, तस्मिन् भवमानगारिकं चैव, पूर्ववदिकण्प्रत्ययः, आह—सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिके विहाय चारित्र-सामायिकस्य साक्षाद्भेदाभिधानं किमर्थम् ?, उच्यते, तस्मिन् सति तयोर्नियमेन भाव इति ख्यापनार्थं, यद्वा चरम-त्वादस्य यथा भेद उक्तः तथा शेषयोरपि वाच्य इति ज्ञापनार्थं ॥ साम्प्रतं मूलभाष्यकारः श्रुतसामायिकमध्ययनरूपत्वात् व्याचिख्यासुस्तस्य भेदानाह—

अज्झयणंपि य तिविहं सुत्ते अत्थे (य) तदुभए चेव। सेसेसुवि अज्झयणेसु होइ एसेव निज्जुत्ती॥१५०॥ (भाष्यं)

अध्ययनमपि च त्रिविधं—सूत्रविषयमर्थविषयं तदुभयविषयं च, अपिशब्दात् सम्यक्त्वसामायिकमप्यौपशमिकादिभे-दात् त्रिविधमिति ॥ प्रक्रान्तोपोद्घातनिर्युक्तेरशेषाध्ययनव्यापितां दर्शयति—'शेषेष्वपि' चतुर्विंशतिस्तवादिष्वन्येष्वध्य-यनेषु भवत्येषैव—उद्देशनिर्देशादिका निरुक्तिपर्यवसाना निर्युक्तिः । आह—अशेषद्वारपरिसमाप्तावतिदेशो न्याय्यः, किमर्थं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ अध्ययनस्य त्रिविधत्वं दर्शयते

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

अपान्तरालेऽभिहितः ?, उच्यते, मध्यग्रहणे आद्यन्तयोर्ग्रहणं भवतीति न्यायप्रदर्शनार्थं, गतं कतिविधमिति द्वारम्, इदानीं कस्येति द्वारावसरः, तत्र यस्य तद्भवति तदभिधित्सुराह—

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे । तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासिअं ॥ ७९६ ॥

यस्य साधोरात्मा–जीवः, 'सामाणिओ'त्ति समानीतः–सकारस्य सूत्रे दीर्घः प्राकृतत्वात्; सम्यक् सन्निहितीकृतः, स्ववीर्योल्लासविशेषेणेति गम्यते, क्व समानीत इत्याह–संयमे–मूलगुणेषु नियमे–उत्तरगुणेषु तपसि–द्वादशप्रकारेऽनशनादिलक्षणे, तस्यैवंभूतस्याप्रमादिनः सामायिकं भवति, इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थः, एतेषु त्रिषु संयमादिषु (समाहितस्य) सम्पूर्णं सामायिकं भवतीति केवलिभिः–सर्वज्ञैर्भाषितम् ॥

जो समो सव्वभूएसुं, तसेसु थावरेसु य । तस्स सामाइअं होइ, इइ केवलिभासिअं ॥ ७९७ ॥

यः समो–मध्यस्थः आत्मा, त(स्व)मिव परं पश्यतीति भावः, सर्वभूतेषु–सर्वेषु प्राणिषु, तद्यथा–त्रसेषु–द्वीन्द्रियादिषु स्थावरेषु–पृथिव्यादिषु तस्य सामायिकं भवति, इति–एतावत् केवलिभिर्भाषितं ॥ सम्प्रति फलदर्शनद्वारेणास्य करणविधानं प्रतिपादयन्नाह–

सावज्जजोगप्परिवज्जणट्ठा, सामाइअं केवलिअं पसत्थं ।
गिहत्थधम्मा परमंति नच्चा, कुज्जा बुहो आयहिअं परत्था ॥ ७९८ ॥

सावद्ययोगपरिवर्जनार्थं सामायिकं केवलिकमिति–पूर्णं प्रशस्तं–पवित्रम्, आत्मनः पवित्रीकरणात्, तथा गृहस्थधर्मात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

*** अथ 'सामायिक' संबंधी विविध द्वाराणाम् वर्णनं

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

परमं-प्रधानं ज्येष्ठमित्येतत् ज्ञात्वा कुर्यात् बुधो-विद्वान् आत्महितम्-आत्मोपकारकम्, एतदेव परिपूर्णं सामायिकं, किमर्थमित्याह-'परार्थं' परो-मोक्षः, तस्याप्यपरस्य परस्याभावात्, तदर्थं, न तु सुरलोकाद्यवाप्त्यर्थं, अनेन निदानपरिहारमाह, परिपूर्णसामायिककरणशक्त्यभावे गृहस्थोऽपि गृहस्थसामायिकं 'करेमि भंते ! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणे'त्येवं कुर्यात्, आह-तस्य सर्वं त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याचक्षाणस्य को दोषः?, उच्यते, प्रवृत्तकर्म्मारम्भानुमत्यनिवृत्त्या कारणसम्भव एव, तथापि तत्करणे भङ्गदोषः, तथा चाह-

सव्वंति भाणिऊणं विरई खलु जस्स सविआ नत्थि। सो सव्वविरइवाई चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥ ७९९ ॥

'सव्वं'ति उपलक्षणमेतत्, तत एवं द्रष्टव्यं-सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि त्रिविधं त्रिविधेनेत्येवं भाणिऊण-अभिधाय विरतिः-निवृत्तिः, खलु सर्वैका-सर्वा नास्ति, प्रवृत्तकर्मारम्भानुमतिसद्भावात्, स सर्वविरतिवादी 'चुक्कइ' इति भ्रश्यति 'देसं च सव्वं वे'ति प्राकृतत्वात् पञ्चम्यर्थे द्वितीया, देशविरतेः सर्वविरतेश्च, देशविरतेरनभ्युपगमात्, सर्वविरतेरकरणात्, नन्वागमे गृहस्थस्यापि प्रत्याख्यानं त्रिविधं त्रिविधेनोक्तं, तथा च व्याख्याप्रज्ञप्तौ सूत्रं-'समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव थूलेपाणाइवाए पच्चक्खाए भवति, से णं पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं कीरइ?, गोयमा ! तीयं पडिक्कमइ जाव एगविहेण वा पडिक्कमइ' इति, ततः कथं गृहस्थस्य सावद्ययोगानुमतिप्रत्याख्यानप्रतिषेधः?, उच्यते, यदिदं सूत्रे गृहस्थस्यापि त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानं तत् स्थूलप्राणातिपातमृषावादादिविषयं द्रष्टव्यं, यथा कोऽपि सिंहसरभगजादीनां वधं कन्यादिविषयमलीकं त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यातीति, न पुनः सामान्येन सावद्ययोगविषयं, प्रवृत्तकर्मारम्भानुमतेरवश्यंभावात्, ततो न कश्चि-

॥४३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विरोधः, उक्तं च-"ननु तिविहंतिविहेणं पच्चक्खाणं सुयंमि गिहिणोऽवि। तं थूलवहादीणं न सव्वसावज्जजोगाणं ॥ १ ॥" (वि. २६८६) अपिच-यत्किञ्चिदप्रयोजनं काकमांसादिकं यदपि चाप्राप्यं मनुष्यक्षेत्राद्बहिर्दन्तिदन्तचित्रकचर्मादिकं तद्विशेषितं वस्त्वधिकृत्य यदि त्रिविधं त्रिविधेनापि प्रत्याचष्टे तथापि न कश्चिद्दोषः; यथा स्वयंभूरमणसमुद्रादिमत्स्या मया न हन्तव्याः त्रिविधं त्रिविधेनेति प्रत्याचक्षाणस्य, यदिवा यो व्रतं प्रतिपत्तुकामः पुत्रसन्तत्यादिनिमित्तं विलम्बं कुर्वन्नेकादशीप्रतिमां प्रतिपद्यते तत्समाप्त्यनन्तरं चावश्यमेव व्रतं ग्रहीष्यति स त्रिविधं त्रिविधेनापि सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानं कुर्वाणो न दोषभाग् भवति, ये पुनः पूर्वारब्धानुज्झितसावद्यकर्म्मसन्तानः सन् सामायिकं करोति स त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानं कर्त्तुं न शक्नोति, तदनुमतिपरिणतेर्निवर्त्तयितुमशक्यत्वात्, आह च भाष्यकृत्-"जइ किंचिदप्पओयणमप्पप्पं वा विसेसिउं वत्थुं। पच्चक्खेज्ज न दोसो सयंभुरमणाइमच्छव्व ॥ १ ॥ जो वा निक्खमिउमणो पडिमं पुत्ताइसंततिनिमित्तं। पडिवज्जेज्ज तओ वा करेज्ज तिविहंपि तिविहेणं ॥ २ ॥ जो पुण पुव्वारद्धाणुज्झियसावज्जकम्मसंताणो। तदणुमइपरिणतिं सो न तरइ सहसा नियत्तेउ ॥ ३ ॥" मिति (विशे. २६८७-९) यद्यपि च गृहस्थस्य सामायिकं कुर्वतो न त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानं तथापि तद् गृहस्थेन परलोकार्थिना गृहस्थसामायिकमवश्यं कर्त्तव्यं, तस्यापि विशिष्टफलसाधकत्वात्, तथा चाह निर्युक्तिकृत्—

सामाइअम्मि उ कए समणो इव सावओ हवइ जम्हा। एएण कारणेणं बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥ ८०१ ॥

सामायिके, तुशब्द एवकारार्थः, "तुः स्याद्भेदेऽवधारणे" इति वचनात्, सामायिके एव कृते सति यस्मात् श्रावकः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

***अत्र यत् निर्युक्ति: क्रम ८०० इति न दृश्यते तत् (संपादन-परिवर्तन-रूपेण) / मुद्रण-अशुद्धि: मात्र, हारिभद्रिय-वृतौ गाथा '८०१' रूपेण एव वर्तते

श्रमण इव भवति, प्रायोऽशुभयोगरहिततया श्रमण इव बहुतरकर्म्मनिर्जरको भवतीति भावः, अनेन कारणेन बहुशः-अनेकवारं सामायिकं कुर्यात् इति गाथार्थः ॥ किंच—

जीवो पमायबहुलो बहुसोऽविय बहुविहेसु अत्थेसुं । एएण कारणेणं बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥ ८०२ ॥

जीवः प्रमादबहुलः बहुशः-अनेकधापि च बहुविधेषु अर्थेषु-शब्दादिषु, प्रमादवांश्च एकान्तेनाशुभबन्धक एव, अतः-अनेन कारणेन तत्परिजिहीर्षया बहुशः सामायिकं कुर्यात्, मध्यस्थो भूयादिति गाथार्थः । सामायिकं च मध्यस्थस्य । सामायिकवतो लक्षणमाह—

जो नवि वट्टइ रागे नवि दोसे दुण्ह मज्झयारम्मि । सो होइ उ मज्झत्थो सेसा सव्वे अमज्झत्था ॥ ८०३ ॥

यो नापि वर्त्तते रागे, नापि द्वेषे, किन्तु द्वयोरपि-रागद्वेषयोः मध्यकारे-मध्ये, कारशब्दस्य प्राकृतलक्षणवशतः स्वार्थे उत्पन्नत्वात्, अपान्तराले इत्यर्थः, स भवति मध्यस्थः, मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः-रागद्वेषापान्तरालवर्त्ती, शेषाः सर्वे अमध्यस्थाः ॥ गतं कस्येति द्वारम्, अधुना क्व किं सामायिकमिति प्ररूपयितुकामो द्वारगाथात्रयमाह—

खित्त दिसा काल गइ भविअ सन्नि ऊसास दिट्ठि आहारे । पज्जत्त सुत्त जम्म ठिई वेअ सन्ना कसायाऽऽऊ ८०४

नाणे जोगुवओगे सरीर संठाण संघयण माणे । लेसा परिणामे वेअणा समुग्घाय कम्मे य ॥ ८०५ ॥

निद्दिट्ठणुवट्टे आसवकरणे तहा अलंकारे । सयणासणठाणत्थे चंकम्मंते अ किं कहिअं ? ॥ ८०६ ॥

आसां समुदायार्थः क्षेत्रदिक्कालगतिभव्यसंज्ञिउच्छ्वासदृष्टिआहारकानङ्गीकृत्यालोचनीयम्, क्व किं सामायिकमिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

योगः, तथा पर्याप्तसुप्तजन्मस्थितिवेदसंज्ञाकषायायुषि च, तथा ज्ञानं योगोपयोगौ शरीरसंस्थानसंहननमानानि लेश्याः परिणामं वेदनां समुद्घातकर्म्म च, क्रियायोजना पूर्ववत्, तथा निर्वेष्टनोद्वर्त्तने आश्रवं करणानि तथा अलङ्कारान् तथा शयनासनस्थानचङ्क्रमतश्चाश्रित्य पर्यालोचनीयम्, क्व किं सामायिकमिति । अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं स्वयमेव वक्ष्यति–तत्रोर्ध्वलोकादिक्षेत्रमङ्गीकृत्य सम्यक्त्वादिसामायिका[दी]नां लाभादिभावमभिधित्सुराह—

सम्म-सुआणं लंभो उड्ढं च अहो य तिरियलोए य । विरई मणुस्सलोए विरयाविरई अ तिरिएसु ॥८०७॥

सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोर्लाभः–प्राप्तिः, 'उड्ढं चे'ति ऊर्ध्वलोके च 'अहे य'त्ति अधोलोके च तिर्यग्लोके च, इयमत्र भावना–ऊर्ध्वलोके मेरुसुरलोकादिषु ये सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते तेषां श्रुताज्ञानमपि तदैव सम्यक्श्रुतरूपतया परिणमते इति द्वयोरपि सामायिकयोस्तत्र लाभसम्भवः, एवमधोलोकेऽपि महाविदेहगताधोलौकिकग्रामेषु नरकेषु च निसर्गतोऽधिगमाद्वा सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानानां द्वयलाभो भावनीयः, एवं तिर्यग्लोकेऽपि, 'विरई मणुस्सलोगे'त्ति अत्र विरतिशब्देन सर्वविरतिसामायिकं गृह्यते, तच्च लाभापेक्षया मनुष्यलोके एव, नान्यत्र, मनुष्या एवास्य प्रतिपत्तारः, न शेषा जन्तव इति भावना, क्षेत्रनियमं तु विशिष्टश्रुतविदो नाभिहितवन्तः, सम्भावयामः ततस्त्रिष्वपि लोकेषु, मेरावपि कथासु प्रव्रज्याप्रतिपत्तिश्रवणात्, 'विरयाविरई य तिरिएसु'त्ति विरताविरतिश्च देशविरतिसामायिकलक्षणा लाभविचारेऽपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् तिर्यक्ष्वपि भवति मनुष्येषु च ।

पुव्वपडिवन्नतो पुण तीसुवि लोगेसु नियमतो तिण्हं । चरणस्स दोसु नियमा भयणिज्जा उड्ढलोगम्मि ॥८०८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

त्रयाणां–सम्यक्त्वसामायिकदेशविरतिसर्वविरतिसामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नकाः पुनर्नियमेन त्रिष्वपि लोकेषु विद्यन्ते, पण्डकवनादिष्वपि देशविरतानां तिरश्चां सम्भवात्, चरणस्य–विरतिसामायिकस्य द्वयोः–अधोलोकतिर्यग्लोकयोः नियमात्–नियमेन पूर्वप्रतिपन्नाः, भजनीयाः पुनरूर्ध्वलोके, कदाचिद् भवन्ति कदाचिन्नेति भावः, गतं क्षेत्रद्वारम्। अधुना दिग्द्वारमभिधित्सुर्दिक्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

नामं ठवणा दविए खित्तदिसा तावखित्त पन्नवए।
सत्तमिआ भावदिसा सा होअट्ठारसविहा उ (परूवणा तस्स कायव्वा) ॥ ८०९ ॥

नामदिक् स्थापनादिक् द्रव्यदिक् क्षेत्रदिक् तापक्षेत्रदिक् प्रज्ञापकदिक् सप्तमी भावदिक्, तस्य नामस्थापना (दि) दिक्सप्तकस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या, पाठान्तरं 'सत्तमिया भावदिसा सा होइट्ठारसविहा उ' सप्तमी भावदिक् सा भवत्यष्टादशविधैवेति। तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यदिक्स्वरूपप्रकटनार्थमाह–तेरसपएसियं खलु तावइएसुं भवे पएसेसुं। जं दव्वं ओगाढं जहन्नगं तं दसदिसागं ॥१॥ (विशे. २६९८ आचा. नि. ४१) द्रव्यमेव च दशदिगुत्थापनहेतुत्वाद्दिक् द्रव्यदिक्, तच्च द्विधा–जघन्यत उत्कर्षतश्च, तत्र त्रयोदशप्रदेशिकं–त्रयोदशप्रदेशवत्, तावत्सु–त्रयोदशसु प्रदेशेषु यद्द्रव्यमवगाढं भवति तत् जघन्यतो दशदिक्प्रभवं, तच्चैवम्–एकैकः प्रदेशो विदिक्षु, एते चत्वारः, मध्ये त्वेक इत्येते पञ्च, तथा चतसृषु दिक्ष्वायतावस्थितौ द्वौ द्वाविति, स्थापना–'एक्केको विदिसासुं, मज्झे य, दिसासु आयया दो दो' इति, उत्कर्षतस्त्वनन्तप्रदेशात्मकं, तदपि च क्षेत्रमधिकृत्य जघन्यतस्त्रयोदशप्रदेशावगाढम्, एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्व्यणुकादीनामनन्ताणुकपर्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

न्तानां स्कन्धानामवगाहेऽपि अधिकृतत्रयोदशप्रदेशावगाढस्कन्धत्वपरिणाममापन्नानामवगाहनासम्भवात्, उत्कर्षतस्त्वसङ्ख्यातप्रदेशावगाढमिति। सम्प्रति क्षेत्रदिक्प्रतिपादनार्थं रुचकवक्तव्यतामाह—

अट्ठपएसो रुअगो तिरिअं लोगस्स मज्झयारम्मि। एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं ॥१॥(आचा.४२)

तिर्यग्लोकस्य मध्यकारे—मध्येऽष्टप्रदेशकः—अष्टनभःप्रदेशात्मको रुचकः, तथाहि—तिर्यग्लोकस्य मध्यभागे आयामविष्कम्भाभ्यां रज्जुप्रमाणौ सर्वप्रतराणां क्षुल्लकौ द्वौ नभःप्रदेशप्रतरौ, तयोश्च मेरुमध्यप्रदेशे मध्यं, तत्र च मध्ये उपरितनप्रतरस्य ये चत्वारो नभःप्रदेशा ये चाधस्तनस्य चत्वारस्तेषामष्टानामपि गोस्तनाकाररूपतया व्यवस्थितानामाकाशप्रदेशानां समये रुचक इति परिभाषेति, एष रुचको दिशां-क्षेत्रदिशां पूर्वादीनां प्रभवः—उत्पत्तिकारणम्, एष एव च भवति प्रभवोऽनुदिशां—क्षेत्रविदिशामाग्नेय्यादीनामिति ॥ सम्प्रत्यस्माच्च रुचकादिशो विदिशश्च यथा भवन्ति तथा प्रतिपादयन्नाह—

दुपएसाइ दुरुत्तर एगपएसा अणुत्तरा चेव। चउरो चउरो य दिसा चउराइ अणुत्तरा दुन्नि ॥ (आचा. नि.४३)

सगडुद्धिसंठिआओ महादिसाओ हवंति चत्तारि।
मुत्तावली अ चउरो दो चेव य हुंति रुअगनिभा ॥ (आचा. नि. ४४)

तस्मात् यथोक्तरूपात् रुचकात् बहिश्चतसृष्वपि दिक्षु प्रत्येकमादौ द्वौ द्वौ नभःप्रदेशौ भवतः, तदग्रतश्चत्वारश्चत्वारः, तेषामपि पुरतः षट् षट्, ततोऽप्यग्रतोऽष्टावष्टावित्येवं द्वाभ्यां प्रदेशाभ्यामारभ्य द्व्युत्तरवृद्धिः प्रत्येकं चतसृष्वपि दिक्षु परिभावनीया, तथा चाह-'दुपएसाइ दुरुत्तर' अत्र 'चउरो' इति सम्बन्धः, चतस्रः पूर्वादिका महादिशो द्विप्रदेशादयो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

मूले, प्रत्येकं यथोत्तरं द्विद्विप्रदेशवृद्धयः, अत एवैताः संस्थानतः चिन्त्यमानाः शकटोद्धिसंस्थाना प्रतिपत्तव्याः, 'एगपएसा अणुत्तरा चेव' अत्र 'चउरो य' इति द्वितीयपदेन सम्बन्धः, चतस्रः—आग्नेय्यादिका दिशो, विदिशामपि दिक्त्वाव्यभिचारात् उभयत्रापि सामान्येन दिसा इत्युक्तं, एकप्रदेशाः पूर्वादिमहादिशां चतसृणां चतुर्ष्वन्तरालकोणेषु एकैकनभःप्रदेशनिष्पन्ना अनुत्तरा—यथोत्तरं वृद्धिरहिताः, अत एवैताः संस्थानतः परिभाव्यमाना मुक्तावलीसंस्थिताः, 'चउरादि अणुत्तरा दोन्नि' इति द्वे ऊर्ध्वाधोदिशौ चतुरादिके अनुत्तरे, तथाहि—ऊर्ध्वं चतुरो नभःप्रदेशानादौ कृत्वा यथोत्तरं वृद्धिरहितत्वात् चतुष्प्रदेशिकैव रुचकनिभा चतुरस्रदण्डाकारा एका दिग्भवति, अधोऽप्येवंप्रकारा द्वितीयेति ॥ सम्प्रत्येता एव संस्थानतो निरूपयति—चतस्रः पूर्वादिका महादिशो भवन्ति शकटोद्धिसंस्थिताः, प्रदेशद्वयादारभ्य यथोत्तरं प्रदेशद्धिकवृद्धिभावात्, तथा चतस्रः—आग्नेय्यादिका विदिशो मुक्तावल्य इव मुक्तावल्यः, मुक्तावलीसंस्थानसंस्थिता इत्यर्थः, एकैकनभः प्रदेशनिष्पन्नत्वात्, तथा द्वे ऊर्ध्वाधोदिशौ भवतो रुचकनिभे, चतुष्प्रदेशनिष्पन्नत्वात्, अत्र स्थापना ॥ आसां च दशानामपि दिशां नामानि प्रतिपादयन्नाह—इंदग्गेई जम्मा य नेरई वारुणी अ वायवा । सोमा ईसाणाविअ विमला य तमा य बोद्धव्वा ॥ (आचा. नि. ४३) या रुचकात् विजयद्वारानुसारेण विनिर्गता दिक् सा ऐन्द्री-नामा, पूर्वेत्यर्थः, अस्या अनन्तरं वामपार्श्वे आग्नेयी, तस्या अपि तथैवानन्तरं याम्या, ततो नैर्ऋती, तदनन्तरं वारुणी, ततो वायव्या, ततः सोमा, उत्तरा इत्यर्थः, तदनन्तरमीशानी, एता अष्टावपि तिर्यग्दिशाः, तत्रापि पूर्वा याम्या वारुणी सोमेति महादिशः, रुचकादूर्ध्वविनिर्गता विमला, अधःप्रयायिनी तामसी, तथा चैतदेव व्याख्यानमाह—इंदा य विजय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

दाराणुसारओ सेसया पयाहिणओ। अट्ठ य तिरियदिसाओ उड्ढं विमला तमा वाऽहो ॥१॥ ऐन्द्री दिक् विजयद्वारानुसारतः प्रतिपत्तव्या, यत्र विजयद्वारं सा ऐन्द्रीति भावार्थः, शेषाः सप्त ऐशानीपर्यन्तास्तस्याः प्रदक्षिणातः–प्रादक्षिण्येन बोद्धव्याः, ताश्च तथैव प्राग्भाविताः, एताश्चाष्टावपि रुचकात् (तिर्यक्) प्रव्यूढत्वात् तिर्यग्दिश इति व्यवह्रियन्ते, रुचकादूर्ध्वं प्रवृत्ता विमला, रुचकस्याधः प्रवृत्ता तमा इति । उक्ता क्षेत्रदिक्, सम्प्रति तापक्षेत्रदिक् वक्तव्या, तत्र तपनं तापः सूर्यकिरणस्पर्शोज्जनितः प्रकाशात्मकः परितापः तदुपलक्षितं क्षेत्रं तापक्षेत्रं तदेव दिक्, अथवा तापयतीति तापः–सविता तदनुसारेण क्षेत्रात्मिका दिक् तापक्षेत्रदिक्, सा च सूर्यायत्तत्वादनियता, तथा चाह–जेसिं जत्तो सूरो उदेइ तेसिं तई हवइ पुव्वा । तावक्खित्तदिसाओ पयाहिणं सेसयाओ सिं ॥१॥ (आचा. नि. ४१) येषां–भरतादिक्षेत्रनिवासिनां मनुष्याणां यतो–यस्यां दिशि सूर्य उदेति–उद्गच्छति सा तेषां पूर्वा भवति, पूर्वेति व्यवह्रियते, तासां चैवमनियतानां पूर्वदिशां प्रदक्षिणं–प्रादक्षिण्येन शेषा अपि–आग्नेय्यादिकास्तापक्षेत्रदिशः प्रतिपत्तव्याः, एवं च सति सर्वेषामपि भरतैरावतपूर्वविदेहापरविदेहवास्तव्यानां मनुष्याणां मेरुरुत्तरतो लवणसमुद्रो दक्षिणतः, उक्ता तापक्षेत्रदिक्, साम्प्रतं प्रज्ञापकदिग् वाच्या, तत्र प्रज्ञापयति–सूत्रार्थं प्ररूपयति शिष्येभ्य इति प्रज्ञापको–व्याख्याता तदाश्रयेण दिक् प्रज्ञापकदिक्, तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह—पन्नवओ जयभिमुहो सा पुव्वा सेसिआ पयाहिणओ। तस्सेवऽणुगन्तव्वा अग्गेआई दिसा नियमा ॥१॥ प्रज्ञापको यस्या दिशोऽभिमुखस्तिष्ठति सा पूर्वा, शेषास्त्वाग्नेय्यादिका दिशो नियमात् तस्यैव प्रज्ञापकस्य प्रदक्षिणातः–प्रादक्षिण्येनानुगन्तव्याः। उक्ता प्रज्ञापकदिक्, सम्प्रति भावदिग् वक्तव्या, सा चाष्टादशविधा, दिश्यते अयममुकः संसारीति यया सा दिक् भावः–पृथिवीत्वादिलक्षणः पर्यायः स

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

एव दिक् भावदिक्, सा च यथा भवत्यष्टादशविधा तथा प्रतिपादयति-पुढवि-जल-जलण-वाया मूल-खंध-ग्ग-पोरबीआ य। बि-ति-चउ-पंचिंदिय तिरिय नारया देवसंघाया ॥ १ ॥ संमुच्छिमकम्माकम्मभूमिग नरा तहंतरद्दीवा। भावदिसा दिस्सइ जं संसारी निययमेआहिं ॥२॥ (आचा. नि.) पृथिवी-मृत्तिका, जलम्-आपः, ज्वलनो-वैश्वानरः, वातः-पवनः, 'मूलखंधग्गपोरबीया य' इति बीजशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् मूलबीजाः स्कन्धबीजा अग्रबीजाः पर्वबीजा इति द्रष्टव्यं, तत्र मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः-उत्पलकन्दादयः, स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः-शल्लक्यादयः, अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः-कोरण्टकादयः, पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः-इक्ष्वादयः, द्वीन्द्रिया-कृम्यादयः, त्रीन्द्रियाः-कीटिकादयः, चतुरिन्द्रिया-भ्रमरादयः, पञ्चेन्द्रियाः-तिर्यञ्चः सिंहसरभगोमहिष्यजादयः, नारका-रत्नप्रभापृथिवीनारकादयः, देवसङ्घाता-भवनपत्यादयः, नराश्चतुर्विधाः, तद्यथा- सम्मूर्च्छिमाः कर्म्मभूमका अकर्म्मभूमकास्तथा आन्तरद्वीपाः, तत्र सम्मूर्च्छिमा-वान्तादिसमुद्भवाः, कर्म्मभूमकाः-पञ्चदशकर्म्मभूमिजाताः, अकर्म्मभूमकाः-त्रिंशदकर्मभूमिजाताः (अन्तरद्वीपकाः) षट्पञ्चाशत्यन्तरद्वीपेषु जाताः, एवमेता अष्टादशभेदा भावतः-पृथिव्यादिपर्यायतो दिशो भावदिशः, कस्मात् दिक्त्वमेतासामत आह-यतः-यस्मात् संसारी नियतम्-अवश्यंभावेन एताभिर्दिश्यते-अपदिश्यते तत एता दिशः ॥ इह नामस्थापनाद्रव्यदिग्भिरनधिकार एव, शेषासु यथासम्भवं सामायिकस्य प्रतिपद्यमानकः पूर्वप्रतिपन्नो वा वाच्यः, तथा चाह चूर्णिकृत्-"एत्थं पुण चउहिं दिसाहिं अहिगारो-खेत्तदिसतावखेत्तपन्नवगभावदिसाहिं, नामादी तिन्नि परूवणानिमित्तं"-ति ॥ तत्र क्षेत्रदिशोऽधिकृत्य तावदाह—

॥४३९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

पुव्वाइआसु महादिसासु पडिवज्जमाणओ होइ । पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए दिसाए उ ॥ ८१० ॥

पूर्वादिकासु क्षेत्रतो महादिक्षु विवक्षिते काले सर्वेषामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानको भवति, न न भवति, तत्सम्भवस्त्वस्ति, न पुनर्भवत्येव, कदाचित्तस्य तास्वभवनात्, पूर्वप्रतिपन्नः पुनश्चतुर्णामपि सामायिकानामन्यतरस्यां दिशि भवत्येव, पुनःशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, न पुनर्न भवति, एतदपि सामान्येनोक्तं, विशेषतस्त्वेवमवगन्तव्यम्–त्रयाणां सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकदेशविरतिसामायिकानां चतसृष्वपि पूर्वादिकासु महादिक्षु नियमेन पूर्वप्रतिपन्नकोऽस्ति, सर्वविरतिसामायिकस्य तु पूर्वापरदिशोर्नियमेन, दक्षिणोत्तरयोस्तु भजनया, एकान्तदुष्षमादिकाले भरतैरावतेषु सर्वविरतेरुच्छेदात्, विदिक्षु पुनश्चतसृष्वपि तथा ऊर्ध्वाधोदिग्द्वये च चतुर्णामपि सामायिकानां न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, तास्वेकप्रादेशिकत्वेन चतुष्प्रादेशिकत्वेन च जीवावगाहनानामसम्भवात्, स्पर्शनामात्रं भवेदपि पुनः, तथा चाह भाष्यकारः–"छिन्नावलिरुअगागिइदिसासु सामाइयं न जं तासु । सुद्धासु नावगाहइ जीवो ताओ पुण फुसिज्जा ॥१॥" (वि. २७०) तापक्षेत्रप्रज्ञापकदिशावधिकृत्याह–अट्ठसु चउण्ह नियमा पुव्वपन्नो उ दोसु दुण्हेव । दुण्ह उ पुव्वपन्नो सिअ नत्थो तावपन्नवए ॥२॥ तापक्षेत्रविषये प्रज्ञापकविषये च पुनरष्टसु पूर्वादिकासु दिक्षु चतुर्णामपि समायिकानां नियमात् पूर्वप्रतिपन्नोऽस्ति, प्रतिपद्यमानस्तु भाज्यः–कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति, तथा द्वयोः–ऊर्ध्वाधोरूपयोर्दिशोः द्वयोः–सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकयोरेवं पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति, प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्य इत्यर्थः, 'दोण्ह उ' इत्यादि, द्वयोः पुनः देशविरतिसामायिकसर्वविरतिसामायिकयोरूर्ध्वाधोदिशोः स्यात्–भजनया पूर्वप्रतिपन्नः, कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति, अन्यः पुनः प्रतिपद्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

मानकः सर्वथा नेति । भावदिशमधिकृत्याह–उभयाभावो पुढवाइएसु विगलेसु हुज्ज उ पवन्नो । पंचिंदियतिरिएसुं नियमा तिण्हं सिअ पवज्जे ॥१॥ नारगदेवाकम्मगअंतरदीवेसु दुण्ह भयणाओ । कम्मगनरेसु चउसुं मुच्छेसु य उभयपडिसेहो ॥२॥ पृथिव्यादिषु–पृथिव्यप्तेजोवायुमूलबीजस्कन्धबीजाग्रबीजपर्वबीजेषु उभयाभावः चतुर्णामपि सामायिकानां, न पूर्वप्रतिपन्नो न प्रतिपद्यमानकः, विकलेषु–द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु पूर्वप्रतिपन्नो भवेत्, 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति'रिति सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकयोः कदाचित्पूर्वप्रतिपन्नो भवेत्, सास्वादनसम्यक्त्ववतां तेषु मध्ये उत्पादसम्भवात्, प्रतिपद्यमानकस्तु नोपपद्यते, उपदेशश्रवणादिसामग्र्ययोगात्, देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोः पुनर्न प्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु सर्वविरतिवर्जानां त्रयाणामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति, नापि प्रतिपद्यमानकः, तथा भवस्वाभाव्यात्, नारके देवेष्वकर्मभूमिजान्तरद्वीपजमनुष्येषु च द्वयोः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति, यः पुनः प्रपद्यते स प्रतिपद्यमानकः, स भजनया–स्यात् कदाचिद्विवक्षिते काले कदाचिन्नेतिभावः, इतरयोस्तु–देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोर्न प्रतिपद्यमानकस्तथास्वाभाव्यात्, कर्मजनरेषु–कर्मभूमिजमनुष्येषु चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नोऽस्त्येव, प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्यः, सम्मूर्च्छिमेषु तु मनुष्येषु चतुर्णामपि सामायिकानां विषये उभयप्रतिषेधो–न पूर्वप्रतिपद्यमानो नापि प्रतिपद्यमानक इति भावः ॥ गतं दिग्द्वारम्, इदानीं कालद्वारमभिधित्सुराह—

सम्मत्तस्स सुअस्स य पडिवत्ती छव्विहम्मि कालम्मि । विरई विरयाविरई पडिवज्जइ दोसु तिसु वावि॥८११॥

• इह कालः त्रिविधः, तद्यथा–उत्सर्पिणीकालः अवसर्पिणीकालः उभयाभावतोऽवस्थितश्च, तत्र भरतैरावतेषु प्रत्येकं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विंशतिसागरोपममानस्य कालचक्रस्य द्वौ मूलभेदौ–उत्सर्पिणी च अवसर्पिणी च, एकैका षड्विभागा, तत्रावसर्पिण्यां सुषम-सुषमाख्यः प्रवाहतश्चतुःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणः प्रथमः कालविभागः, द्वितीयः सुषमाख्यस्त्रिसागरोपमकोटीकोटीमानः, तृतीयः सुषमदुष्षमाख्यः सागरोपमद्वयकोटीकोटीमानः, चतुर्थो दुष्षमसुषमाख्यो द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्रन्यूनसागरोपमकोटीकोटीमानः, पञ्चमो दुष्षमाख्य एकविंशतिवर्षसहस्रमानः, षष्ठो दुष्षमदुष्षमाख्यः, सोऽप्येकविंशतिवर्षसहस्रमानः, अयमेव चोत्क्रमेणोत्सर्पिण्यामपि यथोत्तरसङ्ख्यः कालक्रमो वेदितव्यः, अवस्थितश्चतुर्विधस्तद्यथा–सुषमसुषमासुखप्रतिभागः सुषमासुखप्रतिभागः सुषमदुष्षमासुखप्रतिभागः दुष्षमसुषमासुखप्रतिभागश्च, तत्र प्रथमो देवकुरूत्तरकुरुषु, द्वितीयो हरिवर्षरम्यकयोः, तृतीयो हैमवतहैरण्यवतयोः, चतुर्थो महाविदेहेषु, तत्रोत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च प्रत्येकं षड्विधेऽपि कालविभागे सम्यक्त्वस्य श्रुतस्य च द्वयोरप्यनयोः प्रतिपत्तिः सम्भवति, प्रतिपद्यमानकः सम्भवतीति भावः, स च प्रतिपद्यमानकः सुषमसुषमादिषु देशन्यूनपूर्वकोट्यायुःशेष एव प्रतिपद्यते, नाधिकायुःशेषः, उक्तं च चूर्णौ–"सुसमसुसमादिसु पुवकोडिदेसूणाउसेसा पडिवज्जंति"त्ति, पूर्वप्रतिपन्नकास्त्वेतयोर्द्वयोरपि सामायिकयोर्विद्यन्ते एव, तथा विरतिं–समग्रचारित्रलक्षणां विरताविरतिं–देशचारित्रात्मिकां प्रतिपद्यते कश्चिद् द्वयोः कालयोस्त्रिषु वा कालविभागेषु, इयमत्र भावना–उत्सर्पिण्यां द्वयोः दुष्षमसुषमायां सुषमदुष्षमायां च, अवसर्पिण्यां त्रिषु, तद्यथा–सुषमदुष्षमायां दुष्षमसुषमायां दुष्षमायां च, विवक्षिते काले सर्वविरतिसामायिकस्य देशविरतिसामायिकस्य च प्रतिपद्यमानकः कदाचिद्भवति कदाचिन्न, पूर्वप्रतिपन्नस्तु विद्यत एव, 'दोसु तिसु वावी'त्यत्रापिशब्दः सम्भावने, स चैतत् सम्भावयति–संहरणं प्रतीत्य पूर्वप्रतिप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋकः सर्वकालेषु सम्भवति, प्रतिभागकालेषु त्रिषु सम्यक्त्वश्रुतयोः प्रतिपद्यमानकः भजनया, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति, चतुर्थे तु दुष्पमसुषमासुखप्रतिभागे चतुर्विधस्यापि सामायिकस्य प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्तु विद्यत एव,बाह्यद्वीपसमुद्रेष्वपि कालरहितेषु सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिसामायिकानां प्रतिपद्यमानको भजनया, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति, सर्वविरतिसामायिकस्यापि नन्दीश्वरादौ विद्याचारणादिगमने पूर्वप्रतिपन्नकः सम्भावनीयः। गतं कालद्वारम्,इदानीं गतिद्वारमाह—

चउसुवि गईसु नियमा सम्मत्तसुअस्स होइ पडिवत्ती। मणुएसु होइ विरई विरयाविरई अ तिरिएसु ॥८१२॥

चतसृष्वपि गतिषु नारकतिर्यङ्नरामररूपासु सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोर्नियमात् प्रतिपत्तिर्भवति, न पुनर्न भवति, एवं निषेधपरं नियमग्रहणं, न तु सदैव तत्प्रतिपत्तिरिति प्रतिपत्त्यर्थं, कदाचिदन्तरस्यापि तत्प्रतिपत्तेरिहैव वक्ष्यमाणत्वात्, अपिशब्दः पृथिव्यादिषु गत्यन्तर्गतेषु न भवत्यपीति सम्भावयति, पूर्वप्रतिपन्नस्तु सदैव लभ्यते, तथा मनुष्येषु प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य भवति विरतिः—समग्रचारित्रात्मिका, किमुक्तं भवति ?—मनुष्यगतौ सर्वविरतिसामायिकस्य प्रतिपद्यमानको भजनया सम्भवतीति, पूर्वप्रतिपन्नास्तु सदा संत्येव,विरताविरतिश्च—देशचारित्रात्मिका तिर्यक्षु प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य भवतीति वर्त्तते, अत्रापीयं भावना—तिर्यग्गतावपि देशविरतिसामायिकस्य प्रतिपद्यमानको भजनया, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति॥ सम्प्रति भव्यद्वारं संज्ञिद्वारं च प्रतिपिपादयिषुराह—

भवसिद्धिओ उ जीवो पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं। पडिसेहो पुण अस्सन्निमीसए सन्नि पडिवज्जे ॥८१३॥

भवैः सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिको—भव्यः, स चतुर्णामपि सम्यक्त्वसामायिकादीनामन्यतरत् एकं द्वे त्रीणि सर्वाणि वा

Jain Education Inte For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपद्यते, व्यवहारनयापेक्षयेत्थमुच्यते, ननु निश्चयतः, केवलस्य सम्यक्त्वसामायिकस्य श्रुतसामायिकस्य वा प्रतिपत्तेरसम्भवात्, तयोः परस्परमनुगतत्वात्, तत एवं प्रतिपत्तव्यम्–कदाचित्सम्यक्त्वश्रुतसामायिके प्रतिपद्यते कदाचिद्देशविरतिं कदाचित्सर्वविरतिमिति, इयमत्र भावना–भव्याश्चतुर्णामपि सामायिकानां यथायोगं प्रतिपद्यमानका भजनया, पूर्वप्रतिपन्नास्तु चतुर्णामपि सदैव, एवं संज्ञ्यपि चतुर्णां सामायिकानां कदाचित्प्रतिपद्यते, तथा चाह–'सन्नि पडिवज्जे'इति अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् संज्ञ्यपि चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत् विवक्षिते काले प्रतिपद्यते, भावना प्रागिव, पूर्वप्रतिपन्नकास्तु संज्ञिनश्चतुर्णामपि सामायिकानां यथायोगं सदैव लभ्यन्ते, 'पडिसेहो पुण अस्सन्निमीसए' इति (प्रतिषेधः पुनः) पूर्वप्रतिपन्नान् प्रतिपद्यमानकांश्चाश्रित्य असंज्ञिमिश्रके–सिद्धे, यतोऽसौ न संज्ञी नाप्यसंज्ञी न भव्यो नाप्यभव्यः अतो मिश्रः, उपलक्षणमेतत्, अभव्ये च चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिषेधः, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, स चैतद्विशिनष्टि–असंज्ञी सास्वादनसम्यक्त्वमाश्रित्य जन्मकाले सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो भवेत्, भवस्थकेवली मिश्रः सम्यक्त्वचारित्रसामायिकयोः सिद्धो मिश्रः सम्यक्त्वसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्तीति ॥ साम्प्रतमुच्छ्वासद्वारं दृष्टिद्वारं च प्रतिपादयन्नाह—

ऊसासगनीसासग मीसय पडिसेह दुविह पडिवन्नो। दिट्ठीइ दो नया खलु ववहारो निच्छओ चेव ॥ ८१४॥

उच्छ्वसितीत्युच्छ्वासकः, निःश्वसितीति निःश्वासकः, आनप्राणपर्याप्तिपरिनिष्पन्न इत्यर्थः, स चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, कदाचिद्भवति कदाचिन्नेति भावः, पूर्वप्रतिपन्नकस्तु नियमादस्त्येवेति वाक्यशेषः, 'मीसे पडि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-] दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

सेह' इति मिश्रः खल्वानापानपर्याप्त्या अपर्याप्तो भण्यते, तत्र चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य प्रतिषेधः, न मिश्रश्चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः सम्भवतीति भावः, 'दुविह पडिवन्नो'त्ति स एव मिश्रो द्विविधस्य सामायिकस्य, सम्यक्त्वसामायिकस्य श्रुतसामायिकस्य चेत्यर्थः, प्रतिपन्नः-पूर्वप्रतिपन्नो देवादिर्जन्मकाले भवति, अथवा मिश्रः-सिद्धः, तत्र चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानस्य प्रतिषेधः, सम्यक्त्वरहितानां तु त्रयाणां सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नस्य च, 'दुविह पडिवन्न'त्ति अत्र मिश्रः शैलेशीगतोऽयोगिकेवली गृह्यते, तस्य शरीरव्यापाररहिततया उच्छ्वासनिःश्वासविकलत्वात् स द्विविधस्य सामायिकस्य-सम्यक्त्वचारित्रसामायिकरूपस्य पूर्वप्रतिपन्नो वेदितव्यः। दृष्टौ विचार्यमाणायां द्वौ नयौ खलु विचारकौ-व्यवहारनयो निश्चयनयश्च, एवकारोऽवधारणे, एतावेव द्वौ, न शेषाविति, तत्राद्यो यथा मतिज्ञानविचारे अज्ञानी ज्ञानं प्रतिपद्यते इत्यभ्युपगतवान् तथेहापि सामायिकरहितः सामायिकं प्रतिपद्यते, निश्चयनयस्तु क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् यथा ज्ञानी ज्ञानं प्रतिपद्यते इति प्रतिपन्नवान् तथा सामायिकवान् सामायिकं प्रतिपद्यते इत्यपि। उक्ते उच्छ्वासदृष्टिद्वारे, साम्प्रतमाहारकद्वारं पर्याप्तद्वारं च प्रतिपिपादयिषुराह—

आहारओ उ जीवो पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं। एमेव य पज्जत्तो सम्मत्तसुए सिया इअरो ॥ ८१५ ॥

आहारयतीत्याहारकः, स चतुर्णां सामायिकानां प्राग्वदन्यतरत् प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्तु सर्वेषामपि नियमादस्त्येव, षट् पर्याप्तीः परिसमाप्तवान् पर्याप्तः, सोऽप्येवमेव प्रतिपत्तव्यः, किमुक्तं भवति?-चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत् सामायिकं प्रतिपद्यमानः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्तु चतुर्णामपि नियमात् विद्यते इति, 'समत्तसुए सिया इयरो'इति इतरः-अना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हारकोऽपर्याप्तकश्च, तत्रानाहारकोऽपान्तरालगतौ सम्यक्त्वश्रुते अङ्गीकृत्यः स्यात्–कदाचिद्विवक्षितकाले भवेत् कदाचिन्न पूर्वप्रतिपन्नः, प्रतिपद्यमानस्तु नियमान्न सम्भवतीति वाक्यशेषः, केवली तु समुद्घातावस्थायां शैलेश्यवस्थायां वाऽनाहारकः सम्यक्त्वसामायिकसर्वविरतिसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नः कदाचित् स्यात्, प्रतिपद्यमानकस्तु नैव, सिद्धस्तु सम्यक्त्वसामायिकस्य प्रतिपन्नो नियमादस्ति, प्रतिपद्यमानको नैव, इतरेषां तु त्रयाणामपि सामायिकानामुभयथापि तस्य प्रतिषेधः, अपर्याप्तोऽपि सम्यक्त्वश्रुतसामायिके अङ्गीकृत्य स्यात् सम्भवेत् पूर्वप्रतिपन्नः, प्रतिपद्यमानकस्तु नियमान्नास्ति, देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोः पुनरुभयथापि तस्य प्रतिषेधः ॥ सम्प्रति सुप्तजन्मरूपद्वारद्वयव्याचिख्यासयेदमाह—

निद्दाइ भावओऽविअ जागरमाणो चउण्हमन्नयरं। अंडय-पोअ-जराउय तिअ तिअ चउरो भवे कमसो॥८१६॥

इह सुप्तो द्विधा–द्रव्यसुप्तो भावसुप्तश्च, एवं जाग्रदपि, तत्र द्रव्यसुप्तो निद्रया, भावसुप्तस्तु मिथ्यादृष्टिरज्ञानी, तथा द्रव्यजागरो निद्रारहितः, भावजागरः सम्यग्दृष्टिः, तत्र निद्रया भावतोऽपि च जाग्रत् चतुर्णां सामायिकानां प्राग्वदन्यतरत् प्रतिपद्यमानः सम्भवतीति भावः, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्त्येवेति भावः, अपिशब्दो विशेषणे, स चैतद्विशिनष्टि–भावजागरः सम्यक्त्वसामायिकश्रुतसामायिकयोर्व्यवहारनयमतेन तु प्रतिपद्यमानकोऽपि देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोः पुनर्नयद्वयमतेनापि पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति, प्रतिपद्यमानकस्तु भाज्यः, निद्रासुप्तस्तु चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति, न तु प्रतिपद्यमानको, निद्राप्रभावतस्तथारूपचित्तशुद्ध्यादिसामग्र्यसम्भवात्, भावसुप्तस्तूभयविकलः, तस्य मिथ्यादृष्टित्वात्, यदि निश्चयनयमतेन सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते व्यवहारनयमतेन तु मिथ्यादृष्टिरतो व्यव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हारनयमताश्रयणे भावसुप्तः सामायिकादीनां प्रतिपत्ता सम्भवतीति प्रतिपत्तव्यं । जन्म त्रिविधम्–अण्डजपोतजजरायुजभेदात्, तत्र यथासङ्ख्यं 'तिग तिग चउरो भवे कमसोत्ति' अण्डजा–हंसादयस्ते सर्वविरतिवर्जानां त्रयाणां सामायिकानां विवक्षितकाले प्रतिपद्यमानका भाज्याः, पूर्वप्रतिपन्नास्तु नियमतः सन्ति, सर्वविरतिसामायिकस्य तूभयविकलास्तिर्यग्योनिकत्वात्, पोतजा–हस्त्यादयस्तेऽप्येवमेव, जरायुजा मनुष्या अपि, ततस्ते चतुर्णामपि सामायिकानां विवक्षिते काले प्रतिपद्यमानका भजनीयाः, पूर्वप्रतिपन्नास्त्ववश्यंभाविनः, उपलक्षणमेतत्, तेन औपपातिकाः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः प्रतिपद्यमानकाः सम्भवेयुः, पूर्वप्रतिपन्नका नियमतः, देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोस्तूभयविकलाः तथा भवस्वाभाव्यात् । सम्प्रति स्थितिद्वारमाह—

उक्कोसगट्ठिईए पडिवज्जंते अ नत्थि पडिवन्ने । अजहन्नमणुक्कोसे पडिवज्जंते अ पडिवन्ने ॥ ८१७ ॥

आयुर्वर्जानां सप्तानां ज्ञानावरणीयादिकर्म्मप्रकृतीनामुत्कृष्टायां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिमानायां स्थितौ वर्त्तमानो जीवश्चतुर्णामपि सामायिकानां 'पडिवज्जंते य नत्थि पडिवन्ने' इति प्रतिपद्यमानकः प्रतिपन्नश्च नास्ति, तस्यातिसङ्क्लिष्टत्वेनोभयविकलस्वभावत्वात्, चशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, आयुषस्तूत्कृष्टायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणायां स्थितौ वर्त्तमानोऽनुत्तरः सुरः प्रथमस्य सामायिकद्वयस्य पूर्वप्रतिपन्न एव, सप्तमपृथिवीनारकस्तु पूर्वप्रतिपन्नः प्रतिपद्यमानकश्च, देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोस्तूभयविकलाः तथा भवस्वाभाव्यात्, अजघन्योत्कृष्टस्थितिरेवाजघन्योत्कृष्टः, स्थितिशब्दलोपात्, अष्टानामपि कर्मणां मध्यमायां स्थितौ वर्त्तमान इत्यर्थः, स 'पडिवज्जंते य पडिवन्ने'इति, अत्रापि चशब्दस्य व्यवहितः सम्ब-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

न्धः, चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, प्रतिपन्नश्च नियमादस्ति, ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायमोहनीयजघन्यस्थितिकस्तु देशविरतिरहितस्य सामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नो लभ्यते, न तु प्रतिपद्यमानको, देशविरतिसामायिकस्य तूभयविकलः, घातिकर्म्मचतुष्टयजघन्यस्थितौ वर्त्तमानः क्षपकः सूक्ष्मसम्परायादिर्भवति, न शेषः, ततः स यथोक्तस्वरूप एव, वेदनीयायुर्नामगोत्रजघन्यस्थितिकः पुनः सम्यक्त्वसामायिकसर्वविरतिसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नोऽस्ति, नतु प्रतिपद्यमानकः, श्रुतसामायिकदेशविरतिसामायिकयोस्तु न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, वेदनीयादिजघन्यस्थितिको हि चरमसमये वर्त्तमानोऽयोगिकेवली, ततः स उक्तस्वरूप एव भवतीति, संसारापेक्षया त्वायुःकर्म्मजघन्यस्थितिचिन्तायां क्षुल्लकभवोऽवाप्यते, तत्र च वर्त्तमानो जीवो निगोदादिश्चतुर्णामपि सामायिकानां न पूर्वप्रतिपन्नो नापि प्रतिपद्यमानकः, तस्य तथारूपपरिणामासम्भवात् ॥ सम्प्रति वेदद्वारं संज्ञाद्वारं कषायद्वारं च व्याचिख्यासुराह—

चउरोऽवि तिविहवेए चउसुवि सन्नासु होइ पडिवत्ती । हिट्ठा जहा कसाएसु वन्निअं तहय इहयंपि ॥८१८॥

चत्वार्यपि सामायिकानि त्रिविधवेदे–स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे पूर्वप्रतिपन्नानि नियमतः संप्रति प्रतिपद्यमानानि च सम्भवन्तीति वाक्यशेषः, किमुक्तं भवति ?–त्रिविधेऽपि वेदे चतुर्णामपि सामायिकानां विवक्षितकाले पूर्वप्रतिपन्ना नियमेन विद्यन्ते, प्रतिपद्यमानकास्तु भाज्या इति, अवेदकः सम्यक्त्वसर्वविरतिसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो नियमेन लभ्यते, सयोगिकेवलिनां सदैव भावात्, श्रुतसामायिकस्य तु कदाचिल्लभ्यते कदाचिन्न, क्षीणवेदक्षपकसम्भवेऽवाप्यते, न शेषकालमिति भावः, प्रतिपद्यमानकस्तु त्रयाणामपि न सम्भवति, देशविरतिसामायिकस्य तूभयविकलः । द्वारं । तथा चतसृष्वपि संज्ञासु–आहा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

रभयमैथुनपरिग्रहरूपासु चतुर्विधस्यापि सामायिकस्य प्रतिपत्तिर्भवति, प्रतिपद्यमानकः सम्भवतीति भावः, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्त्येव । द्वारं । तथा अधो यथा 'पढमिल्लुगाण उदए नियमा संजोयणा कसायाण'मित्यादिना कषायेषु वर्णितं तथेहापि वर्णनीयम्, सङ्क्षेपार्थस्त्वयम्—सामान्येन कषायवान् चतुर्णामपि सामायिकानां पूर्वप्रतिपन्नो नियमादस्ति, प्रतिपद्यमानस्तु भाज्यः, अकषायी तु छद्मस्थवीतरागो देशविरतिवर्ज्जसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्नः कदाचिल्लभ्यते कदाचिन्न, उपशान्तमोहादीनामन्तरस्थापि भावात्, प्रतिपद्यमानकस्तु नैव, देशविरतिसामायिकस्य तूभयविकलः, सयोगिकेवल्यादिरकषायी सम्यक्त्वसर्वविरतिसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नो नियमतोऽस्ति, प्रतिपद्यमानको नैव, श्रुतदेशविरतिसामायिकयोरुभयविकलः, गतं द्वारत्रयम् । इदानीमायुर्ज्ञानरूपद्वारद्वयमभिधित्सुराह—

संखेज्जाऊ चउरो भयणा सम्मसुअऽसंखवासाणं । ओहेण विभागेण य नाणी पडिवज्जई चउरो ॥ ८१९ ॥

सङ्ख्येयायुर्मनुष्यश्चत्वारि सामायिकानि प्रतिपद्यमानः सम्भवति, प्रतिपन्नस्तु नियमादस्त्येवेति वाक्यशेषः, 'भयणा सम्मसुयसंखवासाण'मिति असङ्ख्यवर्षाणाम्—असङ्ख्येयवर्षाणामसङ्ख्येयवर्षायुषां सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः, असङ्ख्येयवर्षायुः प्रतिपद्यमानकः कदाचिल्लभ्यते कदाचिन्नेति, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमेन विद्यते, देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोस्तूभयविकलः । द्वारम् । 'ओहेणे'त्यादि, ओघेन—सामान्येन निश्चयनयमधिकृत्य ज्ञानी चत्वार्यपि सामायिकानि प्रतिपद्यते,व्यवहारनयमतेन त्वज्ञानी सम्यक्त्वश्रुतसामायिके देशविरतिसर्वविरतिसामायिके तु ज्ञानी, पूर्वप्रतिपन्नस्तु ज्ञानी चतुर्णामपि सामायिकानां नियमादस्ति, विभागेन यदा ज्ञानी चिन्त्यते तदा मतिश्रुतज्ञानी युगपत् सम्यक्त्वश्रुत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिके प्रतिपद्यते, देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोस्तु प्रतिपद्यमानको भजनया, पूर्वप्रतिपन्नकश्चतुर्णामपि, अवधिज्ञानी सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः पूर्वप्रतिपन्नस्तावन्नियमादस्ति, कदाचित् युगपत्प्रतिपद्यमानकोऽपि लभ्यते, यदा देवादिर्मिथ्यादृष्टिः भवतीति (मिथ्यादृष्टिः सन् सम्यग्दृष्टिर्भवति तदा सम्यक्त्वश्रुतसामायिकाभ्यां युगपदवधिज्ञानं लभते) देशविरतिसामायिकस्य तु प्रतिपद्यमानको न घटते, देशविरतिर्हि मनुष्यस्य तिरश्चो वा, सर्वदेशविरत्यादिगुणत एवावधिज्ञानं, प्रतिपन्नस्तु द्वयोरपि नियमादस्ति, मनःपर्यायज्ञानी देशविरतिरहितसामायिकत्रयस्य पूर्वप्रतिपन्न एव, न तु प्रतिपद्यमानकः, युगपद्वा सह तेन चारित्रं प्रतिपद्यते तीर्थकृत्, उक्तं च–"पडिवन्नम्मि चरित्ते, चउनाणी जाव छउमत्था"। भवस्थकेवली सम्यक्त्वचारित्रयोः पूर्वप्रतिपन्नो, न प्रतिपद्यमानकः, श्रुतदेशविरतिसामायिकयोरुभयविकलः, सिद्धकेवली सम्यक्त्वसामायिकस्य पूर्वप्रतिपन्नो, न प्रतिपद्यमानकः, इतरसामायिकत्रयस्य पुनर्न प्रतिपन्नो(द्यमानो), नापि पूर्वप्रतिपन्नः । साम्प्रतं योगोपयोगशरीरद्वाराणि प्रतिपादयन्नाह—

चउरोऽवि तिविह जोए उवओगदुगम्मि चउर पडिवज्जे। ओरालिए चउक्कं सम्मसुअ विउव्विए भयणा ॥८२०॥

चत्वार्यपि सामायिकानि सामान्यतस्त्रिविधे योगे–मनोवाक्कायलक्षणे प्रतिपत्तिमाश्रित्य विवक्षिते काले सम्भवन्ति, प्राक्प्रतिपन्नतां त्वधिकृत्य विद्यन्ते एव, विशेषचिन्तायामौदारिककाययोगवति योगत्रये चत्वार्यपि सामायिकानि पूर्वप्रतिपन्नानि नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानानि तु भाज्यानि, वैक्रियकाययोगवति सम्यक्त्वश्रुते पूर्वप्रतिपन्ने नियमतः, प्रतिपद्यमानके भाज्ये, देशविरतिसर्वविरतिसामायिके तु प्रतिप[illegible]माने न स्तः, पूर्वप्रतिपन्ने तु स्यातामपि, यथा अम्बडश्रावकविष्णुकुमारप्रभृतीनाम्,

आ. सू. ७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारककाययोगवति देशविरतिरहितानि त्रीणि सामायिकानि पूर्वप्रतिपन्नानि नियमतः सन्ति, प्रतिपद्यमानानि नैव, देशविरतिसामायिकं तु नोभययथापि, तैजसकार्म्मणकाययोगे केवलेऽपान्तरालगतावाद्यसामायिकद्वयं प्राक्प्रतिपन्नतामधिकृत्य भाज्यं, प्रतिपद्यमानं तु नास्ति, केवलिसमुद्घाते पुनः सम्यक्त्वचारित्रसामायिके प्राक्प्रतिपन्ने नियमतो विद्येते, प्रतिपद्यमाने तु न स्तः, देशविरतिसामायिकं तूभयविकलं, मनोयोगे केवले न किञ्चित्, तस्यैवाभावात्, एवं वाग्योगेऽपि, काययोगेऽपि केवले न किञ्चित्, 'उभयाभावो पुढवाइएसु' इति वचनात्, कायवाग्योगद्वये तु सम्यक्त्वश्रुते प्राक्प्रतिपन्नतामधिकृत्य भवेतां, द्वीन्द्रियादिषु जन्मकाले सास्वादनसम्यक्त्वसम्भवात्, प्रतिपद्यमाने तु न स्तः, देशविरतिसर्वविरतिसामायिके उभयविकले । द्वारम् । 'उवयोगदुगंमि चउरो पडिवज्जे' इति साकारानाकाररूपे उपयोगद्वये प्रत्येकं चत्वार्यपि सामायिकानि प्रतिपद्यमानानि सम्भवन्ति, प्राक्प्रतिपन्नानि नियमतः, आह–'सवातो लद्धीओ सागारोवयोगोवउत्तस्स भवंती'-त्यागमवचनादनाकारोपयोगे सामायिकलब्धिविरोधः, नैष दोषः, तस्यागमवचनस्य प्रवर्द्धमानपरिणामजीवविषयत्वात्, अवस्थितौपशमिकपरिणामापेक्षया चानाकारोपयोगेऽपि सामायिकलब्धिप्रतिपादनमविरुद्धं, तथाहि–अंतरकरणे चतस्रोऽपि सामायिकलब्धयो वर्ण्यन्ते, तस्मिंश्चान्तरकरणे औपशमिकः परिणामोऽवस्थितो, वृद्धिहान्यसम्भवात्, मिथ्यात्वोदयाभावाद्धि न परिणामस्य हानिः, सम्यक्त्वपुद्गलोदयाभावाच्च न वृद्धिः, ततः सोऽवस्थितपरिणामः सन् सम्भवत्यनाकारोपयोगेऽपि लभमानः सामायिकचतुष्टयमिति, आह च भाष्यकृत्–सवातो लद्धीतो जइ सागारोवयोगभावम्मि । इह कह-मुवयोगदुगे लब्भइ सामाइयचउक्कं ?॥ २७३१-३०८९ विशे० ॥ सो किर नियमो परिवड्ढमाणपरिणामयं पइ इहं तु । जोऽव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वियपरिणामो लभेज्ज स लभेज्ज बीएऽवि ॥ २७३२ ॥ उपयोगेऽनाकाररूपे इति शेषः। पायं पवद्धमाणो लभए सागारगहणया तेण । इयरो उ जइच्छाए उवसमसम्माइलाभंमि ॥ २७३३ ॥ जं मिच्छस्साणुदओ न हायए तेण तस्स परिणामो । जं पुण सयमुवसंतं न वद्धए तेण परिणामो ॥ २७३४ ॥ (विशेषा०) इति द्वारम् । 'ओरालिए'इत्यादि, औदारिके शरीरे सामायिकचतुष्कं पूर्वप्रतिपन्नं नियमतो लभ्यते, प्रतिपद्यमानकं तु भाज्यं, सम्यक्त्वश्रुतयोर्वैक्रियशरीरे भजना, प्रतिपत्तिमङ्गीकृत्य देवादिः कदाचित्ते प्रतिपद्यते, कदाचिन्नेति, पूर्वप्रतिपन्नकस्तु नियमादस्ति, देशविरतिसर्वविरतिसामायिकयोः पुनः पूर्वप्रतिपन्नः कदाचिच्चारणश्रमणादेः सम्भवात्, प्रतिपद्यमानकस्तु नैव, वैक्रियप्रवृत्तौ प्रमादभावात्, शेषशरीरविचारो योगद्वारानुसारतो भावनीयः ॥ सम्प्रति संस्थानादिद्वारत्रयप्रतिपादनार्थमाह—

सव्वेसुवि संठाणेसु लहइ एमेव सव्वसंघयणे । उक्कोसजहन्नं वज्जिऊण माणं लभे मणुओ ॥ ८२१ ॥

संस्थानं समचतुरस्रादि षोढा तेषु सर्वेष्वपि संस्थानेषु लभते–प्रतिपद्यते चत्वार्यपि सामायिकानि, चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपत्ता सम्भवतीति प्राक्प्रतिपन्नो नियमादस्ति, 'एवमेव सव्वसंघयणे' एवमेव सर्वसंहननविषयो विचारो वेदितव्यः, षट्स्वपि वज्रर्षभनाराचादिषु संहननेषु चतुर्णामपि सामायिकानां प्रतिपत्ता विवक्षिते काले भाज्यः, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति। 'उक्कोसजहन्नं वज्जिऊण माणं लभे मणुओ' इति मीयते इति मानं–शरीरस्यावगाहना तत् जघन्यम्–अङ्गुलासङ्ख्येयभागलक्षणम् उत्कृष्टं–त्रिगव्यूतप्रमाणं वर्जयित्वा मध्यमे शरीरमाने वर्त्तमानो मनुजो लभते–प्रतिपद्यमानः सम्भवति, चत्वारि सामायिकानीति प्रक्रमाद्गम्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति, जघन्यावगाहनायां पुनर्वर्त्तमानो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गर्भजमनुष्यः सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नः सम्भवति, नतु प्रतिपद्यमानकः, उत्कृष्टावगाहनस्तु त्रिगव्यूतप्रमाणः सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नः नियमादस्ति, प्रतिपद्यमानस्तु भाज्यः, देशविरतिसर्वविविरतिसामायिकयोस्तु द्वावपि जघन्योत्कृष्टावगाहनावुभयविकलौ, नारकदेवा अपि जघन्यावगाहनाः सम्यक्त्वश्रुतयोः पूर्वप्रतिपन्नाः सम्भवन्ति, नतु प्रतिपद्यमानकाः, मध्यमावगाहना उत्कृष्टावगाहनाश्च पूर्वप्रतिपन्ना नियमतः, प्रतिपद्यमानकाः सम्भवास्पदं, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः जघन्यावगाहनाः सम्यक्त्वश्रुतयोः सम्भविनः, प्रतिपद्यमानकास्तु नैव, मध्यमावगाहना उत्कृष्टावगाहनाश्च यथासङ्ख्यं त्रयाणां सर्वविरतिवर्ज्जानां द्वयोः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः प्रतिपद्यमानकाः सम्भविनः, पूर्वप्रतिपन्ना नियोगतः। गतं द्वारत्रयम्, अधुना लेश्याद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मत्तसुअं सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु अ चरित्तं। पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए ॥ ८२२ ॥

सम्यक्त्वं च श्रुतं चेत्येकवद्भावः सम्यक्त्वश्रुतसामायिके कृष्णादिकासु शुक्लान्तासु षट्सु लेश्यासु लभते, प्रतिपद्यमानः सम्भवतीति भावः, चारित्रं पुनर्देशविरतिलक्षणं सर्वविरतिलक्षणं वा शुद्धासु तेजःप्रभृतिष्वेव, चशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, लभते इति वर्त्तते, एवं प्रतिपद्यमानकमधिकृत्य लेश्याद्वारं निरूपितम्, अधुना प्राक्प्रतिपन्नमधिकृत्याह–'पुव्वपडिवन्नतो' इत्यादि, पूर्वप्रतिपन्नकः पुनरन्यतरस्यां लेश्यायां कृष्णाद्यभिधानायां भवति, आह–मतिश्रुतज्ञानलाभचिन्तायां शुद्धासु तिसृषु तेजःप्रभृतिषु प्रतिपद्यमानक उक्तः, ततः कथमिदानीं सर्वास्वभिधीयमानः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकयोः प्रतिपत्ता न विरुध्यते ? इति, उक्तं च–"नणु मइसुयाइलाभोऽभिहितो सुद्धासु तीसु लेसासु। सुद्धासु असुद्धासु य कहमिह सम्मत्तसु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यलाभो ? ॥ १ ॥" (२१४१ विशे.) अत्रोच्यते–प्राक् लेश्याद्रव्यसाचिव्यजनितात्मपरिणामरूपां भावलेश्यामधिकृत्य मतिश्रुतज्ञानलाभ उक्तः, ततः स तेजःप्रभृतिष्वेव लेश्यासु घटते, इह त्ववस्थितकृष्णादिद्रव्यरूपां द्रव्यलेश्यामधिकृत्य सम्यक्त्वश्रुतयोः प्रतिपद्यमानक उक्तः, ततः स कृष्णादिष्वपि लेश्यासु घटते, कृष्णादिद्रव्यरूपद्रव्यलेश्यायामवस्थितायामपि तेजोलेश्यादिद्रव्यसम्पर्कतः प्रतिभागादिमात्रभावेन तेजोलेश्यादिपरिणामसम्भवतो विरोधाभावात्. तथाहि–सप्तमपृथिवीनैरयिकादेराभवमवस्थितास्वपि कृष्णादिद्रव्यलेश्यासु तेजोलेश्यादिद्रव्यसम्पर्कतः स्वस्वाकारभावमात्रमुपजायते, उक्तं च प्रज्ञापनायाम्–'से णूणं कण्हलेसा नीललेसं पप्प नो तारूवत्ताए नो तावन्नत्ताए नो तारसत्ताए नो ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ ?, हंता गोयमा ! किण्हलेसा नीललेसं पप्प जाव नो परिणमइ, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ किण्हलेसा नीललेसं पप्प जाव नो परिणमइ ?, गोयमा ! आगारभावमायाए वा से सिया पलिभागमायाए वा से सिया, कण्हलेसा णं सा, नो खलु नीललेसा, तत्थ गया उस्सक्कइ, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ किण्हलेसा नीललेसं पप्प जाव नो परिणमइ" अत्र आकार एव भाव आकारभावः, आकारभाव एवाकारभावमात्रा, मात्राशब्दः खल्वाकारभावव्यतिरिक्तप्रतिबिम्बादिधर्म्मान्तरप्रतिषेधवाचकः, तेन आकारभावमात्रयाऽसौ स्यान्नीललेश्या, नतु तत्स्वरूपापत्तितः, तथा प्रतिरूपो भागः प्रतिभागः, प्रतिबिम्बमित्यर्थः, प्रतिभाग एव प्रतिभागमात्रा, अत्र मात्राशब्दो वास्तवपरिणामप्रतिषेधवाचकः, तया प्रतिभागमात्रयाऽसौ नीललेश्या स्यात् नतु तत्स्वरूपतः, स्फटिक इवोपधानवशादुपधानरूप इति दृष्टान्तः, ततः स्वरूपेण कृष्णलेश्येवासौ, न नीललेश्या, किं तर्हि ?, तत्र गता उत्सर्पति, तत्र गता–तत्रस्था तत्स्वरूपस्था इत्यर्थः, नीललेश्यादिकं

Jain Education Intern... For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्यान्तरं प्राप्य उत्सर्प्पति–आकारभावं प्रतिबिम्बभावं वा नीललेश्यादिसम्बन्धिनमासादयति, 'एवं नीललेसा काउलेसं पप्प जाव नीललेसा णं सा, नो खलु काउलेसा तत्थ गया उस्सक्कइ वा ओसक्कइ वा' तत्र गता उत्सर्प्पतीति, किमुक्तं भवति?-स्वरूपस्थैव सती आकारभावं प्रतिभागं च कापोतलेश्यासम्बन्धिनमासादयतीति, अवसर्प्पति चेति नीललेश्यैव सती च कृष्णलेश्यां प्राप्य तदाकारभावमात्रमासादयति, 'एवं काउलेसा तेउलेसं पप्प तेउलेसा पम्हलेसं पप्प पम्हलेसा सुक्कलेसं पप्प' भावार्थः सर्वत्रापि प्राग्वत्, एवं किण्हलेसा नीललेसं पप्प किण्हलेसा काउलेसं पप्प एवं जाव सुक्कलेसं पप्प एवमेकेकी सवाहिं चारिज्जइ' इति, कृष्णादिद्रव्यलेश्यानां च तेजोलेश्यादिद्रव्यसम्पर्कतस्तदाकारभावादिमात्रोपपत्तौ तेजोलेश्यादि-परिणामहेतुतोपजायते, तेजोलेश्यादिपरिणामे च सम्यक्त्वादिलाभ इति सप्तमपृथिवीनैरयिकादेरपि सम्यक्त्वादिलाभो भावरूपां लेश्यामधिकृत्य तेजःप्रभृतिष्वेव लेश्यासु द्रव्यलेश्यामधिकृत्य कृष्णादिकास्वपि, ततः प्राक् मतिश्रुतज्ञानलाभो भावलेश्यामधिकृत्य तेजोलेश्यादिषु इह तु सम्यक्त्वादिलाभो द्रव्यलेश्यामपेक्ष्य कृष्णादिष्वप्यभिधीयमानो न विरुद्ध इति ॥

सम्प्रति परिणामद्वारप्रदर्शनार्थमाह—

वड्ढंते परिणामे पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं । एमेव वहिअम्मिवि हायंति न किंचि पडिवज्जे ॥ ८२३ ॥

परिणामः–अध्यवसायविशेषः तस्मिन् शुभशुभतररूपतया वर्द्धमानपरिणामे प्रतिपद्यते, स वर्द्धमानपरिणामो जीवश्चतुर्णां सम्यक्त्वादिसामायिकानामन्यतरत् सामायिकं 'एवमेव' पूर्वोक्तन्यायेनान्तरकरणावस्थितेऽपि शुभे परिणामे चतुर्णामन्यतरत् सामायिकं प्रतिपद्यते, 'हायन्ते न किंचि पडिवज्जे' इति हायमाने–परिभ्रंशमुपगच्छति शुभे परिणामे न किञ्चित्प्रति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद्यते सामायिकं, सङ्क्लिष्टाध्यवसायत्वात्, प्राक्प्रतिपन्नस्तु त्रिष्वपि परिणामेषु चतुर्णामपि सामायिकानां भवतीति। सम्प्रति वेदनाद्वारं समुद्घातक्रियाद्वारं च प्रतिपिपादयिषुराह—

दुविहाइ वेअणाए पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं। असमोहओवि एमेव पुव्वपडिवन्नए भयणा ॥ ८२४ ॥

द्विविधायामपि सातासातरूपायां वेदनायां सत्यां प्रतिपद्यते स जीवश्चतुर्णामपि सामायिकानामन्यतरत् सामायिकं, प्राक्प्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति, 'असमोहतोऽवि एवमेव'त्ति असमवहतोऽपि वेदनादिसमुद्घातरहितोऽपि एवमेव—पूर्वोक्तन्यायेन वेदितव्यः, सोऽपि चतुर्णां सामायिकानामन्यतरत् सामायिकं प्रतिपद्यमानः संभवति, प्राक्प्रतिपन्नस्तु नियमाद्विद्यत इत्यर्थः, समवहतस्तु केवलिसमुद्घातादिना सप्तविधसमुद्घातेन न किञ्चित्प्रतिपद्यते, किन्तु 'पुव्वपडिवन्नए भयणा' इति पूर्वप्रतिपन्नके समवहते विचारयितुमारब्धे भजना—समर्थना कार्या, यथा समवहंता सामायिकद्वयस्य त्रयस्य वा प्राक्प्रतिपन्नो लभ्यते, तत्र केवलिसमुद्घाते सम्यक्त्वचारित्रसमायिकद्वयस्य पूर्वप्रतिपन्नकः, शेषसमुद्घातेषु पुनः सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयस्य यदिवा सम्यक्त्वश्रुतदेशविरतिसामायिकत्रयस्य अथवा सम्यक्श्रुतसर्वविरतिसामायिकत्रयस्येति, समुद्घातश्च सप्तविधो, यतोऽन्यत्रोक्तं—"केवलिकसायमरणे वेयणा विउव्वितो य आहारे। सत्तविह समुग्घातो पण्णत्तो वीयरागेहिं ॥ १ ॥" गतं द्वारद्वयम्। अधुना निर्वेष्टनद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

दव्वेण य भावेण य निव्वेढिंतो चउण्हमन्नयरं। नरएसु अणुव्वट्टे दुग तिग चउरो सिउव्वट्टे ॥ ८२५ ॥

निर्वेष्टनं द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कर्मप्रदेशविसंघातरूपं, भावतः क्रोधादिहानिलक्षणं, तत्र सर्वमपि कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधिता मुनि दीपरत्नसागरेण संकलिता आगमसूत्र [४०], मूलसूत्र [१] आवश्यकनिर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिरचिता वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]

निर्वेष्टयन् चत्वार्यपि सामायिकानि लभते, विशेषतस्तदावरणं, तत्र ज्ञानावरणं निर्वेष्टयन् श्रुतसामायिकमाप्नोति, मोहनीयं तु निर्वेष्टयन् शेषत्रयमिति, भावतस्तु क्रोधाध्यवसायान् निर्वेष्टयन् चतुर्णामन्यतरत् प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्त्वस्त्येव, संवेष्टयंस्त्वनन्तानुबन्ध्यादीन् न किञ्चित्प्रतिपद्यते, शेषकर्म्म त्वङ्गीकृत्योभयथापि ॥ गतं निर्वेष्टनद्वारमुद्वर्त्तनाद्वारमधुना–'नरएसु अणुव्वट्टे' इत्यादि, नरकेष्वधिकरणभूतेषु अनुद्वर्त्तयन्, तत्रस्थ एवेत्यर्थः, पाठान्तरम्–'नरयाओ अणव्वुट्टे' इति तत्र नरकादनुद्वर्त्तयन्, तत्रैव स्थितः सन्निति भावः, दुगंति आद्यसामायिकद्वयं प्रतिपद्यते, तदेवाधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नोऽप्यस्ति, ततः उद्वृत्तस्तु कदाचित् तिर्यक्षूत्पन्नः सर्वविरतिवर्ज्जं सामायिकत्रिकं प्रतिपद्यते, मनुष्येषूत्पन्नश्चतुष्टयमपि ॥

तिरिएसु अणुव्वट्टे तिगं चउक्कं सिआ य उव्वट्टे । मणुएसु अणुव्वट्टे चउरो ति दुगं तु उव्वट्टे ॥ ८२६ ॥
देवेसु अणुव्वट्टे दुगं चउक्कं सिआ य उव्वट्टे । उव्वट्टमाणओ पुण सव्वोऽवि न किंचि पडिवज्जे ॥ ८२७ ॥

तिर्यक्षु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु संज्ञिषु अनुद्वृत्तः सन् त्रिकम्–आद्यं सामायिकत्रयमधिकृत्य प्रतिपत्ता लभ्यते, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति, 'चउक्कं सिया उ उव्वट्टे' इति उद्वृत्तो–मनुष्यादिष्वायातः सन् स्यात्–कदाचिच्चतुष्कं, स्याद्ग्रहणादिदमपि द्रष्टव्यं–स्यात्त्रिकं स्याद्, द्विकमधिकृत्योभयथापि भवतीति, 'मणुएसु अणुव्वट्टे चउरो' इति मनुष्येष्वनुद्वृत्तः सन् चत्वारि प्रतिपद्यमानः सम्भवति, उपलक्षणमेतत् त्रीणि द्विकं वा, प्राक्प्रतिपन्नस्तु विकल्पत्रयेऽपि नियमादस्ति, 'ति दुगं तु उव्वट्टे' इति मनुष्येभ्य उद्वृत्तस्तिर्यग्नरामरेष्वायातस्त्रीणि द्विकं वाऽधिकृत्योभयथापि भवति, किमुक्तं भवति ?–देवनारकेषूत्पन्न आद्यं सामायिकद्वयमधिकृत्य प्रतिपद्यमानः पूर्वप्रतिपन्नो वा लभ्यते, तिर्यक्षु पुनरुत्पन्नः सर्वविरतिवर्ज्जसामायिकत्रयम-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धिकृत्योभयथापि भवतीति, देवेष्वनुद्वृत्तः सन् प्रथमं सामायिकद्वयमाश्रित्य प्रतिपद्यमानकः सम्भवति, पूर्वप्रतिपन्नस्तु नियमादस्ति, 'चउक्कं सिया उ उव्वट्टे' इति देवेभ्य उद्वृत्तः सन् चतुष्कमाश्रित्योभयथापि लभ्यते, स्यात्शब्दग्रहणात् त्रिकं द्विकं च, इयमत्र भावना–देवेभ्य उद्वृत्तः सन् तिर्यश्वायातः प्रथमं सामायिकत्रिकं द्विकं वा प्रतिपद्यमानः प्राक्-प्रतिपन्नश्च लभ्यते, मनुष्येष्वायातः सामायिकचतुष्टयमपीति, उद्वर्त्तमानकः पुनरपान्तरालगतौ सर्वोऽप्यमरादिः न किञ्चित्प्र-तिपद्यते, प्राक्प्रतिपन्नस्त्वाद्ययोः सामायिकयोर्लभ्यते ॥ आश्रवकरणद्वारमाह—

नीसवमाणो जीवो पडिवज्जइ सो चउण्हमन्नयरं। पुवपडिवन्नओ पुण सिअ आसवओ व नीसवओ ॥८२८॥

यत् सम्यक्त्वादिसामायिकं प्रतिपद्यते तदावारकं कर्म्म मिथ्यात्वमोहनीयादिकं निश्रावयन्–निर्जरयन् शेषकर्मानुव-भन्नपि जीवः प्रतिपद्यते चतुर्णामन्यतरत्, किमुक्तं भवति?–चत्वार्यपि यथायोगमेवं प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नकः पुनः स्यादाश्रवको वा–बन्धकः निःश्रावको वा–निर्जरकः, वाशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्धः, आह–निर्वेष्टनद्वारादस्य कः प्रतिवि-शेषः?, उच्यते, निर्वेष्टनं नाम कर्म्मप्रदेशविसङ्घातरूपं, ततोऽनेन क्रियाकालो गृहीतः, निःश्रवणं तु निर्जरा, ततोऽनेन निष्ठा-कालो गृहीत इति भेदः, अथवा प्राक् संवेष्टनवक्तव्यताऽर्थतोऽभिहिता, इह तु साक्षादिति ॥ साम्प्रतमलङ्कारशयनासन-चङ्क्रमणद्वारकदम्बकं व्याचिख्यासुराह—

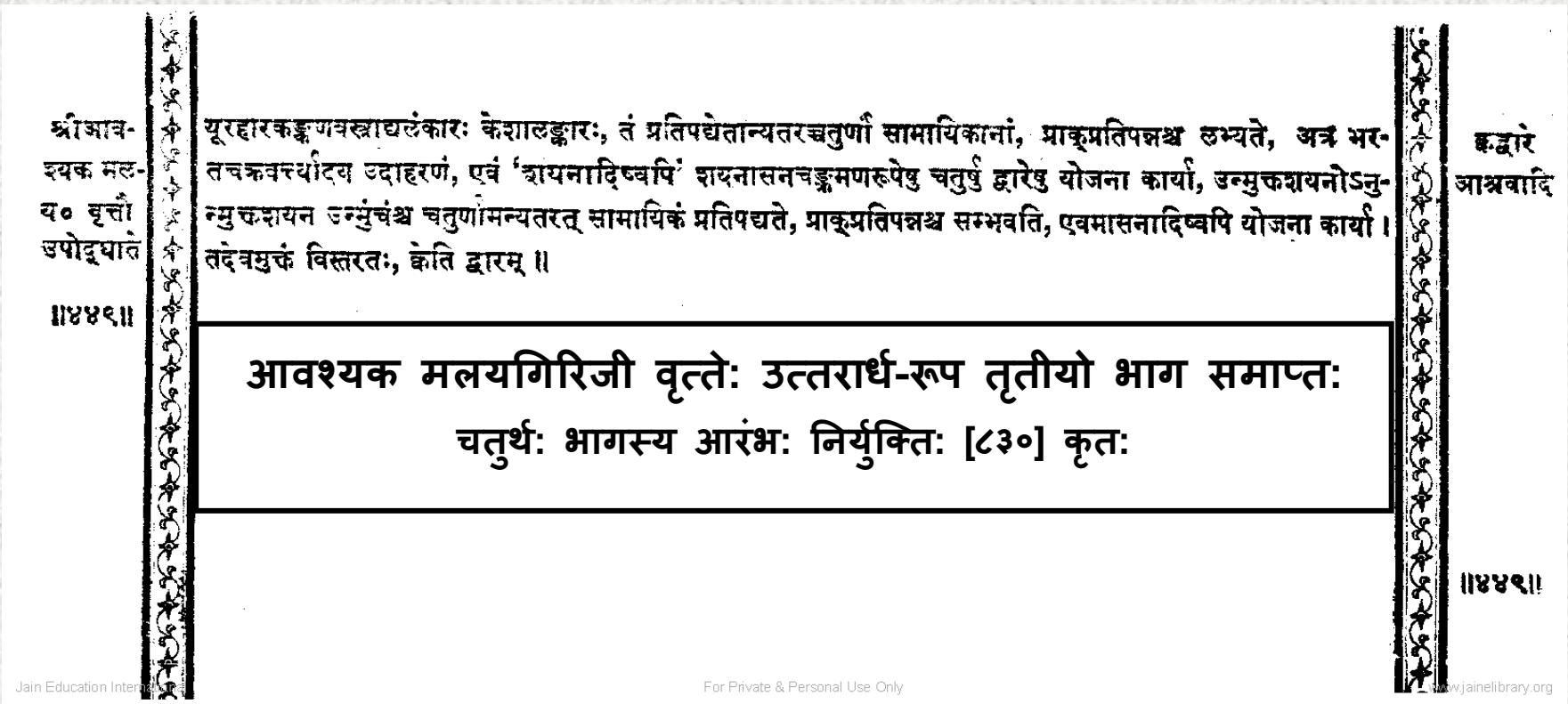
उम्मुक्कमणुम्मुक्के उम्मुचंते य केसअलंकारे। पडिवज्जेज्जऽन्नयरं सयणाईसुंपि एमेव ॥ ८२९ ॥

उन्मुक्ते–परित्यक्ते अनुन्मुक्ते–अपरित्यक्ते, अनुस्वारोऽलाक्षणिकः, उन्मुंचंश्च केशालङ्कारं–केशोपलक्षितः कटकके-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]



श्रीआव-श्यक मल-य० वृत्तौ उपोद्घाते ॥४४९॥

यूरहारकङ्कणवस्त्राद्यलंकारः केशालङ्कारः, तं प्रतिपद्येतान्यतरच्चतुर्णां सामायिकानां, प्राक्प्रतिपन्नश्च लभ्यते, अत्र भरतचक्रवर्त्युदय उदाहरणं, एवं 'शयनादिष्वपि' शयनासनचङ्क्रमणरूपेषु चतुर्षु द्वारेषु योजना कार्या, उन्मुक्तशयनोऽनुन्मुक्तशयन उन्मुंचंश्च चतुर्णामन्यतरत् सामायिकं प्रतिपद्यते, प्राक्प्रतिपन्नश्च सम्भवति, एवमासनादिष्वपि योजना कार्या। तदेवमुक्तं विस्तरतः, केति द्वारम् ॥

आवश्यक मलयगिरिजी वृत्ते: उत्तरार्ध-रूप तृतीयो भाग समाप्त:

चतुर्थ: भागस्य आरंभ: निर्युक्ति: [८३०] कृत:

द्वारे आश्रवादि

॥४४९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

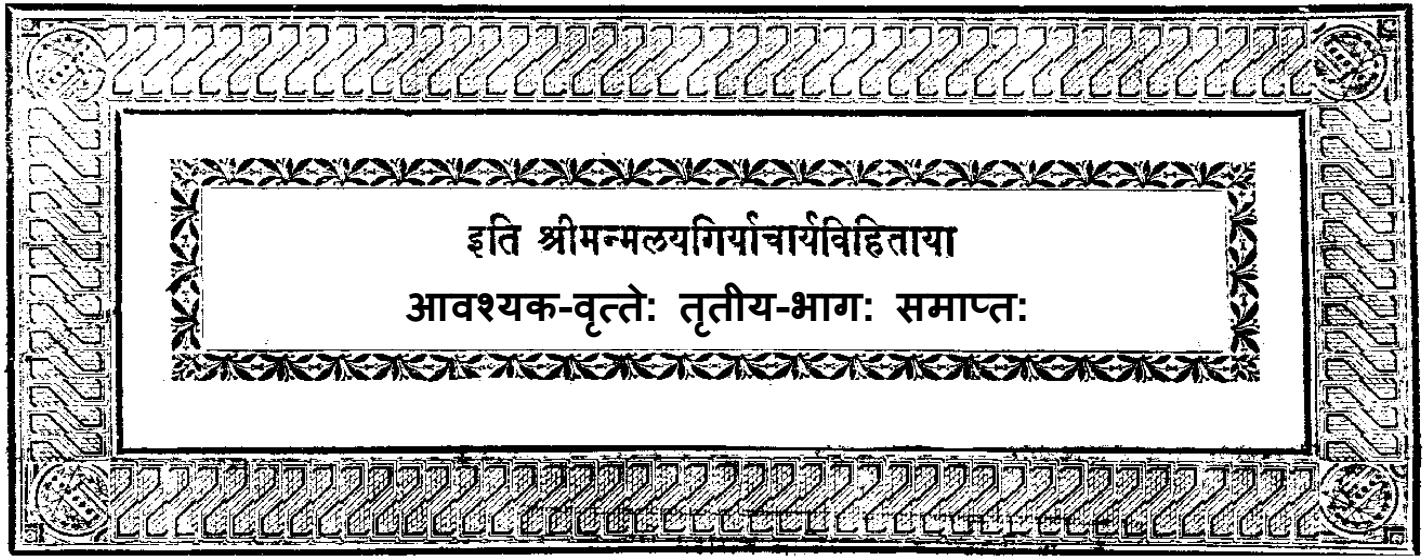
आवश्यक- मूलसूत्र- [४०/३] निर्युक्ति एवं मलयगिरिसूरिजी रचिता टीका परिसमाप्ता:

मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com.,M.Ed.,Ph.D.,श्रुतमहर्षि]

प्रत सूत्रांक [-]

दीप अनुक्रम [-]



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

भाग-5

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

"आवश्यक-मूलसूत्र" [निर्युक्ति: एवं मलयगिरिसूरिजी-रचिता वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"आवश्यक" निर्युक्ति: एवं वृत्ति:" नामेण परिसमाप्त:

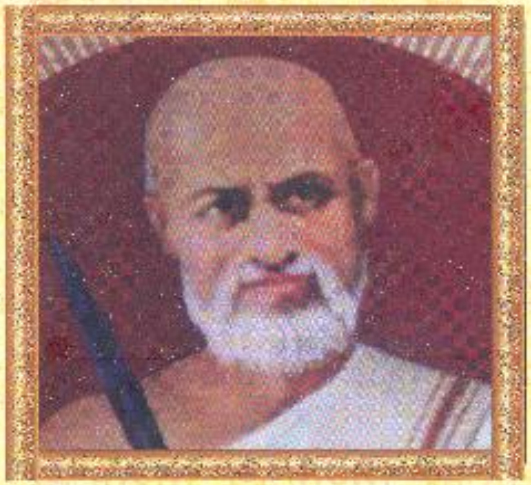
'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि-2' श्रेणि, भाग-5


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

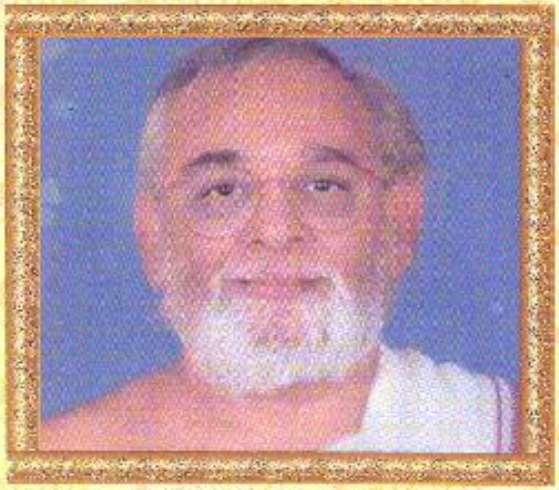
सवृत्तिक-आगम-सूत्राणि-2

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

सच्चारित्र चूडामणि स्वर्गस्थ पूज्यपाद
गच्छाधिपति आचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागर
सूरीश्वरजी महाराज साहेब

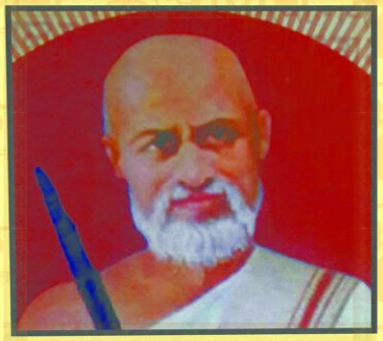


श्री परम आनंद श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ

वीतराग सोसायटी, प्रभूदास ठक्कर कोलेज रोड, पालडी, अमदावाद

करीब पचास साल पहेले परम पूज्य स्व र्गस्थ गच्छाधिपति आचार्य देव श्रीमद् देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब द्वारा संस्थापित इस संघमें श्री शीतलनाथ भगवंत का जिनालय भी है, जिन के प्रतिष्ठाचार्य भी पूज्य देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी म० ही है |

इस संघमें पूज्य साधू -भगवंत एवं साध्वी -महाराज के लिए उपाश्रय भी है, जहां हर-साल चातुर्मास करवा के श्रावक-श्राविकाओ को धर्म-आराधन से लाभान्वित करवाया जाता है | इस संघमें आयंबिलभवन, उबाला हुआ पानी, ज्ञान-भण्डार एवं पाठशाला की भी बहोत अच्छी सुविधा प्रदान हो रही है | ऐसे सम्यग्-मार्गी संघ की सद्भावना और प्रभावक आचार्य पूज्य श्री हर्षसागरसूरिजी म० की प्रेरणा से इस शास्त्र के लिए अनुदान प्राप्त हुआ है |



मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम - ४०

"आवश्यक" निर्युक्तिः एवं वृत्तिः [३]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

